श्रीमद्भागवत महापुराण में विष्णु का स्वरूप एवं वैष्णव सिद्धान्त

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच०डी०
उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

वर्ष २००७

शोधार्थिनी

श्रीमती सुमन शर्मा

ललितपुर

निर्देशक

डॉ० ओम प्रकाश शास्त्री

उपाचार्य एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष

नेहरू महाविद्यालय

ललितपुर (उ०प्र०)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झांसी उ०प्र०

।। ॐ दुर्गायै नमः ।।

"संस्कृतं भारतस्य राष्ट्र भाषा भवेत्"

नेहरू महाविद्यालय, ललितपुर

(सम्बद्ध—बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय—झांसी)

डॉ0 ओमप्रकाश शास्त्री
एम.ए. पी.एच.डी.
नव्य व्याकरणाचार्य लब्ध स्वर्ण पदक
उपाचार्य एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष

आवास :108, अवधकुटी, आजादपुरा
ललितपुर (उ0प्र0)
दूरभाष : (05176) 274032 आवास
मोबाइल : 09415509588

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती सुमन शर्मा ने मेरे निर्देशन में ''श्रीमद्भागवत महापुराण में विष्णु का स्वरूप एवं वैष्णव सिद्धान्त'' विषय पर यह शोध प्रबन्ध पूर्ण किया है। यह शोध प्रबन्ध इनकी मौलिक दृष्टि और सतत् अध्यवसाय का प्रतिफल है।

मेरी दृष्टि में यह शोध प्रबन्ध गम्भीर गवेषणापूर्ण एवं विद्या वाचस्पति (पी—एच0डी0) उपाधि के लिये सर्वथा समर्पण योग्य है।

अतएव शोध प्रबन्ध संस्तुति सहित प्रेषित है।

ओमप्रकाश शास्त्री

दिनांकः— 3|9|2006

(डॉ0 ओमप्रकाश शास्त्री)
उपाचार्य एवं संस्कृत विभागाध्यक्ष
नेहरू महाविद्यालय
ललितपुर

आत्मिकी

भारतीय संस्कृति में इस विशाल तथा अनन्त विश्व ब्रह्माण्ड रूप रंगमण्डप के आयोजन में तीन नायकों की अपेक्षा हुई है–

प्रथम है सृष्टिकर्ता, द्वितीय है स्थितिकर्ता और तृतीय है उपसंहृतकर्ता, इन्हीं तीनों रूपों से इस अनन्त विश्व का अभिनय निरन्तर सम्पन्न होता रहता है, और इन्हीं तीन नायकों का क्रमिक अभिधान है, ब्रह्मा, विष्णु और शिव। ब्रह्मा रजोगुण का आश्रय लेकर सृष्टि करते हैं, विष्णु सत्वगुण से कल्पान्त पर्यन्त युग–युग में रचित सृष्टि की रक्षा करते हैं, और कल्पान्त में शिव तमः प्रधान रूद्र रूप से विश्व को संहृत कर लेते हैं।

जुषन् रजोगुण तत्र स्वयं विश्वेश्वो हरिः,
ब्रह्मा भूत्वास्य जगतोः विसृष्टः सम्प्रवर्तते।
सृष्टं च पात्यनुयुगं यावत्कल्पविकल्पना,
सत्वभृद्भगवान्विष्णुर प्रमेय पराक्रमाः।।

किन्तु श्रीमद्भागवत पुराण की घोषणा है कि एकमात्र विष्णु ही स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता, इन तीन नायकों का व्यापार एकाकी ही सम्पन्न करते हैं, स्वेतर अभिनेता के सहयोग की अपेक्षा नहीं करते–

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवात्मिकाम्,
स संज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दनः।

विष्णु सबके आत्मरूप एवं सकलभूतों में विद्यमान हैं, इसलिये उन्हें वासुदेव कहा जाता है–

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।
भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः।।

जो भूताधिपति पहले हुए हैं और जो आगे होंगे वे सभी सर्वभूत भगवान विष्णु के अंश हैं। विष्णु के प्रधान चार अंश हैं। एक अंश से वे अव्यक्त रूप ब्रह्मा होते हैं, दूसरे अंश से मरीचि आदि प्रजापति होते हैं, तीसरे अंश काल हैं और चौथा सम्पूर्ण प्राणी। इस प्रकार वे चार तरह से सृष्टि में स्थित हैं। शक्ति के तथा सृष्टि के इन चारों आदि कारणों के प्रतीक भगवान विष्णु सर्वशक्तिमान हैं।

श्रीमदभागवत पुराण ही एक ऐसा धर्मग्रन्थ है, जिसमें पंचलक्षण रूप की परिभाषा घटित होती है। सृष्टि, निर्माण, प्रलय, ऋषि और मुनियों के वंश का इतिवृत्त, राजाओं

और पौराणिक व्यक्तियों के उपाख्यान एवं धर्म के विविध अंगों का निरूपण इस पुराण में किया गया है। प्रसंगवश स्वर्ग–नर्क, भूलोक, भुवलोक, चतुदर्श विद्याएँ, विभिन्न प्रकार के उपदेश आदि भी इस ग्रन्थ में प्रतिपादित हैं।

अतः आवश्यक हो जाता है कि विष्णु के स्वरूप, वैष्णवों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया जाय और इसी कड़ी में यह शोध कड़ी में यह शोध प्रबन्ध मेरा भागीरथ प्रयास है।

मेरा कुल प्रारम्भ से ही वैष्णव सम्प्रदायी रहा है, और मेरे तपोमूर्ति माता–पिता श्रीमती सुशीला एवं श्री चन्द्र शेखर उदैनिया पंचदेवोपासक होते हुए विशिष्ट रूप से भागवत वैष्णव हैं तथा रामायण, महाभारत, भागवत पुराण के अनन्य प्रेमी हैं। उन्हीं के अवाचनिक पर मानसिक अभिलाषामय आदेश से मैंने उन्हीं के तृप्ति के लिये विष्णु से सम्बन्धित पुराण एवं भागवत् के गहन अध्ययन पर अनवरत प्रयासरत् रही हूँ।

मेरी स्नातकोत्तर शिक्षा संस्कृत रूपी कल्पवृक्ष प्रातः स्मरणीय **गुरूवर डा0 ओमप्रकाश शास्त्री** उपाचार्य संस्कृत विभागाध्यक्ष (नेहरू स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, ललितपुर) के आश्रय में हुई। इन्हीं पूज्यवाद गुरू के आशीर्वादमयी शुभकामना से परास्नातक कक्षा उत्तीर्ण होते ही अनुक्षण मेरा शोध कार्य प्रारम्भ हो गया।

मेरी बाल्यकाल से चलायमान जिज्ञासा को देखते हुए इन्होंने अपनी छत्रछाया में **"श्रीमद्भागवत महापुराण में विष्णु का स्वरूप एवं वैष्णव सिद्धान्त"** विषय पर कार्य करने हेतु प्रोत्साहित किया।

अतः इन गुरूवर के प्रति अपनी प्रणामान्जलि समर्पण करना मैं अहोभाग्य समझती हूँ।

सर्वप्रथम मैं उन ऋृषि, महर्षियों एवं विद्वानों के प्रति अपनी श्रद्धान्जलि समर्पण करती हूँ। जिनके साहित्य एवं ग्रन्थों का मैनें इस शोध में निःसंकोच भाव उपयोग किया है।

जिनसे प्रेरित होकर मैं "पुराण जगत के आधुनिक प्रसिद्ध विद्वान स्मृति, श्रीमदभागवत पुराण विशेषज्ञ संस्कृत विभागाध्यक्ष, उपाचार्य (नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय) डा0 ओम प्रकाश शास्त्री के सम्मुख अपनी आकांक्षा प्रकट की और उन्होंने अनुक्षण "**श्रीमद्भागवत पुराण ....वैष्णव सिद्धान्त**" पर क्रियमाण कार्य

को और विस्तृत एवं गहन अध्ययन, अनुसन्धान के लिये प्रसन्नता प्रकट करते हुए मुझे मार्ग निर्देशित किया। अतएव उनसे ऋणमुक्त होना प्रायः असाध्य है।

नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय के प्राचार्य डा0 रवीन्द्रनाथ यादव की तो मैं पूर्व से ही ऋणी हूँ, क्योंकि स्नातक से अध्यावधि अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान करते हुए प्रोत्साहित करते रहे हैं।

भारतीय संस्कृति की संवाहिका, जननी, ज्येष्ठ भगिनी तुल्य गुरूभार्या श्रीमती अन्नपूर्णा शास्त्री सदैव ही अपनी वात्सल्यमयी ममता की छत्रछाया से अभिसिंचित करती रहीं, अतएव उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना अधिकार समझती हूँ।

संस्कृत साहित्यानुरागी श्री कैलाश चन्द्र शर्मा अपने पति को, यदि मैं अपनी ओर से साधुवाद नहीं करूंगी तो अकृतज्ञता होगी, क्योंकि पी–एच0डी0 करने की ओर इन्होंने ही मुझे जागृत, प्रेरित एवं प्रवृत्त किया है।

आदरणीय डा0 बाल मुकुन्द मिश्र (प्रवक्ता– नेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय) ने शोध– सामग्री एकत्रित करने का प्रकृत प्रयास किया है। अतएव डा0 मिश्र को साधुवाद करना मैं अपना औचित्य पूर्ण कर्तव्य मानती हूँ। इसी क्रम में मैं अपने पथ प्रदर्शक परमश्रद्धेय श्री भगवत प्रसाद पटेल (बेसिक शिक्षा अधिकारी) की चिर ऋणी रहूंगी। जिन्होंने स्वतंत्र रूप से शोध कार्य करने को प्रेरित करते रहे।

डा0 शशि सिंह प्रवक्ता (संस्कृत विभाग) की मैं आभारी रहूँगी क्योंकि लेखन में अशुद्धियों एवं त्रुटियों को अपनी ज्ञानचक्षु के द्वारा सदैव ही दूर करने का प्रयास करते रहे।

शोध प्रबन्ध पाण्डुलिपि प्रस्तुत कराने एवं मुद्रण कार्य में निष्कपट भाव मेरे जमाता डा0 हरिओम शर्मा एवं आत्मजा श्रीमती शिल्पी शर्मा तथा पुत्र आयुष्मान सुगन्ध सौरभ मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं।

मुद्रण कार्य में शीघ्रताजनित कतिपय अशुद्धियों का रह जाना सहज सम्भव सा हो गया हैं, जिसके लिए मुझे खेद है। इस दिशा में संस्कृत के मर्मज्ञ अपने निर्देशक डा0 शास्त्री जी के प्रासंगिक उक्ति उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। आदरणीय शास्त्री जी बहुधा कहा करते हैं–

कोई भी सांसारिक वस्तु सम्पूर्ण रूप से निर्दोष एवं संतोषप्रद नहीं हो सकती। जब मैं स्वयं कोई साधारण लेख भी सावधानी से लिखता हूँ और लिख चुकने के पश्चात

उसका अवलोकन करता हूँ, तब उसमें से विविध अशुद्धियॉ दृष्टिपथ पर आ जाती है, पुनः संसोधन करता हूँ, फिर भी उसमें नयी–नयी त्रुटियां दृष्टिगत् हो जाती है और तब अन्ततोगत्वा मनोनुकूलता के अभाव में भी विवशतावश संतोष करने को बाध्य हो जाना पड़ता है।"

जब इतने महान मर्मस्पर्शी और महान विद्वान का ऐसा कथन है तो मेरे सदृश साधारण छात्रा की क्या अवस्था हो सकती है ?

विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र श्री जगदीश गोस्वामी जी हैं जिन्होंने अर्हनिश में लिये टंकण कार्य में सहयोग देते रहे हैं।

अतः प्रमोदवश कहीं पर स्खलन होना स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी है और इस प्रकार के स्खलन पर दुर्जनों का अट्ठाहास एवं सज्जनों का सहानुभूतिपूर्ण समाधान करना भी स्वाभाविक ही है–

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।।

आदर्श के अनुसरणकर्ता विद्वानों से मेरी क्षमा प्रार्थना है।

इति !

सुमनशर्मा

(सुमन शर्मा)

शोधार्थिनी

विषय सूची

प्रस्तावना

श्रीमद्भागवत पुराण भारतीय जीवन–साहित्य के रत्ननिर्मित अमूल्य श्रृंगार है और अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ने वाली स्वर्णमयी श्रृंखला है। विश्व साहित्य के अक्षय भण्डार में अष्टादश महापुराण अनुपम एवं सर्वश्रेष्ठ रत्न है।

ये हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक जीवन को स्वच्छ दर्पण के समान प्रतिबिम्बित करते हैं, और साथ ही सरल भाषा एवं क्रमबद्ध कथानक शैली के कारण प्राचीन होते हुये भी नवीनतम स्फूर्ति को संचरित भी करती हैं।

भारतीय वाड़् मय में पुराण साहित्य के लिये एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है। धार्मिक परम्परा में वेद के पश्चात पुराण ही अधिमान्यता है। भागवत् पुराण में भारतीय परम्परा की घोषणा है कि जो द्विज अंगों और उपनिषदों के सहित चतुर्वेदों को तो जानता है, किन्तु पुराण को यदि सम्यक प्रकार से नहीं जानता वह विलक्षण नहीं हो सकता है।

यो विद्याच्चतुये वेदान्तसाड़ोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविदान्नैव स स्याद्विचक्षणः।।

तात्पर्य यह है कि पौराणिक ज्ञान के अभाव में वैदिक साहित्य का सम्पूर्ण रूप से अर्थावबोध असम्भव है। वेदों में स्थान–स्थान पर प्रतिपादित किया गया है यथा–

इदं विष्णर्विचक्रमें त्रेधा निदधे पदम्। समूढऋमस्य पांसुरे (ऋग्वेद)

इस मंत्र का भाष्यानुसारी अर्थ होता है कि विष्णु ने इस दृश्य जगत को माया, तीन प्रकार से पद रखा और इनमें धूलियुक्त सम्पूर्ण विश्व स्थित है।

इस मूल मन्त्रार्थ का यह स्पष्टीकरण सायण आदि भाष्य से भी नहीं होता है कि विष्णु ने कब क्यों और किस रूप में सम्पूर्ण विश्व को अपने तीन पगों में नाप डाला किन्तु पुराणों में इस मन्त्रार्थ का पूरा विवरण उपलब्ध हो जाता है और तब सन्देह के लिये अवकाश नहीं रह जाता।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि पौराणिक सहायता के विना वेदों के गूढ़ अर्थों का समाधान सम्भव नहीं है। यह तो निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि वे संक्षिप्त रूप से सूत्र है और पुराण उनका विस्तृत रूप से भाष्य के समान प्रकृत अर्थज्ञापक होकर वेदों की उपयोगिता को स्पष्टतः कर बढ़ा देते हैं।

भिन्न–भिन्न शास्त्रों में भिन्न–भिन्न प्रकार से भागवत पुराणोत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है। इसके सम्बन्ध में स्वयं पौराणिक विवरण है कि ब्रह्मा ने सम्पूर्ण शास्त्रों के आविष्करण के पूर्व पुराण को प्रकट किया, तत्पश्चात् उनके मुख से वेदों का अविर्भाव हुआ–

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।

अनन्तरं च वक्रेम्यो वेदास्तस्य विनर्गताः।।

पुराणार्थ विशारद वेदव्यास ने वेदविभाजन के पश्चात् प्राचीन आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं और कल्प शुद्धियों के सहित एक पुराण संहिता का निर्माण किया–

आख्यानैश्चाप्यु पाख्यानैर्गाथामिः कल्पशुद्धिनिः।

पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थ विशारदः।।

श्रुति में पुराण वेद की समकक्षता प्रदर्शित कर कथन है कि क्रृच्, सामन्, छन्दस् और पुराण– ये समस्त वाड़ मय यजुस् के साथ उत्पन्न हुये–

क्रृचः सामानि छंदासि पुराणं यजुषा सह ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रिताः ।।

ब्राह्मण ग्रन्थों में पुराण को वेद से अभिन्न प्रतिपादित किया गया है–

''अध्वर्युस्ताक्ष्र्यो वै पश्यतो राजेत्याह पुराणं वेदः सोयामिति किन्चित् पुराणमचक्षीत''

उनोपनिषद के मत से क्रृच आदि वेचतुष्टय के समान पुराण भी महदृभूत का ही निःश्वास रूप है। अतः पुराण भी अपौरूणेय और अनादि है–

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिमिश्रताः।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

श्रुति के एक प्रसंग में पुराण को पंचम वेद की ही अधिमान्यता दी गई है। पुराणं पंचम वेद की ही अधिमान्यता दी गई है।

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि युजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं

चतुर्थमितिहास पुराणं पंचमं वेदाना वेदम्।

चिर अतीतकाल से जीवित रहने के कारण यह वाड़ यम पुराण नाम विख्यात है।

भारतीय इतिहास, राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परम्पराओं की जानकारी के लिये श्रीमद्भागवत पुराणों का अध्ययन अनुशीलन आवश्यक है। भारतीय ज्ञान विज्ञान के

अध्ययन हेतु वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद एवं महाकाव्यों का जितना महत्व है, उतना ही भागवत पुराण का भी। भागवत् पुराण तो एक प्रकार से ज्ञान–विज्ञान के कोष है। इन्हें प्राचीन इतिहास का भण्डार माना जा सकता है।

स्वतंत्र भारत में संस्कृत वाड़ मय का अध्ययन तो आरम्भ हुआ, पर भागवत जैसे विशा वाड़ मय का अभी तक संतोषप्रद अध्ययन परिशीलन नहीं हो सका है। यह सत्य है कि मानव समाज तब तक एकसूत्र में नहीं बंध सकता जब तक पौराणिक जैसे गृन्थों के आख्यानों को जीवन से न जोड़ा जाये। पंचलक्षण पुराणों में सृष्टि से आरम्भ कर प्रलय तक का इतिवृत्त, मध्यकालीन मन्वन्तरों और राजवंशों का उत्थान पतन का चित्रण, सिद्धि के प्रतिमूर्ति ऋषि और मुनियों के चरित्र एवं सामाजिक रीति–रिवाजों के वर्णन पाये जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि श्रीमद्‌भागवत् पुराण में केवल धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरूषार्थों के उपदेशों से संकलित आख्यान ही नहीं है, अपितु इनमें ईश्वर भक्ति, उसके परमपद की प्राप्ति के उपाय भी पूर्णतया चित्रित है।

1. **आर्यादिबहुव्याख्यातं देवर्षि चरिताश्रयम् ।**
   इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्यादभुतधम्रमाक् ।।

समस्त संस्कृत वाड़ मय का आलोकन करने पर ग्रन्थ के तीन प्रकार की शैलियां उपलब्ध होती है– 1. तथ्यनिरूपण 2. रूपकथन एवं आलंकारिक या अतिश्योक्तिपूर्ण प्रतिपादन। प्रथम प्रकार की शैली का प्रयोग व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं सूत्र ग्रन्थों में पाया जाता है।

द्वितीय प्रकार की शैली वैदिक मन्त्रों एवं तन्त्र ग्रन्थों के निबन्धन में प्रयुक्त हुई हैं। तीसरे प्रकार की शैली पौराणिक वाड़ मय के ग्रन्थन मं पाया जाता है।

अतः यदि पुराणों के परिशीलन के समय अतिश्योक्ति पूर्ण कथनों को हटा दिया जाये तो समाजशास्त्र के अनेक महत्वपूर्ण संदर्भ उपस्थित हो जाते हैं। पुराण के रचयिता या संकलयिताओं ने वेदों में प्रयुक्त प्रतीक रूप आख्यानों का अपने समयानुसार विवेचन प्रस्तुत किया है। जैसे ऋग्वेद में वर्णित इन्द्र वृत्त युद्ध को ही उपस्थित करते हैं। इस आख्यान में मेघ तथा अवर्षण का परस्पर संघर्ष प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया गया है, पर पुराणों में इसका स्पष्टीकरण विस्तृत उपाख्यानों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यहां बताया गया है कि इन्द्र एक विशाल भूमिपाल है, जिसके पास अजेय सैन्यशक्ति है। शत्रु

वृत्त भी सामान्य नहीं है, उसके पास भी सामरिक शक्ति प्रचुर मात्रा में है। दोनों में घनघोर संग्राम होता है और इन्द्र अपने शत्रु को परास्त कर देता है।

उक्त दोनों आख्यानों का तुलनात्मक अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि दोनों ही सन्दर्भ एक हैं। अन्तर यही है कि ऋग्वेद में प्रतीक रूप में तथ्य को उपस्थित किया गया है और पुराणों में उस तथ्य की ससन्दर्भ व्याख्या कर दी गई है। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में जो उपाख्यान यज्ञ के स्परूप और विधि-विधान का निरूपण हुआ है, उन उपाख्यानों को लौकिक रूप देकर भक्ति और साधना परक बना दिया गया है। पुराणों के अध्ययन में शैलीगत विशेषताओं का ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा, अन्यथा रूप में सामाजिक और सांस्कृतिक तथ्यों की उपलब्धि में कठिनाई होगी।

वैदिक तत्वों की स्फुट रूप से अवगत कराने के लिये श्रीमद्भागवतपुराण का अविर्भाव हुआ। महर्षि व्यास ने वैदिक वाणी को सामान्य जनता तक पहुंचाने के लिये पुराणों का प्रणयन कर "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" के रूप में सौन्दर्य मूर्ति तथा पतित पावन भगवान के रूप में चित्रित किया। उपनिषदों के नाम रूप और भाव के परे ब्रह्म को पुराणों में सर्वनामी, सर्वरूपी तथा सर्वभावमय रूप में अंकित कर भगवान के रूप को सर्वजन ग्राहज बनाया गया है। विभिन्न नाम और रूपों से युक्त विचित्र शक्ति सम्पन्न अनिन्दय सुन्दर और ललित लीलाओं से युक्त, सर्वशक्तिमान् शरणागत दुःखत्राता, अभिष्ट इच्छाओं का सम्पादक और विपत्ति के समय भक्त के पास दौड़कर आने वाले भगवन् का रूप अंकित किया है अतः जन साधारण के लिये श्रीमद्भागवत् पुराण से जितना अधिक मानसिक संतोष उपलब्ध होने की सम्भावना है, उतना वेद या उपनिषद से नहीं। वास्तव में भागवतपुराण के रचयिता ने निराकार और अरूपी ब्रह्म को मानव समाज के बीच लाकर मनुष्य में देवत्व और भगवत्व की प्रतिष्ठा की। अतः सनातन धर्म को लोकप्रियता बनाने मं पुराणों द्वारा किया गया स्तुप्त प्रयास अत्यन्त श्लाधनीय है।

जनमानस भगवान के उसी रूप में लाभान्वित हो सकता है, जो रूप व्यक्ति के दुःख, दारिद्रय का नाशक हो और आवश्यकता के समय सब प्रकार से सहायक भी अतएव स्पष्ट है कि वेद के महनीय तत्वों को बोधगम्य भाषा और शैली में अभिव्यक्त कर पुराण वाङ्मय का प्रणयन किया गया है।

श्रीमद्भागवत् पुराण कितना प्राचीन है, यह तो निर्णयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना स्पष्ट है कि यह भी वेदों के समान प्रचीन हैं।

वृहदारण्यक् और शत्पथ ब्राह्मण में आया है– आर्द्र, काष्ठ से उत्पन्न अग्नि से जिस प्रकार पृथक–पृथक घूम निकलता है, उसी प्रकार इस महान भूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आदि रस इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान ओर अनुव्याख्यान निःसृत हुए हैं।

छन्दोग्य उपनिषद में आया है कि जब नारद जी सनतकुमार ऋषि के पास विद्याध्ययन के लिये पहुंचते हैं तो सनतकुमार उनसे पूंछते हैं कि आपने किन–किन विषयों का अध्ययन किया है ? तब नारद जी उत्तर देते हैं।

''ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेद सामवेदमाशर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पिन्र्यकं शशिं दैवं निधि वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां न विद्यामेक्तदगवोध्येमि''

उपर्युक्त उद्धरण में इतिहास पुराण को पंचम वेद के रूप में कहा गया है।

धर्मशास्त्र के लेखकों को ईशा से बहुत पहले ही पुराणों के प्राचीन रूप का ज्ञान था किन्तु महाभारत काव्य का जो रूप हमारे सामने है, वह गुप्तकाल की देन है। बड़े–बड़े पुराणों के संग्रह तैयार हुये। इस काल में इन ग्रन्थों को फिर से व्यवस्थित रूप में संशोधित और संपादित किया गया। उनमें जोड़ घटाव इस तरह किया गया कि वे पूर्णतः नये साहित्य के रूप में परिणत हो गये। महाभारत हिन्दुओं के लिये एक महाकाव्य से कहीं बढ़–चढ़कर है। यह नीति, आचार और धर्म का तथा राजनीतिक और नैतिक कर्तव्यों का एक वृहद विश्वकोष है।

प्राचीनतम परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करने वाले, श्रीमद्भागवत् पुराण शिव पुराण आदि भारतीय परम्पराओं एवं अवतार वाद का पोषक रहा है।

इन्द्र, वरूण, कुबेर, मरूत, रूद्र, अग्नि, उषस, जल आदि इनके द्वारा मनुष्यों को प्रेरणा एवं सुरक्षा की याचना की, विष्णु का स्वरूप चाहे नारायण के रूप में रहा हो अथवा वासुदेव का किसी न किसी रूप में वेदों में प्रतिष्ठित हो चुका था, वहां यद्यपि विष्णु के रूप को नारायण स्वरूप वाला कहा है अथवा पालक देवता के रूप में वर्णित है, तथापि विष्णु जीवों के कष्ट निवारण के भी देवता रहे हैं। उपनिषद और पुराण साहित्य में विष्णु के स्वरूप का उसी आधार पर विभिन्न विचारों और सम्प्रदायों के सम्पर्क में विवरण प्रस्तुत करते हैं। विष्णु की शक्ति उनकी उत्पत्ति, उनके द्वारा सृष्टि के व्यवस्था को देखते हुये वैष्णव धर्म का दार्शनिक दृष्टि से विकास हुआ और वह दृष्टि अनेक सिद्धान्तों के रूप में भारतीय चिन्तन में प्रतिष्ठित हुई है।

विष्णु के स्वरूप से उसकी दार्शनिक तथा वैष्णव सिद्धान्त की महत्ता का आंकलन इसी से किया जा सकता हैं कि आज भारतीय जीवन को यहां की विचार पद्धति को वैष्णव दृष्टि से जितना अधिक प्रभावित किया गया है, उतना अधिक किसी दृष्टि से नहीं किया गया है।

अतः आवश्यक हो गया था कि संस्कृत साहित्य में उपलब्ध प्रमुख ग्रन्थों की परम्परा से वैष्णव सिद्धान्तों का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाये। श्रीमद्‌भागवत महापुराण का संदर्भ देकर प्रस्तुत यह शोध प्रबन्धक एक विशिष्ट दृष्टि का उद्‌घाटन करने का लघु प्रयास है।
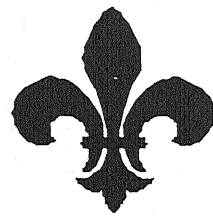
प्रथम अध्याय

–:: वेदों में विष्णु का स्वरूप ::–

भारतीय संस्कृति विश्व की पुरातन संस्कृतियों में महत्वपूर्ण स्थान रखती है, इसके अक्षय स्रोतों में वैदिक वांगमय जगत विदित है, वैदिक वांगमय में 'ऋग्वेद संहिता' प्रथम स्थानीय है। यह विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है। भगवान मनु ने ऋग्वेद को सर्वज्ञानमय और शंकर भगवत पाद ने सर्वज्ञकल्प कहा है, अतएव ऋग्वेद का प्राचीन वांगमय के साथ–साथ विश्व में विशेष महत्व है, सृष्टि के आदिकाल से ही विष्णु में ईश्वरीय तत्व के रूप में सम्पूर्ण सृष्टि को प्रभावित किया, फलतः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में चेतन–अचेतन प्राणियों द्वारा ईश्वरीय रूप में विष्णु को स्वीकार कर उनकी स्तुतियाँ की गयीं। सर्वप्रथम ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 22 वें सूक्त में विष्णु का स्तुतियों के द्वारा वर्णन प्राप्त होता है।

इस सूक्त के मंत्र दृष्टा मेघातिथि काण्व ऋषि का वर्णन करते हैं:–

अतो देवा अवन्तुनो यतो विष्णुर्विचक्रमे।

पृथिव्या सप्तधाममिः।। (ऋग्वेद म0 सू.म, 16)

इस मंत्र में कहा गया है कि जिस भू–प्रदेश से भगवान् विष्णु ने सप्तधान भूत गायत्री आदि छन्दों की सहायता से पादक्रमण प्रारम्भ किया था। उसी भू–प्रदेश से सभी देव भगवद् भक्तों की रक्षा कर ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 22 वें सूक्त के 16 वें मंत्र से 21 वें मंत्र तक भगवान विष्णु के पराक्रम का वर्णन करते हुये विष्णु की सुक्ति की गयी है।

इस सम्पूर्ण विश्वरूपी ब्रह्माण्ड में जो कुछ दिखायी देती है वह सब उसी व्यापक विष्णु परमेश्वर का पराक्रम है। सात्विक, राजस, तामस ऐसे तीन स्थानों में उन्होंने तीन पाद रखे हुये हैं, दयुलोक सात्विक, आन्तरिक्ष लोक राजस और भू–लोक तमोगुण प्रधान है, यहां उनके वे तीन पद कार्य करते हैं। अतएव दो लोक स्पष्ट दिख रहे हैं, किन्तु बीच का अन्तरिक्ष लोक अदृश्य है, विद्युत भी अदृश्य है, पर कभी–कभी उसकी चमक दिखती है। इसी प्रकार बीच के स्थान में होने वाला उनका कार्य दिखता है।

त्रिविक्रम अवतारधारी परमेश्वर विष्णु ने इस दृश्यमान सम्पूर्ण जगत को उद्देश्य कर इसी परिक्रमा की, उन्होंने तीन प्रकार से अपने चरण रखे उनके धूलियुक्त पादस्थान में यह सम्पूर्ण जगत अन्तर्भूत हो गया।

अठारवें मंत्र में विष्णु की विशेषताओं का वर्णन करते हुये कहा गया है, कि वह व्यापक विष्णु किसी भी शक्ति से दवने वाला नहीं, अर्थात उनको आघात करने वाला कोई नहीं है, विष्णु ही जगत के रक्षक हैं और यहीं सबमें व्याप्त हैं, इस प्रतीयमान जगत में जो कुछ भी कार्य रूप में होता हुआ प्रतीत होता है, वह सब उन्हीं के द्वारा किया जा रहा है, भूमि अन्तरिक्ष, द्युलोक में जो भी इनके तीन पद कार्य कर रहे हैं, उन्होंने समस्त धर्मों को धारण किये हैं अतएव भगवान् विष्णु के सामर्थ्य को भली भाँति जाना जा सकता है।

उन्नीसवें मंत्र में कहा गया है कि इस व्यापक विष्णु के कर्मों को देखो, उनके कार्य समग्र विश्व में चल रहा है, उन्हीं के व्यापक कार्यों के सहारे मनुष्य के कार्य होते हैं। इस मंत्र में विष्णु को इन्द्र का सुयोग्य मित्र बतलाया गया है, इन्द्र शब्द का एक अर्थ प्राण भी होता है और प्राण जीवों में भी रहता है। फलतः भगवान् विष्णु जीवमात्र के मित्र हैं।

बीसवें मंत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार आकाश में प्रकाश होते हुये सूर्य को मानव मात्र सामान्य रूप से देखा करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग व्यापक प्रभु भगवान् विष्णु को सदा देखा करते हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञानी लोग उस भगवान विष्णु के कार्य को प्रत्येक वस्तु में स्पष्टता के साथ देखा करते हैं।

इक्कीसवें मंत्र में कहा गया है कि विष्णु के सोत्कृष्ट स्थान परमपद है। विशेषरूप से स्तुति करने वाले, जागरूक रहने वाले ज्ञानीजन उसी से अपने हृदय को प्रकाशित करते हैं।

ऋग्वेद के प्रथममण्डल के 154 वें सूक्त में दीर्घतमा ऋषि ने विष्णु सूक्त का प्रतिपादन किया है, इस सूक्त में विष्णु के स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रथम मंत्र में– मंत्र द्रष्य ऋषि कहते हैं, मैं विष्णु के वीरतापूर्ण कार्यों को कहता हूँ। जिसकी तीव्रगति वाले विष्णु ने वामन रूप धारण कर तीन प्रकार से अर्थात तीन डग रखते हुये तीनों लोकों को नापा भी है। उन्होंने ऊपर के सत्लोक को स्तम्भित कर दिया, संसार उनकी स्तुति करता है। इस मंत्र में वर्णित तथ्यों के आधार पर ही पुराणों में इस कथा का विकास हुआ प्रतीत होता है कि विष्णु ने वामन अवतार में अपने तीन डगों से तीन लोकों को नाप डाला। विष्णु अपने इस कार्य के आधार पर ही पुराणों में त्रिविक्रम नाम से प्रसिद्ध हुये।

विष्णुसूक्त के द्वितीय मंत्र में वर्णित है कि विष्णु का स्वरूप भयानक अरण्यचर पशु के समान स्वच्छ विचरण करने वाले पर्वत पर निवास करने वाले वह विष्णु अपने पराक्रम के कारण स्तुत हैं, जिसके तीन डगों में सभी लोक निवास करते हैं, जिन विष्णु ने अकेले ही समस्त भुवनों के कर रखा है।

तृतीय मंत्र में कहा गया है कि वह विष्णु पर्वतों पर निवास करने वाले लम्बे डगों को भरने वाले प्रथित यशवाले मनोरथों की वर्षा करने वाले हैं, उस विष्णु को हमारा स्तवन् प्राप्त हो जाये। जिसे विष्णु ने अपने तीन डगों से विस्तृत तीन लोकों को नाप दिया। इस मंत्र में विष्णु के त्रिविक्रमत्व की चर्चा है।

चतुर्थ मंत्र में जिस विष्णु के मधु या अमृत से पूर्ण कभी खाली नहीं होने वाले तीन पद या लोक भोग्य सामग्री से आनन्दित होते हैं, अर्थात वहॉ के निवासी दिव्य भोगों से पूर्णतः तृप्त रहते हैं, जो अकेले तीन प्रकार से, अर्थात अपने तीन पादों में पृथ्वी द्युलोक तथा सभी लोकों को धारण किये हुये हैं।

इस मंत्र में वैष्णवों की इस मान्यता का बीज प्रतीत होता है कि विष्णु लोक या बैकुण्ठ दिव्य योग में से पूर्ण है, और वहां के निवासी दिव्य आनन्द का अनुभव करते हैं।

पंचम मंत्र में विष्णु की स्तुति की गयी है मैं विष्णु के उस प्रसिद्ध प्रिय रमणीय लोक को प्राप्त कर आत्मीय बनने के इच्छुक भक्तजन आनन्दित होते हैं, विष्णु के परमपद अर्थात लोक में अमृत का स्रोत या झरना है वह अमृत का झरना विष्णु के सदा साथ रहने वाला पदार्थ है एवं भक्तों को आकृष्ट रखने का साधन है।

छठवें मंत्र में जिस लोक में उन्नत श्रृंगों वाली स्फुरणशील कान्तिवाली शीघ्रगामी गायें रहती हैं, विशाल पराक्रम वाले एवं मनोरथ की वर्षा करने वाले विष्णु का वह प्रसिद्ध परमपद यालोक अतिशय रूप से प्रकाशित हो रहा है याचमक रहा है।

वैष्णव धर्म में जो विष्णुलोक यावैकुण्ठ की प्राप्ति को पर लक्ष्य माना जाता है। पांचवे या छठवें मंत्र उसका बीज माना जा सकता है।

तैत्रीय आण्यक के 10 वें प्रपाठक के 13 वें अनुवाक में विष्णु का नारायण स्वरूप प्राप्त होता है, तदनुसार, हजारों शिरों वाले सम्पूर्ण विश्व नेत्ररूप, विश्व का कल्याण करने वाले देव नारायण हैं। उनका परम पद या लोक अविनाशी है, सम्पूर्ण विश्व में वह नारायण नित्य रहते हैं, अतः सम्पूर्ण विश्व नारायण से युक्त है, यह सम्पूर्ण विश्व ही नारायण है, यह सम्पूर्ण विश्व का पालन करते हैं। यह नारायण ही सम्पूर्ण विश्व में

शाश्वत् रूप में कल्याण करते हैं। नारायण ही परमब्रह्म एवं परमतत्व हैं। ध्याता एवं ध्यान भी नारायण ही हैं। अन्दर–बाहर जो भी व्याप्त है, वह नारायण ही हैं।

अनन्त एवं अव्यय कार्य हृदयस्थित समुद्र में रत्न स्वरूप विश्व में कल्याण स्वरूप, प्राणियों के हृदय में स्थित सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करने वाले नारायण ही है।
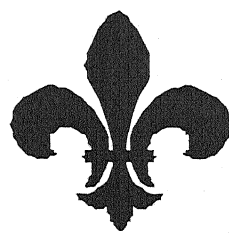
–:: विष्णु का वासुदेव नारायण रूप ::–

परमात्मा पूर्ण ब्रह्म साकार रूप धारण करके लोक कल्याण करते हैं, इस कारण अखण्ड से अखण्ड, निरवयव से सावयव, निर्विकार होने के कारण उन पर अपूर्णत्व और एक देशीयता का आरोप करना भारी भूल है। वे तो ''पुरुरूप ईयते'' इस वेदोक्ति को चरितार्थ करते हैं। वे '' ऊँ विश्वं विष्णु'' हैं।

1. **यो देवेम्य आतपति यो देवानां पुरोहितः।**

पूर्वो यो देवेम्यो जातो नुमो रूचाय ब्राह्मये।।

जो देवों के लिये सर्वतः प्रकाश देता है, जो पूर्वकाल से ही देवताओं का कल्याण कारक है, और जिसने देवताओं की उत्पत्ति से पहले ही अपने को व्यक्त किया, ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुये उस प्रकाशमान को नमस्कार है।

पूर्णब्रह्म परमात्मा ही साकार असंख्य रूपों में अवतार ग्रहण करके असंख्य चरित्र करते हैं तथा पूण्र ब्रह्म भी बने रहते हैं। राम–कृष्ण आदि अनेक अवतार पूर्ण परात्पर ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियां हैं, वे पूर्ण हैं। लोक कल्याणार्थ अभिव्यक्तियॉ हुई थी। इसके इतिहास और पुराण प्रमाण हैं। वेदमंत्रों में भी भगवान के चरित्रों की सूचना मिलती है –

2. **''विष्णोः कर्मणि पश्यत् यतो व्रतानि परस्पशे, इन्द्रस्य युज्यः सखा।''**

भगवान विष्णु के उन कर्मो को सावधानी से देखो और समझो, जिनके द्वारा वे लोक रक्षा के नियमों को आबद्ध रखते हैं। वे इन्द्र के सहयोगी मित्र हैं।

निम्नलिखित मंत्र में वामनावतार का चरित्र स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है –

3. **''इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधेपदम, समूढ़मस्या पॉसुरे स्वाहा।''**

विष्णु ने त्रैलोक्य को व्याप्त किया। अतः तीन विभागों से उन्होंने चरण रखा, यह त्रैलोक्य उस समय दूषित वातावरण में पड़ चुका था।

भगवान विष्णु के द्वारा प्रदान किये गये इन्द्र पद का अवैध रूप से अपहरण हो जाने पर दैवीय संकट दूर करने के लिये विष्णु भगवान का यह कर्तव्य था कि, वे धर्मध्वंसी असुर जाति से इन्द्र पद छुड़ाकर लोकधर्म की व्यवस्था का रक्षाधिकार पाने वाले इन्द्र का पक्ष करते हुये एवं देव कार्यों में सहायक होते, यह इन्द्रसखा का भाव

1.यजुर्वेद 31/18, 2. यजुर्वेद 6/4, 3. युजर्वेद 5/15

अखिल भुवन व्यापक सर्वेश्वर भगवान् विष्णु में देवरूप से है। परात्पर ब्रह्मरूप में योगीजन समाधि योग द्वारा इन्हें प्राप्त कर सदैव इनके तेज का दर्शन करते हैं–

4. ''तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।।''

विष्णु के उस परमपद का तजोमय परब्रह्मरूप का जो गायन्त्री मंत्र से बोधित किया गया है। विद्वान सदा दर्शन करते हैं। वे समाधिस्थ होकर योग दृष्टि से सदा उसे प्राप्त करते हैं। विष्णु का वह तजोमय स्वरूप इस प्रकार विस्तारयुक्त दृष्टिगोचर होता है कि जैसे सर्व साधारण को आकाश में विस्तारवान् किरणमण्डल है।

5. ''पुरूषस्य हरेः सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम्।''

पुरूषसूक्त नामक भगवान श्रीहरि की स्तुति समस्त पापों का नाश करने वाली है।

'पुरूष' शब्द का प्रयोग शिव और ब्रह्मा के लिये भी हुआ है। जिनकी बुद्धि निर्मल–अभिनिवेश शून्य है, वे विज्ञजन ''उपासकानां सिद्धयर्थ ब्राह्मणो रूप कल्पना'' तथा एक मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः'' की दृष्टि से दुराग्रह में नहीं पड़ते।

पुरूषसूक्त में पुरूष के तीन रूपों की चर्चा स्पष्ट रूप से मिलती है–

1. त्रिपात् पुरूष, 2. एकपात् पुरूष, 3. अधिपुरूष।

त्रिपात् पुरूष लोकोत्तीर्ण परम् पुरूष है। इसे दो प्रकार से समझा जाता है। एक तो यह कि निर्गुण निर्विशेष परब्रह्म है अथवा वह नित्यलीला विभूति का आश्रय है, जहॉ अर्तक्य अव्ययदेश्य गोलोकादि सम्बन्धी चिरन्तन लीला चलती रहती है। ऋग्वेद में लिखा है–

1. तादस्यं प्रियमभि पायो अस्यां, नरो यत्र देवयवो वर्दान्त।
उरूक्रमस्य स हि बन्धुरित्थ, विष्णोः पदे परमे मध्यव उत्सः।।

इस महाविष्णु के प्रसिद्ध एवं सर्वप्रिय अविनाशी लोक को हम प्राप्त करें, जहॉ विष्णु सायुन्य प्राप्त करने वाले लोग तृप्ति का अनुभव करते हैं। महात्माओं के द्वारा प्राप्त अथवा अपने एक पाद से अनन्त जगदण्डों को आक्रान्त करने वाले व्यापक महाविष्णु के परमपद में परमानन्द का स्रोत विद्यमान हैं। तृष्णा, जरा, मरण एवं पुनरावृत्ति से रहित इस मधुर रस से हमें बांध देता है।

एकपात् पुरूष ''एकपाद्नारायण या महाविष्णु'' के रूप में विख्यात है। यह

---

4. यजुर्वेद 6–5, 5. यजुर्वेद 6–4, 1. ऋग्वेद मण्डल 1 सूक्त 154/मंत्र5,

भगवान के विराट रूप का वर्ण इन मंत्र में हैं–

2. ''पुरूष एवेदं सर्व यदभूतं यच्चभाव्यम्''

भगवान के विराट रूप यह समस्त ब्रह्माण्ड है।

3. न ते विष्णो जायमानो न जातो।

देव महिम्नः परमन्तमाप।।

भगवान विष्णु का वैभव अपार है। उसका पार आज तक कोई नहीं पा सकता। भगवान विष्णु के लोक मंत्र हैं–

4. या ते धार्मान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रंगा अयासः।

अत्राह तदुरूगायस्य विष्णोंः परमं पदमव भांति भूरि।।

हे भगवान ! हम तेरे उन लोकों को जाना चाहते हैं। जिन स्थानों में तेरी अखण्ड किरणें सर्वदा प्रकाशित रहती हैं। जो धाम सर्वदा प्रकाशित रहता है, उसे सर्वत्र सभी नामों से गाये जाने वाले विष्णु भगवान् का परमपद कहते हैं।

हम देखते हैं, वहीं परमपद आदित्य मण्डल के रूप में प्रकाशित हो रहा है, इसी विषय में वेदमंत्र कहता है –

5. ''तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाहंसः समिन्धते।

विष्णोर्यत्पदपरमपदम्।।''

यही आदित्य मण्डल अथवा इसी आदित्य मण्डल के भीतर भगवान् विष्णु का परमपद है।

भगवान विष्णु से कामना हेतु प्रार्थना मन्त्र है –

6. यामश्वनावमितातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमें।

इन्द्रो यां चक्र आत्नेऽनमित्रां शचीपतिः।।

सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय में पयः।

जिस भूमि को अश्विनी कुमारों ने सम्मानित किया, विष्णु भगवान् ने अपने चरणों से नापा और पवित्र किया। शचीपति इन्द्र ने जिसमें अपना कोई शत्रु नहीं रहने दिया, वह भूमि मुझे इस प्रकार से सुख दे, जैसे माँ बच्चे को स्वयं सुख देती है।

---

2. यजुर्वेद 31/2 *3. ऋग्वेद 6/99/2* *4. शुक्ल यजुर्वेद 6/3*
5. 34/44 *6. अथर्ववेद 12/1/10*

धन प्रदान करने को हेतु प्रार्थना मंत्र है –

7. **त्वष्टा विष्णुः प्रजर्या संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु।**

धन के उद्योगों को वढ़ाने वाले, विष्णु भगवान यजमान की प्रजा को प्रसन्न रखते हुये यजमान को प्रभूत धन प्रदान करें।

सुख प्रदान करने हेतु प्रार्थना मंत्र –

1. **शं नो मित्रः शं वरूणः, शं विष्णुः शं प्रजापतिः।**
शं न इन्द्रो वृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा।।

मित्र, वरूण, विष्णु, भगवान, प्रजापति, इन्द्र, बृहस्पति और आर्यमा हम सबको सभी प्रकार से सभी ओर से सुखी करें।

विष्णु का अर्थ :– अन्तः प्रविष्टि और व्यापक होता है। यह नियम भी हं कि जो सर्वव्यापक होता है, वह सर्वत्र प्रविष्ट भी होता है। आकाश व्यापक है, इसी कारण वह घट और मठ दोनों के भीतर भी विद्वमान है बाहर भी है, किन्तु विष्णु भगवान् तो आकाश से भी बड़े एवं व्यापक कहे गये हैं –

2. **दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।**

विष्णु भगवान् भूमि और इस विस्तृत अन्तरिक्ष से ही नही इयुलोक स्वर्ग से भी बड़े है ।

इससे अन्तरिक्ष लोक आदि भी उनके भीतर आ जाते है– वे अन्तरिक्ष आदि में भी व्याप्त रहते हैं।

मैं भगवान विष्णु की क्या प्रशंसा कर सकता हूँ, क्योंकि समस्त संसार उन्हीं का बनाया हुआ है। ''तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्'' विष्णु भगवान् जगत का निर्माण करे फिर जगत् के भीतर भी प्रवेश कर गये।

भगवान् नारायण ओंकार कृष्ण, वासुदेव आदि विष्णु के ही नाम है। वेद मंत्रों में इन नामों का भी उल्लेख हुआ है।

3. **सहस्त्रशीर्ष देवं विश्वाक्षं विश्वशम्भुवम्।**
विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं पदम्।।

भगवान् नारायण के अनन्त मस्तक हैं, अनन्त चक्षु हैं, वे ही समस्त विश्व के मंगलकारक हैं, वे ही अक्षर परमपद हैं।

---

7. अथर्ववेद 6/18/4 *1.अथर्ववेद 19/9/6* *2.शुक्लयजुर्वेद 5/19* *3.तैत्रीय आरण्यक 10–11*

4. ओंकारं चतुर्भुजं लोकनाथं नारायणम् ! सर्वस्थितं।
सर्वगतं सर्वव्याप्तं तन्मे नमः शिवसंकल्पमस्तु।।

ऋग्वेद की शाखा का यह बड़ा सा सूक्त है। इसमें शिव, कैलाश, शिवालय तथा चतुर्भुज नारायण का स्पष्ट उल्लेख है। नारायण की लोकनाथ, सर्वास्थित, सर्वगत्, सर्वव्याप्त नामों से स्तुति की गई है।

5. नारायणय विद्महे! वासुदेवाय धीमहि! तंत्रो विष्णुः प्रचोद्यात।

सायण– भाष्य – स च कृष्णावतारे वसुदेवस्य पुत्रत्वाद्वासुदेवः।।

विष्णु अथवा नारायण कृष्णावतार में वासुदेव के पुत्र होकर जन्म लेते हैं। इसलिये वे वासुदेव नाम विख्यात है।

शाकल संहिता में दीर्घतमा ऋषि द्वारा दृष्ट तीन सूक्तों में विष्णु देवत मंत्र है। सर्वप्रथम संस्कृति का उद्भव वेदों से हुआ है। इनकी भाषा देवभाषा है। गीत, गद्य, एवं पद्य की शैली में वर्णित वेद मंत्रों के अनेक दृष्टा है किन्तु विष्णुपासना की दृष्टि से मुख्या तथा वशिष्ट, मेघातिथि और दीर्घतमा तीन के ही नाम उल्लेखनीय हैं।

भगवान विष्णु ही पालक हैं, उनकी वन्दना देवताओं ने भूरि–भूरि की है। हम तो प्राणिमात्र हैं। वे ही व्यक्ति गुणों के मूल हैं। वे संसार के सर्वप्रकाशक हैं, आदि पुरूष हैं। वरूण तनय भगवान् वशिष्ट ने भी यही कहा है कि हे विष्णो देवाधिदेव ! हे लोकेश्वर ! आपकी महिमा का पार न तो अब तक उत्पन्न हुये किसी भी व्यक्ति ने पाया है और अब जन्म ले रहा है, वह पा सकेगा।

आदि पुष्प सर्वव्यापक परमोत्तम भगवान् विष्णु ही पृथ्वी के रक्षक और धुरंधर है "मां पृथ्वीं पाति रक्षतीति गोपा" ऐसी कण्वनन्दन महर्षि मेघातिथि की उक्ति है –

1. "विष्णुर्गोपा अदाम्यः। अतो धर्माणि धारयन्।।

मन्त्रद्रष्टा दीर्घतमा ने कहा है –

2. यः पार्थिवानि विममे रजांसि, यो अस्कमायदृत्ररं सधस्थम्।

श्री विष्णु ने इन पार्थिव लोकों का निर्माण किया है, और गगन मण्डल को भी स्वकक्ष में स्थापित किया है।

4.ऋक्परिशिष्ट 10/166/22 5.तैत्रीय आरण्यक 1. ऋग्वेद 1/22/18 2. ऋग्वेद 1/154/1

प्रभु विष्णु के अपने चरणों में ब्रह्माण्ड को छिपा लेने एवं परिक्रमा करने की भी बात कही गई है। वे सर्वरक्षक हैं। उन महामहिम भगवान् विष्णु की महिमा अपरम्पार है उनकी हृदय करुणा से भरा हुआ है।

सनातन धर्म के अनुसार वेद स्वतः प्रमाण है। मत्स्य, कूर्म– वराह आदि विष्णु के सभी अवतारों का उल्लेख वेदों में सर्वत्र ओत–प्रोत है।

3. **मत्स्य : मनवे हि .... तस्या वने निजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे।।**

4. (1) **कूर्म :– यः यत्कूर्मो नामः इत्यादि।**
   (2) **अन्तरतः कूर्मभूतं सर्पन्तरम्।।**

5. **बाराह – आपो वै इदमग्रे .... वाराहो भूत्वाऽहरत्।**
   (2) **वाराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय।**
   (3) **"अथ वराहविहितम्"**
   (4) **उद्वतासि वाराहेण कृष्णन शतवाहुना।**
   भूमिधेनुर्धरवी लोकाधारिणी।।

6. (1) **नृसिंह – प्रतद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिष्ठिाः**
   (2) **वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णंद्रष्ट्राय धीमहि।**
   तन्नो नरसिंहः प्रचोदयात्।।

1. वामन – इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम।
2. त्रिणि पदा विचक्रमे विष्णुगोपा अदाम्य।

1. यो रजांसि विम में पार्थिवानि त्रिश्चिद्विष्णुः
2. वामनो हि विष्णुरास
3. त्रेधा विष्णुरूरुगायो विचक्रमे।

2. **परशुराम** :– ऋक् संहिता 10/110/11 मंत्र में ऋषि परशुराम जी के पिता जमदग्नि हैं। उनके द्वारा दृष्ट बहुत मन्त्रों का उल्लेख है।

3. राम :– **भद्रो भद्रया सचमान आगत् स्वसारं च जारो अभ्येति पश्चात्।**
   सु प्रकेतैद्यु निराग्नि र्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णरभि राममस्यात्।।

राम, सीता के साथ वन में गये थे। रावण राम के परोक्ष में सीता का हरण करने आया था। रावण के विध्वंश हो जाने पर सीता की अग्नि परीक्षा के समय द्युतिमान अग्निदेव सीता को गोद में लेकर राम के सामने आये थे।

---

5. तैत्रीय संहिता 6/4/5/1 6. ऋक् संहेता 1/154/2 1. ऋक् संहिता 1/22/16 2.ऋक् संहिता 1/22/18–21 3. ऋक संहिता 6/49/13

4. कृष्ण – कालिको नाम सर्पो नवनागसहस्त्रबलः।
यमुनाह्रदे ह स जातो यो नारायण वाहनः।।

इसके अतिरिक्त वेदमंत्रों में कृष्ण विषयक अनेक मंत्र हैं। वेदों में ब्रजलीला का भी उल्लेख है। उपनिषदों में विष्णु तत्व का उल्लेख निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार रूपों में प्राप्त होता है।

5. **स होवा चैतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदनत्यस्थूलमनष्वह्ना, स्वमदीर्घमलोहितम स्नेहमच्छाय मतमोऽवारवनाकाशमसंगं मरसमगन्धम्। चक्षुष्कमश्रोतमवागमनोऽतेजस्कम् प्राणमममुखम मात्रमनन्तरमह्यम।।**

याज्ञवल्क्य जी ने कहा – हे गार्गी ! इस अक्षर को ब्रह्मवादी जन स्थूल से भिन्न, अणु से भिन्न, ह्यस्व से भिन्न, वायु से भिन्न, दीर्घ से भिन्न, प्रसंग रस से भिन्न, गन्ध से भिन्न, नेत्र से भिन्न, श्रोत से भिन्न, वाणी से भिन्न, मन से भिन्न, तेज से भिन्न, प्राण से भिन्न मात्रा से भिन्न, अनन्तर से भिन्न और बाहर से भिन्न कहते हैं।

1. **"अकृष्टम् व्यवहार्यम् ग्राह्जमलक्षणम् चिन्त्यमपदेश्यमेकात्म प्रत्ययसारं, प्रपन्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्।**

यह अकृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राद्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अनिवर्चनीय, एकात्म प्रत्ययसार, प्रपन्च से रहित, शान्त शिव अद्वैत है।

2. **अशब्दमस्पर्शम् रूपम् व्ययं तथारसं नित्यम् गन्धवच्चयत्।**

जो शब्द रहित है, स्पर्श रहित है, रूप रहित है, अव्यय है, रस रहित है, नित्य है और गन्ध रहित है।

3. **स एष नेति नेत्यात्मागृहज।।**

वह यह आत्मा यह भी नहीं, यह भी नहीं, इस प्रकार अग्राह्य है।

4. **एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलोनिर्गुणश्च।।**

एक देव सब भूतों में छिपा है, सबमें व्यापक है, सभी भूतों का अन्तरात्मा है, कर्मो का अध्यक्ष फलदाता है, सभी भूतों का वास स्थान है, चेतन है, केवल है और निर्गुण है।

5. **सगुण– एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम।**

वह सबका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ है, वह अन्तर्यामी है, वह सबका कारण है, उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

---

4. ऋक् संहिता 6/55/4 5. वृहदारण्यक 32/18/8 6.तैत्रीय आरण्यक 3/1/2/6
1. माण्डूक्य 7 2. कठ 1/3/15 3. वृहदारण्क 4/2/4 4.श्वेतश्वतर 6/11

6. **सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सार्वमिदमम्यात्रः।**

वह सम्पूर्ण कर्म करने वाला, सम्पूर्ण कामना वाला, सम्पूर्ण गन्ध वाला, सम्पूर्ण रसवाला, इससे सबमें व्याप्त है।

7. **एष हि दृष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरूषः।**

वह देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला सूंघने वाला, चखने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, करने वाला, विज्ञानात्मा पुरूष है।

1. निराकार–

यत्र दद्रेश्यम ग्राह्यम गौत्रमवर्णम चक्षुः श्रोतं तदपाणिपादम्।

वह जो अदृश्य है, आग्रहज है, अग्रोत्र है, अवर्ण है, चक्षु और श्रोत्र से रहित है और हाथ पैर से भी रहित है।

2. साकार–

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईद्य,

एकोऽपि सन् बहुधा यो विमाति।

तं पीठं येऽनुभजन्ति धीरा,

स्तेषां सिद्धिः शारवती नेतरेषाम्।।

एक मात्र सबको वश में रखने वाला सर्वव्यापी भगवान श्रीकृष्ण सर्वथा स्तवन करने योग्य है। वे एक होते हुये भी अनेक रूपों में प्रकाशित हो रहे हैं। जो धीर भक्तजन, पूर्वोक्त पीठ पर विराजमान उन भगवान का प्रतिदिन पूजन करते हैं, उन्हीं को शास्वतं सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।

3. **नारायणः परो ज्यातिरात्मा नारायणः परः।**
नारायणं परं ब्रह्म तत्वं नारायणं परम्।।

नारायण परम ज्योति है, नारायण परमात्मा है, नारायण परम ब्रह्म है, नारायण परम तत्व है।

4. **यच्च किंचिन्नगत्सर्व दृश्यते श्रूयतेऽपि वा,**
अन्तर्बहिश्च तत्सर्व व्याप्य नारायणः स्थितः।

जो कुछ भी संसार में दिखाई या सुनाई देता है उस सबको श्री नारायण बाहर–भीतर से व्याप्त करके स्थित है।

---

5. माण्डूक्य 6 6. छन्दोग्य 3/14/4 7. प्रश्नोपनिषर 4291. मुण्डक 1/1/6 2. गोपाल पूर्वतापिनी उपनिषद 9/8 3. नारायणोपनिषद 9/8 4. नारायणोपनिषद 13/1–2

5. सगुण– एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम।

वह सबका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ है, वह अन्तर्यामी है, वह सबका कारण है, उसी से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

''तद् विष्णोः परमं पद्मं''

त्रिमूर्ति में भगवान विष्णु ही परम प्रधान सुविदित है।

---

5. कठोपनिषद 1/3/9

विष्णु का वासुदेव नारायण रूप

भगवान् विष्णु विराट स्वरूप हैं। उनका रूप अनन्त स्वरूप है, उनके गुण अनन्त, नाम अनन्त, दया अनन्त और उनकी शान्ति भी अनन्त है– उनका सब कुछ अनन्त ही अनन्त है, वे ही अनन्त कृपा करके अनेक स्वरूप धारण करके अवतार लेते हैं। यह विराट् स्वरूप किस प्रकार अनेक रूप धारण कर जगत् का कल्याण करता है। इस गहन विषय में धारण करना दुष्कर है किन्तु शास्त्रों में जैसा वर्णित है– उन्हीं के आधारों पर भगवान विष्णु के स्मरण चिन्तन के रूप में यथासाध्य प्रस्तुत किया जा रहा है।

अपने द्वारा उत्पन्न सृष्टि के विषय में आदि विष्णु– महाविष्णु को चिन्ता हुई, उन्होनें विचार किया– मैं अमूर्त हूँ, बिना स्वरूप का हूँ, बिना स्वरूप के कर्म नहीं कर सकता, इसलिये मैं अपने स्वरूप का निर्माण करूं। वे जब इस प्रकार विचार कर रहे थे, सृष्टि उत्पन्न होने के पहले ही उनका स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया, उनके समक्ष स्वरूप आया, उन आदि नारायण ने अपनी देह में से इस स्वरूप में तीनों लोकों को प्रवेश करते देखा। अपने स्वरूप को वरदान देते हुये, उन्होंने कहा तुम सर्वज्ञ हो, सबके कर्ता हो, समस्त लोक को नमस्कार करते हैं। तुम तीनों लोकों का पालन करते हो। तुम सनातन सर्वव्यापी विष्णु रूप हो जाओ। तुम सर्वज्ञता प्राप्त करो। यह कहकर वे निद्राधीन हो गये। उनके निन्द्राधीन होने पर महाविष्णु के विष्णुरूप की नाभि से एक कमल उत्पन्न हुआ, अरण्य और समुद्र सहित सात द्वीपवाली पृथ्वी हुई, उनके रूप का विस्तार अतल से पाताल तक हो गया। उनकी नाभि से उत्पन्न कमलकर्णिका में से मेरू और ब्रह्मा उत्पन्न हुए। आदि नारायण महाविष्णु ने मूर्तस्वरूप नारायण विष्णु से कहा– अज्ञान (अविद्या) के ऊपर विजय पाने के लिये मेरे स्वरूप को तुम पान्चजन्य शंख के रूप में धारण करो। हे केशव! अधर्म के विनाश के लिये कौमीदकी गदा धारण करो। प्राणियो की माता स्वरूपिणी वैजयन्ती माला गले में धारण को। चन्द्र और सूर्य के प्रतीक रूप में कौस्तुममणि और श्रीवास धारण करो। पवन की गति वाला गरूढ़ तुम्हारा वाहन है। त्रिलोकी में गमन करने वाली लक्ष्मी सदा तुम्हारे आश्रय में रहेगी। द्वादशी तिथि तुम्हारी प्रिय तिथि होगी। यह है महाविष्णु के विष्णुरूप का चित्रण

परमात्मा आदि महाविष्णु भगवान के लिये शास्त्रों में लिखा है –

सम्पूर्ण विश्व उन्हीं का स्वरूप है। वे सर्वत्र व्यापक होने से ही विष्णु कहलाते है। समस्त लोकों के एकमात्र कारण वे ही है। इसी प्रकार से विष्णुपुराण में कहा है–

1. **"यतो यश्च स्वयं विश्वं स विष्णुः परमेश्वरः"**

श्री विष्णु से ही विश्व प्रकट है और वे स्वंय विश्वरूप हैं इसलिए वे परमेश्वर विष्णु हैं :–

2. **विष्णोः सकाशादद्भूतं जगतत्रैव च स्थितम्।**

स्थिति संयमकर्तासां जगतोऽस्यजगच्च सः।।

समस्त जगत् परमेश्वर विष्णु से उत्पन्न, उन्हीं में स्थित है, ये ही इसकी स्थिति और लय के कर्ता है तथा वे ही यह गजत भी है।

3. **कामं तस्य गतिः सूक्ष्मा देवैरपि दुरासदा।**

एष लोकमयो देवो लोकाश्चचैतन्यास्त्रय :।।

एष देवमयश्चैव दैवाश्चैतन्मया दिवि।

तस्य पारं न पश्यन्ति बहवः पाचिन्तकाः।।

एष पारं परं चैव लोकानां वेद माधव :।

यह विराट पुरूष ही लोक–लोकान्तर और समस्त विश्व में व्याप्त परमेश्वर महाविष्णु है। परमात्मा विष्णु की गति बड़ी ही सूक्ष्म है। वह उन्हीं की इच्छा के अनुरूप होती है। देवताओं के लिये भी उनका तत्व समझ पाना कठिन है। ये स्वर्गलोकमय है, तीनों लोक इन्हीं के स्वरूप है। ये ही सर्वदेवय है, सवर्ग समस्त देवता इन्हीं में अवशिष्ट है। प्रत्येक वस्तु के तत्व, पार अन्त अथवा चरम सीमा का चिन्तन करने वाले लोग इनका पार नहीं पाते, किन्तु सम्पूर्ण जगत् का अन्त भली प्रकार से जानते हैं।

4. **विषिश्च व्याप्तिवचनो गुश्च सर्वत्रवाचकः ।**

सर्वव्यापि च सर्वात्मा तेन विष्णुः प्रकीर्तितः।।

महाविष्णु सर्वात्मा है, वे भक्तानुग्रह विग्रह है। विष् धातु व्याप्तिवाचक है और "णु" अर्थ सर्वत्र है। सर्वव्यापक होने से ही ये महाविष्णु नाम से कहे जाते है।

श्री नारदपुराण पूर्वभाग अध्याय 33 में भगवान महाविष्णु नाम से कहे जाते हैं।

भगवान् विष्णु का परम मनोहर नित्य तरूण किशोर विग्रह है। उनके नेत्र विकसित कमलदल के समान शोभित है, मनोहर कुण्डल उनके कानों की शोभा बढ़ाते हैं। उनकी भुजाऐं विशाल हैं। अंग–अंग से उदारता दिखाई देती है। सब प्रकार के आभूषण उनके सुन्दर विग्रह की शोभा बढ़ाते हैं। उन्होने पीताम्बर धारण कर रखा है। वे दिव्य शक्ति से सम्पन्न है। उन्होने स्वर्णमय यज्ञोपवीत धारण कर रखा है। कौस्तुममणि

---

1. श्री विष्णुपुराण 1/17/22 *2. श्री विष्णुपुराण 1/1/31*
3. हरिवंश 1/49/8–10 *4. ब्रह्मवैतर्त ब्रहमखण्ड 17/16*

से उनकी शोभा और बढ़ गयी है। उनके गले में तुलसी की माला है, वक्षस्थल में श्रीवत्स का चिन्ह सुशोभित हो रहा है। देवता–असुर सभी उनके चरणों में मस्तक झुका रहे हैं। बारह अंगुल विस्तृत तथा आठ दलों से विभूषित अपने हृदय–कमल के आसन पर सर्वव्यापी परात्पर विष्णु के अव्यक्त स्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

महाविष्णु का एक ध्यान "ॐ" (प्रणव) में स्थित तथा अनुपम बतलाया है, परब्रह्म परमात्मा वाच्य कहे गये हैं और प्रणव उनका वाचक कहा गया है।

अनेक ग्रन्थों में भगवान विष्णु के अनेक प्रकार के ध्यान एव प्रार्थनाएं लिखी है, जिनमें विष्णु तत्व का सरल सुबोध उत्तम ज्ञान प्राप्त होता है।

1. **यं ब्रह्मा वरूणेन्द्ररूद्रमरूतः स्तुवन्त दव्यैः स्तवै।**
   वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।।
   ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो।
   यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः।।

ब्रहमा, वरूण, इन्द्र, रूद्र और मरूद्गण जिनका दिव्य स्तोत्रों द्वारा स्तवन करते हैं। सामगान करने वाले अंग, पद क्रम और उपनिषदों के सहित वेदों द्वारा जिनका गान करते है, ध्यानमग्न एवं तल्लीन चित्र से योगी जिनका साक्षत्कार करते हैं और जिनका साक्षात्कार करते है और जिनका पार सुर और असुर कोई भी नहीं पाते उन भगवान् विष्णु को नमस्कार हैं।

2. **शान्ताकारं भुजंगशयनं पद्मनामं सुरेशं।**
   विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्ण शुभांगम।।
   लक्ष्मीकान्त कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्य।
   वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्।।

जो शान्तस्वरूप है, शेषशायी है, कमलनाथ और सुरेश्वर है, जो विश्व के आधार, आकाश के समान निर्लेय मेघवर्ण और सुन्दर शरीर वाले हैं तथा जो लक्ष्मी जी के आनन्दवर्धक कमलनयन और योगियों के द्वारा ध्यानमग्न हैं, तथा सर्वलीकों के एकमात्र स्वामी भय–भयहारी भगवान विष्णु को मैं वन्दना करता हूॅ।

3. **सशंखचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरूहेक्षणम्।**
   सहारवक्षः स्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिखा चतुर्भुजम्।।

---

1. श्रीमद्भागवत 12/13/1   2. श्रीमद्भागवत 12/13/5

जो शंख, चक्र धारण किये है, किरीट और कुण्डलों से विभूषित, पीताम्बर ओढ़े हुए हैं, सुन्दर कमल के समान जिनके नेत्र हैं, और जिनके हारयुक्त वक्षस्थल पर कौस्तुममणि की अंगूठी शोभा हो रही है।

4. **उद्यत्कोट्यर्कसदृशं शंख चक्रं गदाम्बुजम्।**
दधतं च करैर्भूमिश्रीभ्यां पार्श्वद्वयान्वितम्।।
श्रीवक्तवक्षसं भ्राजत्कौस्तुमामुक्तकन्धरम्।
हारकेयूवलयांगद पीताम्बरं स्मेत।।

जिनकी दिव्य कान्ति उदयकाल के कोटि–कोटि सूर्यो के समान है, भू–देवी तथा श्री–देवी जिनके उभय पार्श्व की शोभा बढ़ा रही है। जिनका वक्षस्थल श्रीवास चिन्ह से सुशोभित है, जो अपने गले में चमकीली कौस्तुममणि धारण करते है और हार, केयूर, वलय तथा अंग आदि दिव्य आभूषण जिनके श्री अंगों में सजकर शोभित हो रहे हैं, उन पीताम्बरधारी भगवान विष्णु का चिन्तन करना चाहिए।

विष्णु का सृष्टिकारक रूप

भगवान विष्णु की महिमा सभी शास्त्रों में पायी जाती है, साथ ही साथ कर्म, भक्ति, ज्ञान आदि का गौरव सर्वत्र दिखाई देता है। अद्बैत दृष्टि से सिद्धि की प्राप्ति के लिये उपासक में विशिष्ट गुण या योग्यता का अस्तित्व मानने की भी आवश्यकता होती है जिस दृष्टि से मूल में अखण्ड सत्ता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, उसमें अन्तोगत्वा उसी की सामर्थ्य मानने के सिवा दूसरा चारा नहीं है। तिरोधान या आत्मसंकोच जिस प्रकार परमात्मा के निज स्वात्रंय से होता है। वे अपनी इच्छा से लीला के बहाने अपने को संकुचित करते हैं, फिर अपनी इच्छा से ही उस संकोच का परिहार भी करते हैं। निग्रह या अनुग्रह मूल में उनकी स्वभाविक शक्ति के खेल मात्र है। जिस प्रकार एक सत्ता मूल में अपने एकत्व की रक्षा करती हुई भी दो या बहुत रूप धारण कर सकती है उसी प्रकार फिर मूल अद्वैत स्वरूप में विभिन्न रूपों की स्थापना भी कर सकती है। परमेश्वर की कृपा या अनुग्रह स्वतंत्र या निरपेक्ष है। किसी की भी उसे अपेक्षा नहीं रहती। ये बातें पूर्ण कृपा से सम्बन्ध की हैं, परन्तु अपूर्ण कृपा भी निम्न स्तरों में होती है। वह अत्यन्त विचित्र है। उसकी महिमा शास्त्रों में विभिन्न स्थलों में वर्णित हुई है। वास्तव में अपूर्ण कृपा भी अपूर्ण नहीं है। कृपामात्र ही पूर्ण है और उसका लक्ष्य भी सर्वत्र अभिन्न है, फिर भी कृपा में तीव्रता, मन्दता आदि के भेद से मात्रागण वैचित्य है। मात्रा की न्यूनता के कारण पूर्ण कृपा भी अपूर्ण सी ज्ञात होती है। सत्य–कृपा मन्दमात्रा में प्रकट होने पर भी दीर्घकाल में परम् लक्ष्य पर पहॅुचा देती है। जहॉ कृपा अत्यन्त तीव्र होती है, वहॉ वह पूर्णरूप से निरपेक्ष रहती है। भोद केवल इतना ही है कि लक्ष्य प्राप्ति के विषय में कृपा के साथ कुछ दूसरे व्यापारों की भी आवश्यकता होती है। जो लोग कृपा को सापेक्ष कहते हैं, उनके मत में भगवानकृपा के उदय में कहीं जीव का मल–पाक, कहीं कर्म–साम्य, कहीं सन्यास और कहीं काल विशेष निमित्त माने जाते हैं। अवस्था के भेद से प्रत्येक मत में कुछ न कुछ सत्यांश निहित रहता है परन्तु अद्वैत दृष्टि से इनमें से किसी के ऊपर भगवत्कृपा निर्भर नहीं रहती, अर्थात् किसी ब्राह्य निमित्त के न रहने पर भी, एकमात्र भी भगवान के स्वतंत्र्य से ही अनुग्रह शक्ति प्रकट होती है, इसलिए उनकी कृपा अद्वैत की कृपा कहीं जाती है अर्थात् जीवों के आणव मल के परिपाक होने पर उनके विरूद्ध कर्मों के समता को प्राप्त होने पर , उनमें भोग वैतृष्ण्य गुण का वैतृष्णय उदय होने पर, उनमें कोई विशिष्ट धर्म संस्कार के रूप में विद्धमान होने पर, सत्संग

पूजा, अर्चना का नित्यभ्यास रहने पर तथा भोग की पूर्णता लक्षित होने पर, भगवान की कृपा प्रकट होती है, यह मत सत्य नहीं है। इन सब निमित्तों के रहने पर भी कृपा हो सकती है, कदाचित् इनके न रहने पर भी कृपा लाभ हो सकता है। कभी–कभी इन सब हेतुओं के रहने पर भी कृपा का उदय नहीं होता, ये सब निमित्त भगवान् के कृपा करने के लिये प्रेरित नहीं कर सकते, वे स्वतंत्र है। वास्तव में उनकी कृपाकाल की भी प्रतीक्षा नहीं करती।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि भगवत्कृपा में यदि किसी प्रकार कर निमित्त न रहे तो व्यक्ति विशेष में उसकी अभिव्यक्ति में जो कभी या अधिक लक्षित होती है, वह क्यों? यदि शक्तिपात्र एक ही हो तो उसके फल में तारतम्य क्यों होता है? इस उत्तर यह है कि शक्तिपात।

विष्णु का सद्स्वरूप

वैष्णव धर्म विष्णु की भक्ति उपासना पर आधारित है। उसमें विष्णु के व्यापक स्वरूप की अभिव्यंजना हुई है। भारत की धार्मिक परम्परा में विष्णु को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। उन्हें जगत्पालक कहा गया है और जगत्सहारक सदाशिव के साथ आद्य देवता के रूप में उनकी पूजा की जाती है। ये दोनों देवता ऐसे हैं, जिनके प्रति भारतीयों में आदि काल से अब तक समान श्रद्धा एवं भक्ति ही है। भारतीय संस्कृति भी उनके प्रभावित है। विष्णु भारत के धार्मिक इतिहास में शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय, परवर्तीकालीन समस्त धार्मिक सम्प्रदायों के मूल और शिव दोनों का उत्तर वैदिक युग में मानवीकरण हुआ और इस रूप में उनकी देवपासना प्रारम्भ हुई। शिव का मानवी रूप शिवोपासना के रूप में और विष्णु का मानवी स्वरूप वैष्णवोपासना के रूप में प्रचलित हुआ। इस प्रकार भारत के धार्मिक इतिहास में शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय, परवर्ती समस्त धार्मिक सम्प्रदायों के 'मूल उत्स' या उद्गम स्रोत बने।

वेद एवं वैदिक साहित्य में विष्णु को सात्वत् लोगों ने वासुदेव भक्ति के रूप में और ब्राह्मणादि ग्रन्थों ने नारायण भक्ति के रूप में प्रचलित किया। आगे चलकर पुराणों में विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना हुई। जिनमें कृष्ण और राम प्रमुख है और इस प्रकार इन अवतारों के भी नये धार्मिक सम्प्रदाय बने। पुराणों में विष्णु को प्रथम स्थान का देवता माना गया है, जबकि वैदिक साहित्य में विष्णु स्थान इन्द्र, वरूण, अग्नि के बाद चतुर्थ है। ऋग्वेद के एक मंत्र (1/22/19) में विष्णु को इन्द्र का योग्य सहायक बतलाया गया है।

"विष्णु" शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानों ने दो प्रकार से की है। प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार "सतत् क्रियाशील (विष) रहने वाले तथा सौर स्वरूप होने के कारण उन्हें "विष्णु" कहा गया और दूरी व्युत्पत्ति के अनुसार विश्व की उत्पत्ति (विभ) करने के बाद उसको व्यापक करने के कारण "विष्णु" कहलाये, जैसा कि "विष्णुसहस्रनाम" की टीका में भी लिखा गया है।

"चराचरेषु भूतेषु वशनात् विष्णुरूच्यते"

ऋग्वेद में ऐसा उल्लेख हुआ है कि अपने तीन पगों से विष्णु ने पृथ्वीलोक, पाताल लोक और अन्तरिक्ष लोक का नाम लिया था। ऋग्वेद के अन्य मंत्रों (1/155/5,1/22/20) आदि में कहा गया है कि तृतीय पद विष्णु का परम पद है।

उसे विद्धजन आकाश में सदा दृष्टि लगाकर देखा करते हैं। विष्णु के उस परम पद में आनन्द रस का स्रोत विद्यमान है।

ऋग्वेद के अन्य संदर्भों (1/155/5/165/1) में कहा गया है कि विष्णु अत्यन्त पराक्रमी, विधि नियमों के पालनकर्ता और बढ़कर माना गया है – "अग्निर्वे देवानामवमो विष्णुः परमः " इसी प्रकार "शतपथ ब्राह्मण" (14/1/1/1/2/5) में विष्णु को यज्ञ में अन्य देवताओं से बढ़कर काम करने वाला बताया गया है। वे समस्त भू–लोक में विचरण करने वाले अलौकिक शक्ति सम्पन्न देवता है।

ऋग्वेद और ब्राह्मणग्रन्थों के उक्त सन्दर्भों की समीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण काल में इन्द्र से देवराज का पद विष्णु को प्राप्त हो गया था और विष्णु की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए "इन्द्रसूक्त" की भॉति "विष्णुसूक्त" की भी रचना की गई। इतना ही नहीं, अपितु अपने सन्दर्भों से यह भी विदित होता है कि हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषभ तथा वैकुण्ठ आदि जो पर्याय इन्द्र के थे, वे विष्णु के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने लगे थे। (वैष्णवधर्म पृ0 14–15)

विष्णु के अवतारों के सम्बन्ध में वेदों में प्रायः कुछ नहीं कहा गया है। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ और पुराणों में विष्णु के विभिन्न अवतारों का उल्लेख किया गया है। महाभारत (शा0 326/825) में विष्णु के दस अवतारों का उल्लेख हुआ है। उनके नाम है– 1. वाराह , 2.नरसिंह , 3. वामन, 4. परशुराम, 5. राम दाशरथि, 6. वासुदेव कृष्ण, 7. हंस, 8. कूर्म, 9. मत्स्य और 10.कल्कि। "वायुपुराण" तथा वाराहपुराण में विष्णु के दश की अवतार बताये गये हैं किन्तु उनमें से कुछ नामान्तर है। महाभारत काल में देवताओं में विष्णु का सर्वाधिक महत्व बताया गया है। उन्हें सृष्टि का नियन्ता एवं शास्ता माना गया है। इस युग में नारायण, विष्णु और वासुदेव तीन देवता एकरूप हो गये थे और उनकी उपासना सम्मिलित रूप मे की जाती थी। महाभारत (शा0 43) में विष्णु को बहुघा परमात्मा के रूप में माना गया है और नारायण तथा वासुदेव उन्हीं के स्वरूप बताये गये हैं।

महाभारत के "नारायणीय उपाख्यान" में नारायण की उपासना का विस्तार से उल्लेख हुआ है। नारायण ने अपने एकान्तिक धर्म का कथन सर्वप्रथम महार्षि नारद को किया था। उसी को नारायण ने राजा जन्मेजय को उपदेश देते समय हरिगीता में कहा था। यह उपदेश इससे पूर्व कृष्ण रूपधारी नारायण ने भारतीय युद्ध के समय अर्जुन को

दिया था। वह उपदेश सात्वत् धर्म का था। इस सात्वत् धर्म के उपदेश में यज्ञमार्ग और तपस्या मार्ग का परित्याग कर निर्लिप्त भक्ति श्रेष्ठ कहा गया है। इसी सम्प्रदाय के अधिष्ठान श्रीकृष्ण जो कि नारायण अथवा वासुदेव के अवतार कहलाये। नारायण के इसी कृष्ण अवतार ने "भगवत्‌गीता" का प्रणयन कर वैष्णव धर्म का पुनरूत्थान किया।

पुराणों में सत्वगुण प्रधान देवता विष्णु को जगत का संचालक एवं पालक बताया गया है। विभिन्न युगों में नानाविध अवतार धारण कर उन्होने दुष्टों का संहार किया और पृथ्वी की रक्षा की। वह विश्वातमा का विश्वरूप सात्विक तत्व है। उसका मुख्य कार्य संयोजन, धारण, केन्द्रीयकरण तथा संरक्षण है। वह सर्वत्र व्याप्त है। समस्त पृथ्वी का स्वामी है और विध्वसंक शक्तियों का दमन करता है। सभी शक्तियों पर उसका प्रभुत्व है, वह विष्णु हैं।

जब विष्णु देवता शयन करते हैं तो सम्पूर्ण विश्व अपनी अव्यव्यवस्था में पहुँच जाता है। व्यक्त सृष्टि के अवशेष नाम ही "शेष" है, जो कुण्डली मार के अनन्त जलराशि पर तैरता रहता है। शेषशैया विष्णु की नारायण कहलाते हैं, जिसका अर्थ है "नार" जल पर आवास करने वाला, अथवा जिसमें समस्त मनुष्यों का आघान (आवास है) विष्णु "चतुर्हस्तहै" और चारों हाथों में शंख, चक्र, पदम धारण किये हुए हैं।

विष्णु का पालक एवं रक्षक रूप

1. **संसार सागरं तर्तुं य इच्छेत् मुनिपुंङवः।**
   स भजेद्वरिभक्तानां भक्तान् वै पापहारिणः।।
   दृष्टः स्मृतः पूजितो वा ध्यातः प्रणमितोऽपि वा।
   समुद्धरति गोविन्दो दुस्तरात् भवसागरात्।।

जो संसार सागर के पार जाना चाहता हो वह भगवान भक्तों के भक्तों की सेवा करें, वे सब पापों को हर लेने वाले हैं। दर्शन, स्मरण, ध्यान अथवा प्रणाम मात्र कर लेने पर भगवान गोविन्द दुस्तर भवसागर से उद्धार कर देते हैं।

2. **भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां,**
   सुतदुहितकलत्रत्राण भारार्दितानाम्।
   विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां,
   भवतु शणमेको विष्णुपोतो नराणाम्।।

---

1. नारदपुराण पर्व 39/5–6,　　　*2. श्री मुकुन्दमाला 11*

जो संसार सागर में गिरे हुये हैं, (सुख-दुखादि) द्वन्दरूपी वायु के थपेड़ों से आहत हो रहे हैं, पुत्र-पुत्री-स्त्री आदि के पालन-पोषण के भारत से पीड़ित है और विषयरूपी विषम जलराशि में बिना नौका डूब रहे हैं, उन पुरूषों के लिये एकमात्र विष्णुरूप जहाज की ही शरण हों।

3. **ध्यायन्ते वैष्णवाः शश्वद् गोविन्दपदपंकजम्,**
ध्यायते तांश्च गोविन्द। शश्वत्तेषां च संनिधौ।
सुदर्शनं सनियोज्य भक्तानां रक्षणाय च,
तथापि नहि निश्चिन्तोऽवतिष्ठेदभक्त संनिधौ।।

वैष्णव जन सदा गोविन्द के चरणारविन्दों का ध्यान करते हैं और बदले में भगवान गोविन्द उनका ध्यान ही नहीं करते, वरन् सदा उनके निकट रहते हैं। भक्तों की रक्षा के लिये सुदर्शन चक्र को नियुक्त करके भी श्रीहरि निश्चिन्त नहीं होते, अपितु स्वयं भी उनके पास उपस्थित रहते हैं।

4. **साकेत्यं परिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा,**
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहं विदुः।

जैसे-तैसे संकेत के रूप में परिहास में, गाते समय, सहारे के लिये या अवहेलना पूर्वक भी लिया गया विष्णु का नाम अवशेष पापों का ध्वंसक है।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विद्धतै यान्ति तन्मयतां हिते।।

काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता तथा मित्रता इनमें से किसी भी भाव से हरि का नित्य भजन करने वाले मनुष्य विष्णु के स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण ने भगवत् गीता के दशवें अध्याय के 21 वें श्लोक में अपनी दिव्य विभूतियों में अपने आपको ''विष्णु'' कहकर इस बात की ओर, और भी पुष्टि की है, ''आदित्यानामहं विष्णु''।

भगवान विष्णु संसार के रक्षक के रूप में हैं, और यह भली-भॉति ज्ञात है कि रक्षा करने के लिये शक्ति की बड़ी आवश्यकता होती है इसलिये भगवान वृजेन्द्रनन्दन ने अपनी शक्ति की महिमा बतलाते हुये कहा है- हे भारत् जब-जब भी धर्म का ह्रास और अधर्म का उत्थान होता है, तब-तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। मैं साधु-पुरूषों के

---

3. ब्रह्मवैवर्तपुराण 11/44/45 *4. श्रीमद्भागवत 6/2/14*

परिक्षणार्थ तथा दुष्टों का विनाश करने के लिये एवं धर्म को सस्थापित करने के लिये युग–युग में प्रकट होता हूँ।

शारीरिक शक्ति से भी बौद्धिक शक्ति विशेष प्रबल है। भगवान् विष्णु में ये दोनों ही शक्तियां अपरिमेय रूप से मिलती है। अतः वे देवों में सर्वशक्तिमान और चतुरमत रूप में प्रसिद्ध हैं। धर्मज्ञ जानते हैं कि, जब कभी शिव ब्रह्मा तथा इतर देवों पर विपत्ति आयी, वहां भगवान विष्णु ने ही उनकी रक्षा की है। उदाहरणार्थ उन्होंने समुद्रमंथन में मोहनीरूप धारण कर हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के वध में बराह तथा नृसिंह रूप धारण कर वृतासुर वध में वज्र में प्रविष्ट होकर, बलि मान–मर्दन में वामनरूप धरकर, रावण–कुम्भकर्ण वध में दशरथनंदन बनकर तथा दन्तवक्र, शिशुपाल और कंस का विनाश करने के लिये योगेश्वर कृष्ण बनकर अपनी दोनों ही शक्तियों को भॅली–भॉति प्रकट किया।

उपनिषद और विष्णु का क्षर रूप, विष्णु का अक्षर रूप

भगवान विष्णु सच्चिदानन्दधन परमात्मा अपने आपसे परिपूर्ण हैं, यह संसार भी उस परमात्मा से परिपूर्ण हैं क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा से ही यह सम्पूर्ण संसार प्रकट है। संसार के पूरक परमात्मा को स्वीकार करके उसमें स्थित होने से उस साधक के लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है :–

1. **ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।**
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिस्यते।।

उपनिषदों में दार्शनिक सृष्टि से परमात्मा की प्राप्ति के लिये दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक संकेत तथा विधि, निषेधात्मक विविध वाक्यों के द्वारा विविध युक्तियों से विभिन्न साधन बतलाये गये हैं, उनमें से किसी भी एक साधन के अनुसार संलग्न होकर मनुष्य को परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

वैष्णवधर्म में 1. भेदोपासना और 2. अभेदोपासन ये दो उपासनाओं के अन्तर्गत आते हैं। भेदोपासना के भी दो प्रकार हैं। एक तो वह जिसमें साधन में भेदभावना रहती है और फल में भी भेदरूप ही रहता है, और दूसरी वह जिसमें साधनकाल में तो भेद करता है, परन्तु फल में अभेद होता है, पहले क्रमशः हम भेदोपासना पर ही विचार करते हैं :–

---

1. वृहदारण्यक 5/1/1

भेदोपासना के रूप

भेदोपासना में तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं :–

1. माया (प्रकृति) 2. जीव और 3. मायापति परमेश्वर। इनका वर्णन उपनिषदों में कई जगह आता है। प्रकृति जड़ है, और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग, क्षणिक, नाशवान् और परिणामी है। जीवात्मा और परमेश्वर दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं, किन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ है। जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्व समर्थ है। जीव अंश है परमेश्वर अंशी है। जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी है, जीव उपासक और परमेश्वर उपास्य है। वे ही परमेश्वर समय–समय पर प्रकट होकर जीव के कल्याण के लिये उपदेश भी देते हैं।

प्राणियों में जो कुछ भी बल, बुद्धि तेज एवं विभूति है यह ब परमेश्वर ही है :–

2. **यद्यदिवभूतिमत्सत्वं, श्रीमदर्जितमेव पा।**
तत्रदेवावगच्छ एवं मम, तेजोंऽशसम्भवम्।।

जो–जो विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और भक्तियुक्त वस्तु है, उस–उसको तूं मेरे तेज के अंशकी अभिव्यक्ति ही जान।

इस प्रकार उपनिषदों में कही साकार रूप में कहीं निराकार रूप में कहीं क्षर रूप में कहीं अक्षर रूप में, कहीं सगुणरूप में कहीं निर्गुण रूप से भेद उपासना का वर्णन आता है। यहां यह भी कहा गया है कि उपासक अपने उपास्य देव की जिस भाव से उपासना करता है, उसके उद्देश्य के अनुसार ही उसकी कार्य सिद्धि हो जाती है। सगुण निर्गुण रूप ओंकार की उपासना का भेदरूप से वर्णन करते हुये यमराज नचिकेता से कहता है:–

1. **एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम।**
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।
एतदालम्बनः श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञाखा ब्रह्मलोके महीयते।।

यह अक्षर ही तो ब्रह्म है, और अक्षर ही पर ब्रह्म है, इसी अक्षर को जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है। यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बन को भली–भॉति जानकर साधक ब्रह्मलोक में महिमान्वित है।

---

2. भगवद्गीता 10/41 *1. कठोपनिषद 1/2/16–17*

यह परमेश्वर इस शरीर के अन्दर सबके हृदय में निराकार रूप से सदा सर्वदा विराजमान रहते हैं। जो उन परमेश्वर की उपासना करता है, उन्हें जान लेता है वह सम्पूर्ण दुःखों और शोक समूहों से निवृत्त होकर परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

2. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजायते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादृत्य नक्षत्रन्यो अभिचाकशीति।।
समाने वृक्षे पुरूषों निमग्नो ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यन्तयन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः।।
यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णम् कर्तारमीशं पुरूषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरन्जनः परमं साम्यमुपैति।।

एक साथ रहने वाला तथा परस्पर सखाभाव रखने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं। उन दोनों में से एक तो उस वृक्ष के कर्मरूप फलों का स्वाद ले लेकर उपभोग करता है, किन्तु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीर रूपी समान वृक्ष पर रहने वाला जीवात्मा शरीर की गहरी आसक्ति में डूबा हुआ है। और असमर्थता रूप दीनता का अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है।

किन्तु जब कभी भगवान की अहेतु की दया से भक्तों द्वारा नित्य सेवित तथा अपने से भिन्न परमेश्वर की और उनकी महिमा को यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है, तथा जब यह दृष्य (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्मा के भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत के रचयिता, दिव्य प्रकाश स्वरूप परम् पुरूष को प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य–पाप दोनों से रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समता को प्राप्त कर लेता है।

वह सगुण–निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियों से रहित होकर भी इन्द्रियों के विषय को जानने वाला है। व सबकी उत्पत्ति और पालन करने वाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, अकारण दयालु और परम–प्रेमी हृदय–स्थित निराकार परमेश्वर की स्तुति अत्यावश्यक है।

श्वेताश्वतरोनिषद में परमेश्वर की भेदरूप से उपासना का वर्णन विस्तार सहित आता है :–

1. **''सर्वेन्द्रियगुणामासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।**
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं वृहत्।।

---

2. मणुकोपनिषद 3–1–1–3 1. श्वेताश्वतरोपनिषद 3/16

जो परमेश्वर परमपुरूष समस्त इन्द्रियों से रहित होकर भी समस्त इन्द्रियों के विषय को जानता है, तथा सबका स्वामी, सबका शाशक, और सबसे वड़ा आश्रय है। उसकी शरण जाना चाहिये।

2. **अणोरणीयान् महतो महीयानात्या गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।**
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।।

वह क्षर, अक्षर रूप परमेश्वर सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और बड़े से भी वहुत बड़ा परमात्मा इस जीव की हृदयरूप गुफा में छिपा हुआ है। सबकी रचना करने वाले परमेश्वर की कृपा से जो मनुष्य उस संकल्पिरहित परमेश्वर को और उसकी महिमा को देख लेता है, वह सब प्रकार के दुःखों से रहित होकर आनन्द स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।

3. **सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य सृष्टारमनेकरूपम्।**
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञाखा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति।।

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म हृदयगुहारूप गुहजस्थान के भीतर स्थित, अखिल विश्व की रचना करने वाला, अनेक रूप धारण करने वाला तथा समस्त जगत को सब ओर से घेरे रखने वाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप शिवं को जानकर शान्ति प्राप्त हो सकती है।

4. **यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिगोति तस्मै।**
त ग्वं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।

जो परमेश्वर निश्चय ही सबके पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, जो निश्चय ही उस ब्रह्मा को समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्माविषयक बुद्धि को प्रकट करने वाला प्रसिद्ध देव परमेश्वर की शरण लेता हूँ।

जो मनुष्य माया (प्रकृति) जीव और परमेश्वर को भिन्न–भिन्न समझकर उपासना करता है, वह यह समझता है कि ईश्वर प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है क्योंकि जीव भिन्न होते हुये भी ईश्वर का अंश होने के कारण अभिन्न ही है। इसलिये प्रकृति और जीव दोनों ही परमात्मा भिन्न होते हुये भी अभिन्न ही है।

सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, क्षर और अक्षर, सर्वसमर्थ और असमर्थ ये दोनों परमात्मा और जीवात्मा अजन्या हैं, तथा भोगने वाले जीवात्मा के लिये उपयुक्त भोग्य सामग्री से युक्त

---

2. श्वेताश्वतरोपनिषद 3/20 3.श्वेताश्वतरोपनिषद 4/10–11 4. श्वेताश्वतरोपनिषद 6/18

और अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है। इन तीनों में जो ईश्वर तत्व है, वह शेष दो से विलक्षण हैं, क्योंकि वह परमात्मा अनन्त सम्पूर्ण रूपों वाला और कर्तापन के अभिमान से रहित है।

--क्षर रूप अक्षर रूप में अभेदोपासना--

क्षर, अक्षर रूप में अभेदोपासना के चार रूप हैं, उनमं पहले दो भेद "तत्" पद को और बाद के दो भेद "त्वम्" पद को लक्ष्य करके कहा गया है।

1. इस चराचर जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है, कोई भी वस्तु सच्चिदानन्द धन परमात्मा से भिन्न नहीं है।

2. वह निर्गुण निराकार निष्क्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षर भंगुर नाशवान् जड़ दृश्यवर्ग माया से सर्वथा अतीत है।

3. जड़–चेतन, क्षर–अक्षर, स्थावर जड़म्, सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है।

4. जो नाशवान् क्षणभंगुर, मायामय, दृश्यवर्ग से, अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है वह सब उसी का रूप हैं।

यह अमृतस्वरूपअक्षर रूप परब्रह्म ही सामने हैं, वहीं पीछे हैं, वहीं दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचे की ओर तथा ऊपर की ओर फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण जगत है वह क्षर, अक्षर रूप ब्रह्म ही है–

1. **ब्रह्वेदमभृतं पुरस्ताद्रहज पश्चादृश्य दक्षिणतश्चोत्रेण।**
अधश्चादर्व च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।

यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय ब्रह्म से ही है – "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"।

2. "तत" पद के लक्ष्य क्षर–अक्षर रूप ब्रह्म के स्वरूप का है, जो कुछ जड़–चेतन स्थावर–जड़म चराचर संसार है, वह सब ब्रह्म ही है। वह निर्गुण–निराकार अक्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षण भंगुर नाशवान् जड़ दृश्यवर्ण माया से सर्वथा अतीत है।जो कुछ यह दृश्य वर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक है वास्तव में एक विज्ञानानन्दधन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के अनुभव से वह इस जन्म मृत्युरुप संसार से मुक्त होकर अनन्त विज्ञान आनन्दधन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

---

1. मुण्डक 2/2/11 1.

वह क्षर–अक्षर रूप ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्ध रहित है, तथ जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम) महतत्व से परे एवं सर्वथा सत्य तत्व है, उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से पास हो जाता है–

1. **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।**

अनादृश्नन्तं महतः परं ध्रुवं निचाच्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।।

वह निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रों से न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तपसे अथवा कर्मों से भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता है, उस अवयव रहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तः करण वाला साधक उस विशुद्ध अन्तः करण से निरन्तर उसका ध्यान करता है।

2. **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देपैस्पसा कर्मणा वा।**

ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं दयायमानः।।

ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप ओर अनन्त है :– "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

गीता में कहा गया है– सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त आत्मा वाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा मं कल्पित देखते हैं :–

सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। (गीता 6–29)

इस प्रकार क्षर–अक्षर रूप सच्चिदानन्दधन परमात्मा स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया गया है। वस्तुतः वह महान्, अजन्मा, आत्मा, अजर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही अभय ब्रह्म हो जाता है।

1. **"सवा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोड़मयो ब्रह्मामयं।**

वै ब्रह्मामय ग्वं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद"।।

---

1. कठोपनिषद 1/3/15 2. मणुकोपनिषद 3/1/8 1. *वृहदारण्यक 2/4/6*

--विष्णु की भक्ति--

भगवान विष्णु वैष्णवधर्म के परमाराध्य देवता है। वैदिक ऋचाओं में भगवान विष्णु के तत्व दर्शन गर्भित है, जो अनन्य साधारण तथा अनिर्वचनीय है। वस्तुतः भगवान् विष्णु के रहस्य का समुरधारन साधारण मनुष्य के पक्ष में सहज साध्य नहीं है। किस काल से किस कारण भगवान् विष्णु दारूब्रह्म रूप में पूजित होने का सार मर्म क्या है। यह निःसन्देह भाव से स्थिर निर्णय करना अत्यन्त व्यापार है। भगवदीय तत्वों का भक्तिपरक विवेचन ऋग्वेद में वर्णित है:-

अदो यद्‌दरू प्लवते सिन्धोः´ पारे अपूरूषम्।

तदा रमस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम्।। (10/155/3)

वेद भाष्यकार सायणाचार्य ने उक्त मन्त्र की जो व्याख्या की है, उसका भाव इस प्रकार है- जो अपौरूषेय पुरूषोत्तम नामवाले दारूमय देवता सिन्धु तीर में जल के ऊपर भासमान है- हे स्तोता! तुम उन्हीं दारूका आलम्बन करो। उन्हीं समुयास्य दारूमय देवता की सहायता एवं करूणा से तुम परम उत्कृष्ट वैष्णवोक को प्राप्त हो।

उस परम तत्व के सम्बन्ध में वेदों में वर्णित है-

1. **किं स्विद्‌वनं क उ स वृक्ष आस,**
   यतो दृयावायृथिवी निष्टतक्षुः।
   मनीषिसो मनसा पृच्छतेदु।
   तद् यद्ध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।

वह कौन सा वन है ? वह कौन सा वृक्ष है, जिससे आकाश और पृथ्वी निर्मित है। मनीषी लोग जिज्ञासा करें तथा अपने मन में ही प्रश्न करें कि अधिष्ठान क्या है, जो भुवनों को धारण कर रहा है।

बीज से वृक्ष और वृक्ष से ही बीज की सृष्टि होती है। बीज और वृक्ष तथा सूक्ष्म और स्थूल घनिष्ठता से सम्प्रक्त है। विश्वसृष्टि रूप विशाल वृक्ष के मूल में ही ब्रह्म् बीज है। मूल सृष्टि के मूल में सूक्ष्म तत्व निहित है। व्यष्टि का समाहार समष्टि है। वृक्ष का समाहार ही वन है। वृक्ष के बिना वन असम्भव है। सृष्टि वृक्षक अवषोध के लिये वृक्ष की सहायता अनिवार्य है। सृष्टि वृक्ष को समझने के लिये दारूधारणा अनिवार्य है। सृष्टिदारू के मूल में ब्रह्मदारू है। असीम रहस्यों से भरे हुये इस संसार की एक वृक्ष के रूप में कल्पना करना, युक्ति-युक्त, सुषोदय, सहजानुभव्य तथा अपूर्व कवित्वसमन्वित है। वैदिक

---

1. *ऋग्वेद 10/81/14*

ऋचा में इस दृश्य जगत् का वर्णन इस प्रकार है :–

2. **ऊर्ध्वम्लोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः**
तदेव शुक्रं तदं ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।।
तस्मिंलोकाः श्रिताः सर्वे तदुनाप्येति कश्चन्। एतद्वैतत्।

यह प्रत्यक्ष जगत है सनातन पीपल का वृक्ष है। जिसका मूल ऊपर की ओर, और शाखा नीचे की ओर है। इस वृक्ष के मूल एक विशुद्ध तत्व ईश्वर हैं, वे ही ब्रह्म हैं। वे ही अश्वत्थ के नाम से कार्यरत् हैं। उस ब्रह्म में सभी लोक आश्रित हैं। कोई उसे अतिक्रम नहीं कर सकता है। यही है वह परमात्म तत्व।

संसाररूप अश्वत्थ–वृक्षका मूल ऊर्ध्व में है, अर्थात् ब्रह्म ही संसार का मूल है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त के 20वें मंत्र में वर्णित है :–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिस्वजायते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्रन्त्रन्यो अभिचाकशीति।

एक वृक्ष पर दो पक्षी (जीवात्मा तथा परमात्मा) बन्धुभाव से विराजमान हैं। उन दोनों एक फल को भोगता है, एवं दूसरा नीरव होकर साक्षीभाव से फल न खाकर अवस्थान करता है।

संसार–वृक्ष के मूल में ब्रह्मबीज है, सूक्ष्म–ब्रह्म से ही विशाल ब्रह्माण्ड का परिप्रकाश होता है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों संसार वृक्ष में विराजित हैं। जीवात्मा वहीं आसक्त हैं, किन्तु परमात्मा अनासक्त है। भक्ति–मुक्ति फलदायक परमज्ञान कल्पतरू ब्रह्मदारू ही दारूब्रह्म भगवान् विष्णु के रूप में नित्य नमस्य, नित्य वन्दनीय तथा नित्य उपास्य है। सृष्टि के मूल में विष्णु है एवं सृष्टि में सर्वत्र अनासक्त भाव से विराजमान हैं। भगवान विष्णु में ब्रह्मदारू की उपमा सर्वतोभाव से सार्थक सफल है। स्वभावतः ब्रह्मदारू विपरीत–भाव से तो दारूब्रह्म के रूप में श्री क्षेत्र पर विराजित है। भक्ति और मुक्ति रूप फलद्दय उनके सम्मुख अदृश्य भाव से सतत् संनिहित है। उनका पूर्ण महत्व, यथार्थरूप साधारण लक्ष्य से अदृश्य है। स्थित घी, ज्ञानी तथा साधन भक्तजन ही अवाङगमनसगोचरम, इन्द्रियातीत मुक्ति विधायक दिव्यरूप का दर्शन कर सकते हैं और उस अनिर्वचनीय महत्व की उपलब्धि कर सकते हैं।

---

2. कठोपनिषद

भगवान विष्णु तो जगत् प्रसिद्ध वेदवेद्य परात्पर प्रभु हैं। वैदिक ऋचा के अनुसार "सर्वं खल्विदं ब्रह्मं" सर्वत्र भगवत् चिन्तन ही भगवदीय तत्वों का अभिप्राय है। भगवान जगन्नाथ व्यक्ताव्यक्त दोनों ही हैं। वे अनिर्वाच्य हैं। वे वेदवेद्य परमेश्वर हैं, साम्य मैत्री के प्रकृष्ट देवता हैं, और श्री क्षेत्र के निवासी हैं। विष्णुधाम में निम्न वैदिक ऋचायें अक्षरसः सार्थक, सफल और शास्वत सत्य सिद्ध हैं।

1. **स जानीध्वं स पृच्यध्वं सं वो मनासिं जानताम्।**
   देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।
   समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतः सह चितमेवाम्।।
   समानेन यो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्।।
   समानी वा आकूतीः समाना हृदयानि वः।।
   समानवस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।
   सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
   अन्यो अन्यममि हर्यत वत्सं जातमिवादन्या।
   समानि प्रपा सह वोऽत्रभागः समाने योक्ते सह वो युनाज्मि।
   सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नामिमिवामितः।।

राजा, प्रजा, धनी, निर्धन, ज्ञानी और निर्वोध सभी लोग प्रभु की करूणा का लाभ करने में सक्षम है। अब्राह्मण चाण्डाल सभी एक साथ ही एकत्र जगदीश महाप्रसाद का सेवन करते हैं। शबर और ब्राह्मण उनके महाप्रसाद के लिये घनिष्ठ मैत्री पाश से आबद्ध हैं। भगवान विष्णु सौम्यमैत्री के श्रेष्ठ देवता हैं। श्री भगवान विष्णु के रथयात्रा का तत्व वैदिक समय की भावना पर आधारित है।

वैष्णव धर्म में भगवान विष्णु रथारूढ़ दोनों अनादि अनन्त काल से माना जा रहा है। भगवान सूर्य का सताश्व रथ इस प्रकार है :–

2. **आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्त्रभृतं मर्त्यं च।**
   हिरण्येन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।
   रथासीन विष्णु (वामन) के दर्शन से पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

3. **"मद्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते"**

---

1. अथर्ववेद 6/64/1–3 2. यजुर्वेद 33/43 . कठोपनिषद 2/2/3

अर्थात शरीर के भीतर (हृदय मध्य में) सर्वश्रेष्ठ भजनीय भगवान की सभी देवता उपासना करते हैं। हृदयरूपी रथ में ही वामन विष्णु भगवान निवास करते हैं।

भगवान विष्णु मनुष्य के अपने हाथ में हैं :–

4. **अयं में हस्ते भगवानयं मे भगवत्तरः।**
अयं मे विश्वमेषजो ऽयं शिवाभिमदर्शनः।।

अर्थात दुष्कर से दुष्कर कार्य करने में भी यह मेरा हाथ भगवान् से श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा कर्म करने पर भगवान कोक भी फल देने के लिये बाध्य होना पड़ता है। यह मेरा हाथ विश्व के समस्त रोगों का औषध और सभी समस्याओं का समाधान है। जिसका भी यह स्पर्श कर देता है, वह शिव हो जाता हैं।

संसार के सर्व पुरातन ग्रन्थ तो वेद ही हैं। भगवत्तत्व दर्शन का ऋग्वेद के निम्नं ऋचा में सुन्दर विवेचन हुआ है :–

1. **तम आसीत् तमसा गुग्वंहमग्रेऽप्रकेतं सलिग्नं सर्वमा इदम्"**
तुच्छेयेनाम्वपिहितं यदासीत तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।।

भगवान विष्णु के भक्ति एवं उनके तत्वों का वर्णन करने में सरस्वती की लेखनी भी दुर्बलता का वरण करती हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने पर भी प्रभु अपने महनीय विग्रह में अनन्त विस्तृत लोकों को धारण करते हैं।

2. **"ईशा वास्यभिदं सर्व यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।**
तेन व्यक्तेन मूज्जिंथा मागृधकस्विद्धनम्।।

भगवान विष्णु के भक्ति को मन से ही इस प्रकार जाना जा सकता है। इस जगत में एकमात्र पूर्णानन्द भगवान् ही परिपूर्ण हैं, सब कुछ उन्हीं का स्वरूप है, यहां भगवान् से भिन्न कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त जो यहां विभिन्नता की झलक देखता है, वह मनुष्य मृत्यु का प्राप्त होता है, अर्थात बार–बार जन्म–मृत्यु के पाश में बंधा रहता है :–

3. **मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।**
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इहं नानेव पश्यति।।

---

4. ऋक्–10/60/12 1. ऋग्वेद 10/129/3 2. ईशावास्योपनिषद (1) 3. कठोपनिषद 2/7/11

वस्तुतः वेद विष्णु भक्ति के आदिस्त्रोत हैं। यदि हम भक्ति का स्वरूप समझ लें तो वेदों में वर्णित भक्तितत्व को समझने में सुगमता होगी। भक्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है। ''सा पुरानुरक्तिरीश्वरे '' अर्थात परमेश्वर में अविचल और ऐकान्तिक भावना तथा आत्मसमर्पण की उत्कृष्ट आकांक्षा को भक्ति कहा गया है। ''भक्ति'' शब्द ''भज सेवायाम्'' धातु से ''क्तिन्'' प्रत्यय लगकर सिद्ध होता है। अर्थात् भक्ति हृदय की उस भावना का नाम है जिसमें साधक जहां एक ओर पूर्ण भाव से ब्रह्म में अनुरक्त हो और सर्वतोभावेन अपने को ब्रह्मार्पण करने वाला हो, वहां साथ ही ब्रह्म द्वारा रचित इस सारी सृष्टि के प्रति सेवा की भावना रखने वाला भी हो। 1– यजुर्वेद में कहा गया है :–

4. **''दृते दृग्वहं मा मित्रस्य मा चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षान्ताम्।**
मिन्तस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्व चक्षुषासमीक्षामहे''

भक्त कहता है– हे समर्थ! मुझे शक्ति सम्पन्न बनाओ। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं, और सब प्राणी मुझे मितवत् देखें। हम सब परस्पर मिलकर रहें।

भगवान विष्णु की भक्ति की एक और विशेषता है कि जिसमें उपासक साधक अथवा भक्त अपने को उद्यम, नीच पापी, खल, दुष्ट तथा पतित इत्यादि कहे अथवा प्रभु को किसी प्रकार का उपालम्भ दे। इसका कारण है कि वैष्णवधर्म में भक्ति के साथ शक्ति का सतत् और अविछिन्न सम्बन्ध माना गया है। वेदों के द्वारा भगवान् यह आदेश देते है कि निर्बल और असक्त आत्मा कभी सच्चा भक्त नहीं बन सकता। इसलिये ईश्वर हमेशा भक्त को तेज, वीर्य (शक्ति) बल, ओज और सहनशक्ति का अजस्त भण्डार मानता हुआ उसमें तेज, बल, ओज और सहनशक्ति का अजस्त भण्डार मानता हुआ उसमें तेज,बल ओज और सहनशक्ति की कामना करता है।

''तेजोऽसि तेजो मयि धेहि, वीर्यमसि वीर्यमयि धेहि, बलमसि बलं मयि धेहि, ओजोऽस्योजो मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।

भगवान विष्णु का भक्त कितना सशक्त और कितना आत्मविश्वासी है :– यह इस मन्त्र के द्वारा प्रतिपादित होता है :–

1. **कृतं में दक्षिणे हस्ते जयो मे सत्य आहितः।।**
मेरे दाये हाथ में कार्य शक्ति है और बायें हाथ में विजय है।

---

4. यजुर्वेद 36/18 1. अथर्ववेद 10/1–1

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेद में ब्रह्म के प्रति साधक की प्रणमन्, विनम्रता और आत्म लघुता की भावना का निराकरण है। निम्नलिखित मन्त्रों में भक्त कितनी तन्मयता के साथ विशाल प्रभुचरणों में अपने को नतमस्तक हो उपस्थित करता है– इसका सम्यक दर्शन यहां हुआ है।

1. **यो भूतं च भव्यं च सर्व यश्चाधितिष्ठति।**
   सर्वस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।।
2. **यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।**
   दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।
3. **गूहतागुहजं तमो वि यात विश्वमत्रिणाम्।**
   ज्योतिष्कर्ता यदुतिश्यसि।।

वैष्णवधर्म के स्तम्भ वेदों में भक्ति के उदात्र और पुनीत उद्‌गार अनेक स्थलों पर अंकित है। भगवान विष्णु अशरणों के शरण में है। हृदय गुहा के अन्धकार को विलीन करने वाले, पाप को भगाने वाले एवं हे ज्योतिर्मय भगवान् विष्णु हमें भक्ति का प्रकाश दें।

---

2. अथर्ववेद 10/6–32 *3. ऋग्वेद 1/86/10*

द्वितीय अध्याय

श्रीमद्भागवत महापुराण का परिचय एवं उसमें' वर्णित विष्णु स्वरूप तथा वैष्णव सिद्धान्त,, 43–88

- श्रीमद् भागवत महापुराण का विषय एवं रचनाकाल एवं उद्देश्य
- विष्णु का स्वरूप
- भगवान विष्णु का शयन करता हुआ स्वरूप
- विष्णु का व्यूह रूप
- विष्णु का नारायण रूप
- विष्णु के दशावतारों का वर्णन
- विष्णु के अवतारों की समीक्षा
- विष्णु की नवधा भक्ति
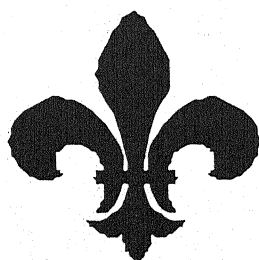
–:: श्रीमद्भागवत महापुराण ::–

विषय– रचनाकाल एवं रचना का उद्देश्य

सृष्टि के आरम्भ काल से ही ईश्वरीय तत्व किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण सृष्टि को प्रभावित करते रहे हैं। सम्पूर्ण जगत में चराचर प्राणियों द्वारा ईश्वरीय स्वरूप की सत्ता को स्वीकार किया गया।

हिन्दू त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) में विष्णु जगत के पालनकर्ता है। भगवत एवं वैष्णव सम्प्रदाय विष्णु को सर्वोच्च देवता के रूप में प्रतिष्ठापित करते हैं। वास्तव में भागवतों में विष्णु के जिस स्वरूप को स्वीकार किया गया है उसमें अनेक शताब्दियां लगीं। विष्णु पूजा से सम्बन्धित सम्प्रदाय जिसे वैष्णव सम्प्रदाय की संज्ञा दी जाती है, के वर्तमान स्वरूप तक आने से पूर्व उसके विकास क्रम का एक सुदीर्घ इतिहास है। विभिन्न मत–मतान्तरों एवं विचारों का इस पर प्रभाव पड़ा है तथा उनके निचोड़ से एक ऐसा धार्मिक पथ प्रचलित हुआ जिसने सम्पूर्ण राष्ट्र को धार्मिक जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

प्रमुखतया तीन स्वतंत्र धाराओं के समिश्रण से भागवतों के विराट रूप विष्णु की रचना हुयी।

1. दक विष्णु

2. ब्रह्मणों एवं आरण्यकों में नारायण

3. सात्वत वंश के आराध्य–वासुदेव श्रीकृष्ण।

भागवत सम्प्रदाय के विकसित रूप में भगवान विष्णु के पांच रूप माने गये हैं।

1. पर 2. व्यूह 3. विभव 4. अन्तर्यामी 5. श्री कृष्ण।

पर– उद्भूत रूप है। विभव– का तात्पर्य अवतार रूप से है। अन्तर्यामी– रूप अदृश्य और भक्तों के हृदय में स्थित रहता है। अर्चा– विग्रह (मूर्तरूप) है।

विष्णु नामक देवता का नाम ऋग्वेद के सूत्रों में आया है। वेदों में उन्हें अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रासंगिक स्थान मिला है।

ऋग्वेद के अनुसार विष्णु के सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य पृथ्वी की तीन बार परिक्रमा करना (उरूक्रम) पृथ्वी के चक्कर लगाना (विक्रम) दूर–दूर तक जाना एवं परिक्रमा करना (उरूगम) है।

विष्णु के इन्हीं गुणों के कारण ऋषियों ने इन्हें, संसार का पालनकर्ता, सृष्टि उत्पत्ति के देवता तथा प्रकृति वनस्पतियों के देवता आदि के रूप प्रतिपादित की गई है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु की प्रतिष्ठा शनैः शनैः बढ़ती जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हें त्याग की प्रतिमूर्ति कहा गया है जो ब्राह्मण साहित्य का मूलाधार है। उन्हें आदित्य तथा अग्नि के नाम से भी सम्बोधित किया गया है जो उनके सौर चरित्र को उद्घाटित करता है। विष्णु की प्रतिष्ठा में तत्समय हो रही वृद्धि से यह माना जाता है कि उस समय वैष्णव सम्प्रदाय का जन्म हो गया था।

यह यथार्थतः सत्य है कि सम्पूर्ण धर्म विष्णु भगवान के नाम से ही वैष्णव – सम्प्रदाय के नाम जाना जाता, किन्तु यह बाद का विकास है। यद्यपि वेदों तथा ब्राह्मणों में भगवान विष्णु को विभिन्न देवताओं से सम्बन्धित किया गया है परन्तु उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वरूप महाभारत में वासुदेव के रूप आया, जिसने इस सम्प्रदाय के विकास में अमूल्य योगदान दिया। अब भक्ति तथा समर्पण के साथ यह सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठापित होने लगा।

वासुदेव पूजा को भागवत्, सात्वत्, एकान्तिकां अथवा पंचरात्र के नाम से जाना जाता है। इस सम्प्रदाय का सर्वप्रथम विस्तृत लिखित प्रतिपादन महाभारत के नारायण खण्ड में प्राप्त होता है। उन्हें सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हुये ''प्राचीनतम से भी प्राचीन'' कहा गया है। उन्हें ब्रह्माण्ड का मूल कारण भी कहा गया है। वे एकमात्र हैं, जो सृष्टि की उत्पत्ति से पहले विद्यमान थे। उनका निवास सागर के जल में है, जो उनके नाम की व्युतपत्ति से सुस्पष्ट है। यहां यह ध्यातव्य है कि नारायण की इस अवधारणा से ही विष्णु के शेषषायी स्वरूप का विकास हुआ होगा जहां पर उन्हें सागर के जल में सर्प की शय्या पर विश्राम करते हुये सृष्टा के रूप में दिखाया गया है। नारायण की उत्पत्ति धर्म के संततियों के चार रूपों नर, नारायण, हरि तथा कृष्ण के रूप में हुई है। इनमें नर–तथा नारायण ने बदरी स्थित आश्रम में रहकर कठोर तपस्या की।

नर तथा नारायण को दुष्टों के विनाश तथा मानवता के कल्याण हेतु जन्म लेना पड़ता है। महाभारत के कुछ खण्डों में उन्हें अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान दिया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नर तथा नारायण जो महाभारत के समय कृष्ण तथा अर्जुन के रूप में पहचाने जाते थे, उनकी पूजा उस समय की जाती थी।

कालान्तर में नारायण तथा विष्णु सम्प्रदाय के विकसित होने से *नर–पूजा* क्षीण होने लगी थी। नारायण की पूजा आज भी बदरी में की जाती है। जो महाभारत में उनका स्थान माना गया है। इसे विष्णु की प्राचीनतम आराधना स्थल माना जाता है।

नारायण अपने आरम्भिक रूप से श्वेतद्वीप में रहते थे, जहां नारद जी उनसे मिलने आया करते थे। उन्होंने नारद को अपने विविध रूपों के दर्शन कराये तथा एकान्त भक्ति का प्रतिपादन किया। विष्णु ने स्वयं को वासुदेव कहा, तथा प्रतिभासित किया कि वासुदेव ही एकमात्र ऐसे हैं, जो सर्वव्यापी हैं तथा वे व्यक्ति जो उनकी ध्यानपूर्वक भक्ति आराधना करते हैं उनहें एकान्त भक्ति प्राप्त हो जाती है।

यही विचार एक अन्य रूप में आया है। इसके अनुसार एकान्त भक्ति करने वाला व्यक्ति भगवान हरि के अत्यन्त प्रिय हो जाते हैं। वासुदेव का यह भक्ति का प्रमुख आधार है। इसी कारण उसे एकान्त धर्म भी कहा गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान उसी भक्त की पूजा को स्वीकार करते हैं, जो इसे निर्धारित विधियों तथा कर्मकाण्डों द्वारा सम्पादित करता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि महाभारत काल से ही एकान्तिन सम्प्रदाय में पूजा हेतु कुछ विधियां निर्धारित थी। इसकी पुष्टि मथुरा के मोर पुरालेखों द्वारा भी होती है।

यह सम्प्रदाय पंचरात्र के नाम से भी जाना जाता था, इसका सुस्पष्ट सम्बन्ध सांख्य योग से था तथा यह आरण्यक के सिद्धान्तों से भी सम्बन्धित था।[14] इस सम्प्रदाय की प्रमुख अवधारणा थी– भगवान के समक्ष अहिंसा, शुद्धता तथा सात्विकता के साथ समर्पण करना। इस सिद्धान्तों की चर्चा भागवत गीता में विस्तारपूर्वक की गयी है। इसकी स्वीकृति सदैव सात्वतों में रही है।[15] निष्कर्षतः कह सकते हैं कि मूलतः सात्वतों का ही सम्प्रदाय है।[16]

महाभारत से यह स्पष्ट है कि एकान्तिनों के प्रमुख आराध्देव वासुदेव वृष्णि वंश के नायक थे। बाद में उन्हें देवत्व प्रदान किया गया तथा कालान्तर में उनकी पूजा उनके भाई तथा पुत्रों के साथ पांच समूह में की जानी लगी। वासुदेव कृष्ण को अनेक स्थलों पर वृष्णि नामक के रूप से विभूषित किया गया है।[17] अनेक स्थलों पर वृष्टि शार्दूल 18– वृष्णि प्रकोष्ठ 19. आदि के नाम से अभिहित किया गया है। वृष्णि विराऊ नाम कृष्ण तथा बलराम हेतु भी प्रयोग किया गया है।

वृष्णि के विस्तृत वर्णन में प्रथम चार वृष्णि जिन्होंने द्रौपदी के विवाह में भाग लिया था, उनके नाम संकर्षण, वासुदेव, रौम्मणेय (प्रद्युम्न) तथा साम्व है 21। प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का नाम यहां नहीं है किन्तु अन्य स्थलों पर उन्हें उनका पुत्र माना गया है 22।

अतः इस सम्प्रदाय के उद्भव में नायक पूजा का प्रमुख स्थान है। वासुदेव, संकर्षण, अनिरूद्ध, प्रद्युम्न तथा साम्व वृष्णि वंश के नायक थे। कालान्तर में इनको दवत्व प्रदान किया गया तथा सांख्य दर्शन में इन्हें परिगणित कर लिया गया। यह दर्शन उस समय के श्रेष्ठतम् दर्शनों में से एक था। सांख्य दर्शन के चार सिद्धान्तों के आधार पर इस सम्प्रदाय के नायक निर्धारित किये गये। ये सिद्धान्त हैं–

परम्, महत् अथवा जीव, मानस तथा अहंकार।

वासुदेव सर्वोच्च निर्गुणात्मक है, संकर्षण जीव अथवा आत्म है, प्रद्युम्न मानस है तथा अनिरूद्ध अहंकार है।

यदि इस क्रम को परिवर्तन कर दें तो जब सूर्य द्वारा बोध जाग्रत होता है तो ये अनिरूद्ध में प्रविष्ट होते हैं, तदुपरान्त मानस में वे प्रद्युम्न रूप में आते हैं, जीव में प्रविष्ट होकर संकर्षण में आते हैं तथा जब वे उच्चतम अवस्था तक पहुंचते हैं तो वे वासुदेव के साथ एकाकार हो जाते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि साम्ब इस व्यूह में नहीं है, जबकि वे पंचपूजित वृष्णि वंश नायकों में से एक हैं।

इस तथ्य की पुष्टि वृहत्संहिता[25] , धर्मोन्तरम् तथा वैष्णवसभागम्[27] से होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि साम्ब की महत्ता कालान्तर में क्षीण हो गई और धीरे–धीरे वह नेपथ्य में चले गये। उपर्युक्त चतुर्व्यूह से वैकुण्ठ चतुमूर्ति की प्रतिमा अस्तित्व में आई जिसे महाभारत में मूर्तिचतुष्ट[28] कहा गया है।

महाभारत के अनुसार प्रारम्भ में व्यूहों की संख्या अनिश्चित थी। यह स्पष्ट कहता है कि एकव्यूह, द्विव्यूह, त्रिव्यूह तथा कभी–कभी चर्तुव्यूह भी थे। अंत में चतुर्व्यूह को स्वीकार किया गया तथा इसे एक उक्ति के रूप में स्थापित किया गया।

इस सम्प्रदाय के विकास में एक अन्य अवधारणा भी महत्वपूर्ण है, जिसे अवतारवाद या विभव कहा जाता है। वास्तव वृष्णि नायकों के देवत्व प्राप्त होने से ही यह सम्प्रदाय विकसित हुआ था। इसी से अवतारवाद की अवधारणा की पुष्टि हो जाती है। शतपथ ब्राह्मण के समय से ही अवतारवाद का सिद्धान्त प्रचलित था[30]। तीन प्रजापतियों को ईश्वर माना गया, जो समय–समय पर मानवता के कल्याण हेतु अवतार लेते रहते हैं। प्रजापति ने मत्स्य, कूर्म तथा वाराह अवतार ग्रहण किए। कालान्तर में ये अवतार विष्णु से सम्बन्धित हो गये।

भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि जब–जब पृथ्वी पर मेरी आवश्यकता होगी मैं पुनः अवतार लूंगा।

''यदा–यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतमभ्युत्वानमधर्मस्य त दात्मानं सृजाम्यहम्''

ये ही व्यूह तथा विभव के मुख्य सिद्धान्त हैं, जिनके चारों ओर विभिन्न मूर्ति रूप विकसित हुये हैं। अवतारों की बढ़ती लोकप्रियता से व्यूह की अवधारणा न्यूनातिन्यून होते चले गये।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक भागवत् सम्प्रदाय में वासुदेव कृष्ण अथवा पंचवीरों की उपासना प्रचलित थी। यह अवधारणा अनेक ग्रन्थों तथा पौराणिक प्रमाणों द्वारा पुष्ट है। इन सभी में से सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मोर अभिलेखों में पंचवीरों की मूर्तियों की उपासना प्रदर्शित है। अतः यह कहा जा सकता है कि पंचवीरों की उपासना तत्समय प्रमुखता से होती थी।

यहां यह स्पष्ट कर देना है कि पुराणों तथा महाभारत में भी अनेक स्थलों पर संकर्षण का नाम वासुदेव से पहले आया है, कालान्तर में वासुदेव प्रमुख देवता हो गये। यद्यपि वासुदेव संकर्षण से आयु में छोटे थे।

साहित्यिक प्रमाणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि ईसाई धर्म के आगमन से पूर्व वासुदेव पूजा प्रधानता से की जाती थी। पाणिनि ने भक्ति सम्प्रदाय की चर्चा तथा वासुदेव पूजा का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' में किया है।[44] बौद्ध ग्रन्थों में भी हम इस सम्प्रदाय के कुछ उल्लेख पाते हैं। उदाहरणार्थ सूत्र के प्रथम निर्देश में वासुदेव तथा बलराम सम्प्रदाय के उल्लेख आये हैं। कुछ अन्य साहित्यिक प्रमाण भी ज्ञात हुये।[45]

सिक्कों में भी 200 ई0पू0 विष्णु पूजा के प्रमाण प्राप्त होते हैं। मित्र राजाओं के सिक्कों में सदैव उस देवता का उल्लेख रहता है, जिसके वे उपासक थे। अग्निमित्र के सिक्कों में अग्नि का चित्र उत्कीर्ण है। इसी प्रकार विष्णुमित्र के सिक्कों में चार भुजाओं वाले एक बैठे हुए देवता का चित्र अंकित है, जिन्हें विष्णु कहा जा सकता है।[46]

मनुष्ण मात्र की सदैव से यह आकांक्षा ही है कि वह अपने इष्टदेव की आकृति कल्पित करे, जिससे वह अपने निकट मान सके। इसी आकांक्षा ने मूर्ति पूजा को विकसित किया। इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुये भागवत् सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने आराध्य ईश्वर को विभिन्न मुद्राओं तथा प्रतीकों में अंकित करना प्रारम्भ कर दिया। पंच नायकों की परिक्रमा की गयी तथा उनमें से नारायण अथवा सर्वव्यापी विष्णु को

सर्वोपरि स्थान दिया गया, तथा कालान्तर में पाषाणों से प्रतिमा बनाकर उन्हें पूजित किया जाने लगा।

प्रायः यह प्रक्रिया बौद्धों के समकालीन चल रही होगी। विष्णु की प्रारम्भिक प्रतिमायें बौद्ध धर्म की यक्ष आकृतियों से मिलती–जुलती है, किन्तु प्रतिमा विज्ञान के अनुसार दोनों प्रतिमाओं में अन्तर है। भागवत् सम्प्रदाय में ईश्वर के अंकन हेतु कुछ चिन्हों का आश्रय लिया गया है, जो लोगों को प्रायः ज्ञात थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्वरूप थे, जिन्होंने उनके धार्मिक विश्वासों को पारम्परिक स्वरूप दिया तथा ये सीधा धर्म चाहे वह बौद्ध, जैन अथवा ब्राह्मण धर्म हों सभी को स्वीकार्य थे। इनमें कुछ प्रमुख स्वरूप कमल, पुष्पमाला, श्रीवत्स, पूर्णघट इत्यादि थे।
हरवंश पुराण में ऐसे 108 प्रतीकों की चर्चा है।[47]

वासुदेव अथवा विष्णु से सम्बन्धित प्रमुख चिन्हों में शंख, चक्र, गदा, कमल, अभय अथवा वरद प्रतीक हैं। महाभारत में शंख को अपने आप में अत्यन्त मूल्यवान मानते हुये इसे निधि अथवा कोष की संज्ञा दी गयी है, जो सम्पन्नता का सूचक है।[48]

चक्र वैश्विकता तथा शक्ति का प्रतीक है, जिसे बौद्ध धर्म में भी स्थान दिया गया है। गदा शक्ति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अस्त्र है जिसे भगवान विष्णु के साथ जोड़ा गया है। इन सभी में गदा सर्वाधिक शक्तिशाली है। इसकी महत्ता इसी तथ्य से सिद्ध होती है कि महाभारत का एक पूरा खण्ड, जिसमें गदायुद्ध वर्णित है। अतः इस पर्व का नाम इसी के नाम पर रखां गया है। अभय तथा वरद मुद्राएं वरदायी देव विष्णु के मूर्ति शिल्प में स्वाभाविक रूप से आ गयी है।

संकषर्ण, प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध के चिन्ह भी सामान्य उपयोग के अस्त्र जैसे– मूसल, धनुष, तलवार, हल आदि है।

बाद में शास्त्रों में इन प्रतीकों की अत्यधिक ऊंची प्रतीकात्मक महत्ता वर्णित की गयी है, तथा ऋषियों द्वारा भिन्न–भिन्न विवेचनायें प्रस्तुत की गयी है।

इन प्रतीकों के अतिरिक्त कुछ स्थानीय सम्प्रदायों में भी विष्णु के स्वरूप में कुछ चिन्ह जोड़े हैं। उदाहरणार्थ नागा सम्प्रदाय ने विष्णु के स्वरूप में गरूड़ को जोड़ दिया।[50]
विष्णु को इतने श्रेष्ठतम स्थान पर प्रतिष्ठापित कर दिया कि महाभारत में एवं श्रीमद्भागवत में सभी देवता उनकी प्रार्थना करने हेतु आते हैं।

भगवान् विष्णु सर्वोच्च ईश्वर माने जाते हैं, अतः उन्हें चतुर्भुजधारी कहा गया, जिससे उनके अलौकिक तथा देवीय स्वरूप का प्रतिभास होता है।

विष्णुपुराण में चतुरवीरां की प्रतिमाओं के विषय में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। विष्णु के एक मुख तथा चार हाथ। उनका वर्ण जलयुक्त मेघों की भांति है तथा ये आभूषणों से विभूषित है। धरती देवी उनके चरणों में पड़ी हैं, वे वनमाला या यज्ञोपवीत धारण किये हुये हैं। उनके दाहिने हाथों में से एक में पूर्ण विकसित कमल तथा एक बॉये हाथ में चक्र विद्यमान है। संकर्षण को वासुदेव की भांति चित्रित होते हैं किन्तु वे चक्र के स्थान पर धनुष तथा गदा के स्थान पर तीर धारण करते हैं। अनिरूद्ध कोड़ा तथा तलवार धारण करते हैं। उनके पीछे उनकी पताकायें लहराती है। उनके सेवक भी वर्णित किये गये हैं।

वृहत्संहिता में भी वीरों का विवेचन है किन्तु यहां अनिरूद्ध के स्थान पर साम्ब वर्णित है। साम्ब अपने हाथ में गदा धारण करते हैं तथा शेष चिन्ह पूर्व वर्णन के अनुसार ही होता है। वासुदेव ने शीघ्र ही अन्य सभी को अन्तर्निहित के प्रमुख स्थान अर्जित के लिया था तथा प्रारम्भिकतम् मूर्तियों में भी अधिकांश वासुदेव की है। संकर्षण तथा बलराम जिनका विवेचन एक अन्य अध्याय में किया जाएगा, वे भी कहीं—कहीं दिखाई देते हैं। शेष दो पूर्णतः अनुपस्थित हैं।

वासुदेव जिन्हें विष्णु के नाम से भी जाना जाता है, सर्वप्रथम देवता थे जो बाद में लगातार पूजित होते रहे तथा कालान्तर में अधिक लोकप्रिय होते चले गये।

उत्तर भारतीय शास्त्रों के अनुसार एवं श्रीमद्भागवत पुराणों के अनुसार विष्णु स्वरूप को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

1. खड़ी हुई
2. बैठा हुआ
3. शयन करता हुआ।

4. विष्णु का स्वरूप

आरम्भ काल में विष्णु प्रतिमाएँ दो हाथ की ही होती थी, क्योंकि वैदिक काल से पूर्व साहित्यों में उनके दो हाथ ही बताए गये हैं। उनका प्रारम्भिक विवरण महाभारत के आदि पर्व में मिलता है, जहां नारायण मात्र गदा चक्रधारी है, जिससे स्पष्ट है कि उनके दो ही हाथ रहे होंगे।[57]

वृहत्संहिता में अनेक हाथों के साथ–साथ उनके दो हाथों की भी चर्चा की गई हैं यदि प्रभु के दो हाथ हैं तो दायें हाथ अभव मुद्रा में होना चाहिये तथा बॉये हाथ में शंख होना चाहिये।[58]

विष्णु पूजा शताब्दियों से भारत में की जा रही हैं। अतः अनेक प्रतिमायें देखने को मिलती है। उन सभी का विवेचन यहां पर किया जाना न तो सम्भव है और न ही उचित है। अतः कुछ भिन्न–भिन्न प्रतिमाओं का विवेचन ही आगे किया जायेगा।

विष्णु की प्रारम्भिकः चतुर्भुज प्रतिमायें मुख्य भुजाओं से दो हाथ ऊपर की ओर निकले हुये हैं, वे कन्धे के नीचे मूर्ति के सिर तक उठे हुये हैं तथा सामान्यतः ये प्रतिमा को सहारा देने वाले एक–दूसरे से जुड़े हैं। प्रतिमा की आकृति गोलाकार सांचे में है, जिसमें वक्षस्थल छोटा है तथा अनेक आभूषणों से सुसज्जित है। मुकुट तथा वस्त्रों (एक धोती तथा कटि पर करधनी से युक्त) से प्रारम्भिक यक्ष प्रतिमाओं का स्मरण होता है। कभी–कभी मुकुट के स्थान पर एक उच्च किन्तु साधारण किरीट भी मिलती है। किरीट प्रायः गुप्तकाल की प्रतिमाओं में प्राप्त होती है। इस काल में ये थोड़ा अधिक अलंकृत होने लगे थे। प्रभु द्वारा लिया गया चक्र काफी वृहद है तथा इसकी तीलियां कमल की पंखुड़ियों का आभास देती हैं। गदा अत्यन्त साधारण है तथा वह एक भारी गोलाकार छड़ की भांति दिखती है। दो ऊपर उठे हाथों में गदा तथा चक्र हैं। दायें हाथ में गदा तथा बाएँ हाथ में चक्र है। ये दोनों हाथ कन्धे से ऊपर उठे अमृतघट की भांति प्रतीत होता है। यह हाथ कमल पर रखकर कोहनी को आगे झुकाये हुये है। वनमाला भी प्रायः उपस्थित है।

बाद में ग्रन्थों में 24 प्रकार की खड़ी हुई विष्णु प्रतिमाओं का वर्णन है, जिनमें प्रत्येक में एक विशिष्ट प्रभुत्व शक्ति है। वास्तव में विष्णु की 24 आकृतियों की अवाधारणा महाभारत के समय से ली गयी है। ब्रह्माण्ड की स्वरूपों की चर्चा करते हुये कहा जाता है कि सांख्य दर्शन के अनुसार ब्रह्माण्ड 24 तत्वों से मिलकर बना है इन

तत्वों के अतिरिक्त विष्णु सर्वोच्च शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं, वे ही ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं। सृजन करते समय वे इन 24 तत्वां का सहारा लेते हैं इन्हें शाक्त रूप कहा गया है, जिन्हें प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। चूंकि वे पच्चीसवं तत्व हैं तथा रूपों से परे हैं, अतः उन्हें किसी तरह निरूपित नहीं किया जा सकता है। अतः खड़े विष्णु की 24 प्रकार की प्रतिमायें उनके विभिन्न दृष्टव्य रूपों का प्रतीक है।

इनके स्वरूप की पहचान का एकमात्र बिन्दु अथवा उनके मध्य मिलता, यह है कि भगवान की चार भुजाओं में स्थित चिन्हों का क्रम भिन्न–भिन्न है। भगवान विष्णु के इन 24 रूपों का नाम महाभारत में विष्णु के दिये गये एक सहस्त्र नामां की सूची में मिलते हैं किन्तु उनके चिन्ह नहीं मिलते। इन रूपों के चिन्हों के क्रम भिन्न–भिन्न पाठों में भिन्न–भिन्न है। अतः सही क्रम का ज्ञात अत्यन्त दुष्कर है।

– सर्वप्रथम चौबीस रूपों का विवरण अग्नि पुराण में आता है। रूपमण्डन तथा अपराजितपृक्षा ग्रन्थों की सूची अग्निपुराण की भॉति ही है। अतः इस सूची को अन्य सूचियों की तुलना में अधिक लोकप्रिय माना जा सकता है।

– पंचरात्र संहिताओं में चौबीस के स्थान पर भगवान विष्णु के बारह अथवा सोलह रूपों का ही विवेचन प्राप्त होता है। क्योंकि इन ग्रन्थों के अनुसार चार व्यूहों वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध में से प्रत्येक या तो तीन बार अथवा चार बार उत्पन्न होते हैं।

अनेक साक्ष्य एवं पुष्ट प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण भारत में विष्णु सम्प्रदाय का प्रसांर था।

ऊपर वर्णित ये सभी स्वरूप या तो पूजागृहों में प्रतिष्ठापित थी उनकी पूजा की जाती थी। इन प्रतिमाओं के विषय में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि गुजरात के वालभ में एक मंदिर में ये सभी प्रतिमाएं एक साथ प्रतिष्ठापित हैं। यहॉ खड़ी हुई विष्णु की भिन्न–भिन्न चतुभुर्ज प्रतिमाएं एक साथ उत्कीर्ण की गई है। उननें से इस समय सत्रह ही शेष है।

पूर्व में विवेचित विष्णु की खड़ी हुई प्रतिमाओं के चतुर्भुज रूप में कुछ भिन्नताएं हैं।

हरिवंश पुराण के विवरणों के अनुसार विष्णु को धनुषधारी होना चाहिए, साथ ही चक्र , घंटा युक्ता गदा, तथा तलवार धारण करनी चाहिए।

वृहत्संहिता में तलवार, हल शंख तथा चक्र का उल्लेख है। इसी पाठ में श्रीधर हेतु ढाल, हाल, हल, धनुष तथा कमल धारण करना आवश्यक है।

सात्वत संहिता के अनुसार नारायण के हाथ में कमण्डल होना चाहिए, जवकि विष्णु को हल, चक्र, मूसल तथा गदा धारण करना चाहिए।

चूँकि इनमें से कोई भी चिन्ह धारण की हुई प्रतिमा नहीं प्राप्त होती है। अतः यह माना जाना चाहिए कि शिल्पियों ने इन रूपों को स्वीकार नहीं किया था।

विष्णुपुराण के अनुसार विष्णु प्रतिमा में सामान्य चिन्हों के साथ–साथ उनके चरणों के मध्य भूमि देवी की छोटी सी प्रतिमा होना चाहिए। छह हाथों वाले विष्णु स्वरूप भी धार्मिक तथा मूर्ति विज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों में उल्लिखित है। सात्वत संहिता के अनुसार दाएं हाथों में तलवार कमल एवं गदा होनी चाहिए तथा बाऐं हाथों में धनुष तीर तथा शंख होने चाहिए। विष्णु की अष्टभुजीय प्रतिमाओं का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में आया है। बृहत्तसंहिता में ऐसे स्वरूपों का वर्णन निम्नलिखित है। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिन्हित होनी चाहिए तथा उसे कौस्तुममणि से सुसज्जित होना चाहिए। उन्हें शीशम के पुष्प के रंग में चित्रित किया जाना चाहिए। उनके वस्त्र पीले होने चाहिए तथा मुखमण्उल पर सौम्यता झलकनी चाहिए। उन्हें मुकुट, कुण्डल, धारण करना चाहिए तथा गोल गर्दन, वक्ष, भुजाएं तथा बाहें होनी चाहिए। आठ हाथों में से दाएँ हाथों में कटार, गदा, धनुष तथा एक हाथ अभय मुद्रा में होने चाहिए।

मत्स्यपुराण में भी अष्टभुजीय विष्णु प्रतिमा के विषय में ऐसा दृष्टिकोण हैं। दाएँ हाथों में कटार, गदा, धनुष एवं कमल तथा बाएँ हाथों में शंख, वाण, चक्र तथा ढाल होने चाहिए।

सात्वत संहिता में विष्णु हेतु कुछ भिन्न स्वरूप बताए गए हैं। इसके अनुसार भगवान विष्णु के दायें हाथों में गदा, मूसल, चक्र, तलवार एवं बाएं हाथों में शंख, त्रिशूल, जाल तथा धनुष बाण होने चाहिए। कहीं–कहीं इसी संहिता में दस हाथों वाले विष्णु का उल्लेख भी आया है। ऐसी प्रतिमा के दाऐं हाथों में कटार, धनुष, गदा, कमल एवं भाला होना चाहिए तथा बाएँ हाथों में वाण, शंख, चक्र, तलवा तथा अध बाऐं हाथ आशीर्वादात्मक मुद्रा में होना चाहिए।

गरूड़ पर बैठे हुए विष्णु के स्वरूप भी लोगों द्वारा पूजित की जाती थी, परन्तु यह रूप खड़े विष्णु की प्रतिमाओं में जिनता लोकप्रिय नहीं था। महाभारत में गरूड़ पर आसीन विष्णु के विषय में उल्लेख आया है।

हरिवंश पुराण में गरूड़ पर बैठे हुए विष्णु के स्वरूपों का विवेचन हुआ हें। इसके अनुसार उनके चार में से तीन हाथों में शंख, चक्र तथा गदा होनी चाहिए, किन्तु चौथे हाथ में विषय में स्पष्ट दिशानिर्देश नहीं है। यद्यपि विष्णु की प्रारम्भिक प्रतिमाओं में उन्हें पादपीठ पर अपने वाहन पर प्रारम्भिक कुबेर प्रतिमाओं की भाँति ही बैठाया दिखाया गया है। विष्णु की गरूढ़ पर आसीन अनेक हाथों वाली प्रतिमाएं भी ग्रन्थों में उल्लिखित है। हरिवंश में गरूड़ पर आसीन विष्णु छह हाथों में युक्त है। जिसमें शंख, चक्र, गदा, कटार, धनुष बाण है। वे कवच पहने हुए हैं।

गरूड़ पर आसीन विष्णु की हाथों में शंख, चक्र, जाल, त्रिशूल, वाण, धनुष, गदा, तलवार आदि होनी इस ग्रन्थ के अनुसार आवश्यक है।

सात्वत संहिता में 12 हाथों वाले गरूड़ पर आसीन विष्णु का वर्णन है। उनके दाहिने हाथों में चक्र, कमल, गदा, धनुष, त्रिशूल तथा वरधी होनी चाहिए। बाऐं हाथों में जाल, बाण, मसूल, हथौड़ा तथा ढाल होनी चाहिए।

सामान्यतः ये अनेक हाथों वाली बैठी हुई विष्णु प्रतिमाएं बैकुण्ठ मूर्ति से मिल गयी है तथा इनके अतिरिक्त सिंह एवं बारह के सिर पर भी जोड़े गये हैं। ऐसी प्रतिमायें त्रैलोक्यमोहन एवं अनन्त के नामों से जाने जाते है। इन्हीं के मध्यकाल में ही देखा जा सकता है। शयन करती हुई अथवा निद्राकालीन विष्णु प्रतिमाऐं, सदैव शेष के सा थ उत्कीर्ण की गयी है।

योगासन प्रतिमा : वैखानस आगम के अनुसार योगासन प्रतिमा में विष्णु का वर्ण श्वेत हो, उनके चार हाथ हैं और वे पद्मासन में विराजमान हो। वे जयमुकुट, हार यज्ञोपवीत, कुण्डलों तथा केयूरों से अलंकृत हो, उनके नेत्र कुछ उन्मीलिक हों, और दो प्राकृतिक हाथ योग मुद्रा में हो। इस आगम में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि उनके साथ शंख, चक्र से रहित हो। योगासन विष्णु की पार्श्व मूर्तियों के रूप में शिव, ब्रह्मा, चन्द्र, सूर्य, सनक और सनत्कुमार एवं भृगु और मार्कण्डेय अथवा मार्कण्डेय और भू–देवी के चित्रण हों।

भोगासन प्रतिमा : इस प्रतिमा में विष्णु को सिंहासन पर अपनी पत्नियों लक्ष्मी और भू–देवी के साथ प्रदर्शित किया जाना चाहिए। उनके हाथों में शंख, चक्र होना चाहिए, उनका बायाँ पैर मुड़ा हुआ तथा दायाँ पैर कुछ फैला होना चाहिए। उनके साथ भू–देवी और लक्ष्मी को इस प्रकार चित्रित किया जाना चाहिए कि उनके घुटन मुड़े हों। उनका एक हाथ सिंहकर्ण मुद्रा में होना चाहिए। उनके साथ अन्य देवी–देवता भी होने चाहिए।

अभिचारिकासन स्वरूप : इसमें दो या चार हाथ होना चाहिए। विष्णु को वेदिकासन पर बैठा हुआ और तमोगुण से युक्त होना चाहिए। उनका रंग नीला तथा वस्त्र काला होना चाहिए। उनके साथ कोई भी आकृति नहीं होनी चाहिए।
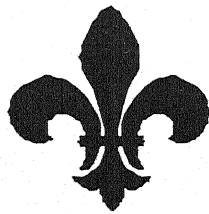
भगवान विष्णु का शयन करता हुआ स्वरूप

वैखासन आगम के अनुसार विष्णु की शयन प्रतिमा श्याम वर्ण और सुपुष्ट अंग वाली होनी चाहिए। उनका चौथाई भाग कुछ ऊपर उठा हो, और तीन चौथाई भाग, शेष शैय्या पर शायी हो। उनका एक दाहिना हाथ किरीट को स्पर्श करता हुआ अथवा मस्तक की ओर प्रसारित हो, और एक बायॉ हाथ शरीर के समानान्तर प्रसारित होकर जंघा पर स्थित हो। दक्षिण पाद सीधा प्रसारित हो, और बाम कुछ झूठा हो, कंधे के निकट लक्ष्मी बैठी हो और उनके चरणों के निकट भू–देवी हों। चरणां के निकट मधु और कैटभ प्रहार करने के लिये तत्पर हों। विष्णु की नाभि से निकलें कमल का ब्रह्मा आसीन हों।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में शेषशायी विष्णु पद्नाभ नाम से वर्णित है। इस वर्णन के अनुसार पद्मनाभ जल के बीच पड़े शेष पर शयन करते हो। उनका एक चरण लक्ष्मी की गोद में और दूसरा शेष की गोद में रखा हो। उनकी नाभि से उत्पन्न कमल पर प्रदर्शित हों और कमल नाल से संलग्न मधु और कैटभ आसुर हों।

योग शयन स्वरूप : आगमों के अनुसार योग शयन प्रतिमा में विष्णु के दो हाथ होने चाहिए। उनका दायों पैर फैला हुआ और बायॉ पैर कुछ मुड़ा हुआ होना चाहिए। पैरों के पास मधु–कैटभ और नाभि से निकले कमल व ब्रह्मा आसीन होने चाहिए।

भोग शयन स्वरूप : वैखानस आगम के अनुसार भोग शयन प्रतिमा चतुर्भुजी होनी चाहिए। लक्ष्मी को उनके कंधे के निकट देखना चाहिए, उनके दाहिने हाथ में कमल और बॉयें हाथ में कमल और बॉयें हाथ कटक मुद्रा में होने चाहिए। विष्णु के पैरों के भू–देवी हों, जो उनके बाऐं चरण को स्पर्श करती हों। विष्णु के दाहिने और बाऐं भाग में क्रमशः मारकण्डेय एवं भृगु की प्रतिमाऐं हो, उनके (विष्णु के) चरणों के निकट मधु और कैटभ हों, जो प्रहार करने के लिए तत्पर जान पड़े। विष्णु की नाभि से निकले परम पर ब्रह्मा आसीन हों, जिनके दांयी ओर पॉच आयुध पुरूष तथा गरूड़ हों। गरूड़ के दाहिने, ऊपर की ओर सूर्य की प्रतिमा हों, दूसरी ओर ब्रह्मा के बांये पार्श्व में चन्द्रअश्विन बालरूप में एवं तुम्बरू और नारद प्रदर्शित हों। साथ में दिक्पाल और चामर डुलाती हुई अप्सराऐं भी उत्कीर्ण हों। भोग शयन प्रतिमा का सर्वोत्तम ललितपुर जिले के देवगढ़ में स्थित विष्णु मंदिर में द्रष्टव्य हैं।

वीर शयन प्रतिमा स्वरूप – आगमों के अनुसार विष्णु के वीर शयन स्वरूप में भी उनके पैरों के निकट लक्ष्मी भू–देवी को प्रदर्शित किया गया है तथा पैरों के सन्निकट ही मधु, कैटभ हाथ जोड़ दिखाये गये हैं।

अभिचारिका शयन स्वरूप – इस स्वरूप में आदिशेष के केवल दो फण होते हैं। भगवान विष्णु का रंग नीला होता है। उनके दो या चार हाथ होते है तथा उनके साथ अन्य देवता का चित्रण नहीं किया जाता है।

भगवान विष्णु का व्यूह रूप

व्यूह रूप भगवान विष्णु का अद्भुत स्वरूप है। भागवतों में कहा गया है कि विष्णु के छेः गुण होते हैं।

1. ज्ञान, 2. शक्ति, 3. ऐश्वर्य, 4. बल, 5. वीर्य और 6 . तेज।

इन छेः गुणों में से दो–दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन ब्यूहों की सृष्टि होती है। जिनके नाम हैं संकषर्ण, प्रदुयुम्न और अनिरूद्ध।

संकर्षण – इस ब्यूह में ज्ञान तथा बल गुणों का प्रद्युम्न में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों और अनिरूद्ध में शक्ति तथा तेज गुणों का प्रधान्य रहता है। जगत का सर्जन तथा शिक्षण इनका मुख्य कार्य है। संकर्षण का कार्य है जगत की सृष्टि करना तथा एकांतिक मार्ग– पंचरात्र सिद्धान्त का उपदेश देना। प्रद्युम्न का कार्य है – इस मार्ग के अनुसार क्रिया की शिक्षा देना और अनिरूद्ध का कार्य है। क्रिया के फल अर्थात् मोक्ष के रहस्य का शिक्षण। वासुदेव को मिलाकर इन्हें चतुर्व्यूह (चतुमूतियॉ) कहा गया है। जिसका उल्लेख पंतजलि में महाभाष्य के 6,3,5 आदिनक में किये हैं। शनैः शनैः व्यूहों की संख्या बढ़ती गई और अनत तक 4 से 24 होकर चतुर्विशंति ब्यूह हो गई और बढ़े हुए इन ब्यूहों को सम्प्रदाय के प्रधान देवता विष्णु के बीस नाम प्रदान किये गये।

केशव, नारायण, माधव, पुरूषोत्तम, अधोक्षज, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, अच्युत, उपेन्द्र, त्रिविक्रम, नरसिंह, जनार्दन, वामन, श्रीधर, ऋषिकेष, पद्मनाम, दामोदर, हरि और कृष्ण। विष्णु के इन चौबीस ब्यूहों में मुख्यतया उनके चार हाथों के लॉछनों– शंख, चक्र, गदा और पदम में हुए उलट–फेर से उनके स्वरूप का ज्ञान होता है।

चतुर्विंशति व्यूह प्रतिमा स्वरूप–

चतुर्विंशति मूर्तियां का विवरण विभिन्न पुराणों जैसे पद्मपुराण, अग्नि पुराण आदि और अनेक परवर्ती शास्त्रों जैसे चतुर्वर्गीचिन्तामणि, देवतामूर्ति प्रकरण, रूपमण्डन आदि में उपलब्ध है, किन्तु इन शास्त्रों के विवरण एक समान नहीं हैं, उनमें पर्याप्त अन्तर है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ऐसा उल्लेख हुआ है कि विभिन्न स्वरूपां की भिन्न–भिन्न इच्छाओं की पूर्ति हेतु उपासना की जाती है।

धर्म की इच्छा करने वाला व्यक्ति अनिरूद्ध की उपासना करता है।

अर्थ के लिये संकर्षण की आराधना करता है।

काम की प्राप्ति के लिए प्रद्युम्न की स्तुति करता है

तथा मोक्ष के प्राप्ति के लिए वासुदेव की आराधना करते हैं।

ये चारों स्वरूप सभी प्रकार की इच्छाओं को पूर्ति करती है।

रूपमण्डन में बताया गया है–

ब्राह्मण, केशव, नारायण, माधव और मधुसूदन की आराधना द्वारा प्राप्त होता है।

क्षत्रिय मधुसूदन तथा विष्णु की पूजा करके अपना इष्ट प्राप्त कर लेते हैं।

वैश्य सुख को प्राप्त करने के लिये त्रिविक्रम तथा वामन की आराधना करते हैं।

शूद्र के लिये श्रीधर की पूजा हितकारी बतलाई गई है। मोची, धोवी, नाचने वाले, बहेलिये, मिल्ल और करद आदि के इष्टदेव ऋषिकेश हैं। कुम्भकार व्यापारी तथा तेली आदि के प्रमुख देवता पद्मनाभ हैं। यति और ब्रह्मचारी के लिये दामोदर की पूजा उचित है, तथा नृसिंह अच्युत आदि की पूजा उपासना सबके लिये उपर्युक्त है।

इन चौबीस रूपों में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्यम्न और अनिरूद्ध मुख्य हैं। क्योकि ये शक्तिमय व्यूह की रचना करते हैं। आगम ग्रन्थ इन्हें दशावतारों से भी अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं।

विष्णु का नारायण रूप

देवर्षि नारद ने जब परमपिता परमेश्वर से सृष्टिकर्ता के रूप में जानने की जिज्ञासा की। इस संसार का क्या लक्षण हैं, इसका आधार क्या है, इसका निर्माण किसने किया, इसका प्रलय किसमें होता है, यह किसके अधीन है और वास्तव में यह क्या वस्तु है ? इसका तत्व बताने की कृपा करें।

परमपिता ब्रह्मा ने नारद जी से कहा– जैसे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, गृह–नक्षत्र और तारे उन्हीं परमब्रह्म परमेश्वर भगवान् विष्णु के प्रकाश से प्रकाशित होकर जगत में प्रकाश फैलाया है वैसे ही मैं भी उन्हीं प्रकाश भगवान् विष्णु के चिन्मय प्रकाश से प्रकाशित होकर संसार को प्रकाशित कर रहा है।

द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव और जीव वास्तव में भगवान से भिन्न दूसरी कोई भी वस्तु नहीं है। वेद नारायण के परायण हैं, देवता भी नारायण के ही अंगों में कल्पित हुये हैं और समस्त यज्ञ भी नारायण की प्रसन्नता के लिये ही है और उनसे जिन लोगों की प्राप्ति होती है, वे भी नारायण में ही कल्पित हैं। सब प्रकार के भोग भी नारायण की प्राप्ति के ही हेतु है। सारी तपस्याएं नारायण की ओर ही ले जाने वाली है, ज्ञान के द्वारा ही नारायण जाने जाते हैं। समस्त साध्य और साधनों का पर्शावसान भगवान नारायण में ही है। वे द्रष्टा होने पर भी ईश्वर हैं, स्वामी हैं, निर्विकार होने पर भी सर्वस्वरूप हैं। उन्होंने ही मुझे बनाया है ओक्र उनकी दृष्टि से ही प्रेरित होकर मैं उनके इच्छानुसार सृष्टि रचना करता हूँ।

भगवान् माया के गुणों से रहित एवं अनन्त हैं। सृष्टि स्थित और प्रलय के लिये रजोगुण, सत्वगुण और तमोगुण ये तीन गुण माया के द्वारा उनमें स्वीकार किये जाते हैं। ये ही तीनों गुण द्रव्य, ज्ञान और क्रिया का आश्रय लेकर मायातीत नित्यमुक्त, पुरूषों को ही माया में स्थित होने पर कार्य कारण और कर्तापन के अभिमान से बांध लेते हैं। इन्द्रियातीत भगवान गुणों के इन तीन आवरणों से अपने स्वरूप को भली–भॉति ढक लेते हैं, इसलिये लोग उनको नहीं जान पाते। सारे संसार के और मेरे भी एकमात्र स्वामी वे ही हैं।

स एष भगवौलिंगैस्त्रिभिरेभिरेधोक्षजः।

स्वलक्षितगर्तिब्रह्मन् सर्वेषां मम चेश्वः।। श्रीमद्भागवत् 5/2

मायापति भगवान ने एक से बहुत होने की इच्छा होने पर अपनी माया से अपने स्वरूप में स्वयं प्राप्त काल कर्म और स्वभाव को स्वीकार कर लिया। भगवान् की शक्ति से ही काल ने तीनों गुणों में क्षोभ उत्पन्न कर दिया, स्वभाव ने उन्हें रूपान्तरित कर दिया और कर्म ने महत्तत्व को जन्म दिया। रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि होने पर महतत्व का जो विकार हुआ, उससे ज्ञान, क्रिया और द्रव्य रूप तमः प्रधान विकार हुआ। वह अहंकार कहलाया और विकीर को प्राप्त होकर तीन प्रकार का हो गया। उसके भेद हैं–

1. वैकरिक 2. तैजस 3. तामस।

ये क्रमशः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्ति प्रधान है। जब पंचमहाभूतों के कारण रूप तामस अहंकार में विकार हुआ। तब उससे आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश की तन्मात्रा और गुण शब्द है। इस शब्द के द्वारा ही द्रष्टा और दृष्य का बोध होता है। जब आकाश में विकार हुआ तब उससे वायु की उत्पत्ति हुई, उसका गुण स्पर्श हैं अपने कारण का गुण आ जाने से यह शब्द वाला भी है। इन्द्रियों में स्फुर्ति, शरीर में जीवनशक्ति ओज और बल इसी के रूप हैं।

1. नभसोऽथ विक्रुर्वाणादभूत् स्पर्शगुणोनिलः।
   परान्वयान्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्।।

काल, कर्म और स्वभाव से वायु में भी विकास हुआ। उससे तेज की उत्पत्ति हुई, इसका गुण है रूप, साथ ही इसके कारण आकाश और वायु के गुण शब्द और स्पर्श इसमें भी है जल के विकास से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई इसका गुण है। गन्ध के कारण कार्य में आते हैं, इस न्याय से शब्द स्पर्श और रस ये चारों गुण भी इसमें विद्यमान हैं। वैकारिक अहंकार से मन की और इन्द्रियों के दश अधिष्ठात् देवताओं की भी उत्पत्ति हुई, उनके नाम है, दिशा, वायु, सूर्य, वरूण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, विष्णु और प्रजापति।

2. वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश।
   दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्र मित्र काः।।

तैजस अहंकार के विकार से, श्रोत, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, और प्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियों एवं वाक्, हस्तपाद गुदा और ज्ञानेन्द्रियां ये पांच कर्मेन्द्रियां उत्पन्न हुई। साथ

---

1. *श्रीमद् भागवत 1–5–26* 2. *श्रीमद् भागवत 1–5–30*

ही ज्ञान शक्ति रूप बुद्धि और क्रिया शक्ति रूप प्राण भी तैजस अहंकार ही उत्पन्न हुई।

जिस समय ये पंचभूत, इन्द्रिय, मन और सत्व आदि तीनों गुण परस्पर संगठित नहीं थे। तव अपने रहने के लिय भोगों के साधन रूप शरीर की रचना नहीं कर सके। जब भगवान ने इन्हें अपने शक्ति से प्रेरित किया, तब वे तत्व परस्पर एक–दूसरे के साथ मल गये और उन्होंने आपस में कार्य–कारण भाव स्वीकार करके व्यष्टि–समष्टि रूप पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की रचना की वह ब्रह्माण्डरूप अण्डा एक सहस्त्र वर्ष तक निर्जीव रूप से जल में पड़ा रहा, फिर काल, कर्म और स्वभाव को स्वीकार करने वाले भगवान् ने उसे जीवित कर दिया, उस अण्डे को फोड़कर उसमें से वहीं विराट पुरूष निकला जिसकी जिह्वा, चरण, भुजाएं, नेत्र, मुख और सिर सहस्त्रों की संख्या में है :–

3. **वर्षयुगसहस्त्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्।**
कालकर्म स्वभावस्थो जीवोजीवमजीवयत्।।

4. **स एव पुरूषस्तस्मतादण्डं निभिद्य निर्गतः।**

विद्वत पुरूष उसी के अंगों में समस्त लोक और उनमें रहने वाली वस्तुओं की कल्पना करते हैं। उसकी कमर से नीचे की अंगों में सातों पाताल की ओर उसकी पेण्डू से ऊपर के अंगों से सातों स्वर्ग की कल्पना की गई है। ब्राह्मण इस विराट पुरूष का मुख है, भुजायें क्षत्रिय हैं, ज़ांघों से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

5. **पुरूषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।**
उवोवैश्यो भगवतः पद्म्यां शूद्रोम्याजायत।।

पैरों से लेकर कटिपर्यन्त सातों पाताल तथा भू–लोक की कल्पना की गई है। नाभि में भू–लोक की हृदय में स्वर्गलोक की और परमात्मा के वक्षस्थल में महर्लोक की कल्पना की गई है, उसके गले मे जन लोक, स्तनों में तपोलोक और मस्तक में ब्रह्मा का निवास स्थान सत्यलोक है।

उस विराट पुरूष की कमर में अतल जांघों में वितल, घुटनों में पवित्र सुतलोक और जंघाओं में तलातल की कल्पना की गई। एड़ी से ऊपर की गांठों में महातल, पंजों और एड़ियों में रसातल और तलवों में पाताल समझना चाहिये, इस प्रकार विराट पुरूष सर्वलोकमय हैं। विराट भगवान के अंगों में इस प्रकार भी लोकों की कल्पना की जाती है कि उनके चरणों में पृथ्वी है, नाभि में भुवलोक है और सिर में स्वर्गलोक है।

1. भूलोकः कल्पितः पद्भ्यां भुर्वलोकस्य नाभितः।
स्वर्गलोकः कल्पितो मूर्ध्ना इति वा लोक कल्पना।।

---

3. श्रीमद् भागवत 1–5–34   4. श्रीमद भागवत 1–5–35
5. श्रीमद भागवत 1–5–37   1. श्रीमद भागवत 1–5–42

श्रीमद्भागवत के अनुसार भगवान् विष्णु के दशावतारों का वर्णन

भगवान् स्वतंत्रता से अपने भक्तों की भक्ति के वश में होकर अनेकों प्रकार के अवतार ग्रहण करते हैं, और अनेकों लीलाऐं करते हैं। भगवान् अनन्त हैं। उनके गुण भी अनन्त हैं, जो यह सोचता है कि मैं उनके गुणों को गिन लूंगा, वह मूर्ख है। यह तो सम्भव है कि कोई किसी प्रकार पृथ्वी के धूलि कणों को गिन ले, परन्तु समस्त शक्तियों के आश्रय, भगवान् के अनन्त गुणों का कोई कभी भी, किसी भी प्रकार से पार नहीं पा सकता है। भगवान् ने ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इन पांच भूतों की अपने सृष्टि की है।

जब वे इनके द्वारीा विराट शरीर ब्रह्माण्ड का निर्माण करके उसमे लीला से अपने अंश अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करते हैं (भोक्ता रूप से नहीं, क्योंकि भोक्ता तो अपने पुण्यों के फलस्वरूप जीव ही होता है) तब उन आदि देव नारायण को ''पुरूष'' नाम से कहते हैं। यही उनका पहला अवतार है। उन्हीं के इस विराट् ब्रह्माण्ड शरीर में तीनों से ही स्वतः सिद्ध ज्ञान का संचार होता है। उनके श्वास प्रश्वास से सब शरीरों में बल आता है तथा इन्द्रियों में ओज और कर्म करने की शक्ति प्राप्त होती है। उन्हीं के सत्व आदि गुणों से संसार की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय होती है। इस विराट शरीर के शरीरी हैं, वे ही आदिकर्ता नारायण हैं। पहले पहल जगत् की उत्पत्ति के लिये उनके रजोगुण के अंश से ब्रह्मा हुये फिर वे आदिपुरूष ही संसार की स्थिति के लिये अपने सत्वांश से धर्म तथा ब्राह्मणों के रक्षक यज्ञपति विष्णु बन गये। फिर वे ही तमोगुण के अंश से जगत के संहार के लिये रूद्र बन गये–

1. **आदावमूच्छतधृती रजसास्य सर्गे,**
   विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिद्विर्जधर्मसेतुः।
   रूद्रोप्ययाय तमसा पुरूषः स आद्य,
   इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु।।

इस प्रकार निरन्तर उन्हीं से परिवर्तनशील प्रजा की उत्पत्ति–स्थिति और संहारक होते रहते हैं।

दक्ष प्रजापति की एक कन्या का नाम था मूर्ति। वह धर्म की पत्नि थी। उसके गर्भ से भगवान ने ऋषिश्रेष्ठ शान्तात्मा ''नर और नारायण'' के रूप में अवतार लिया। उन्होंने आत्मतत्व का साक्षात्कार करने वाले उस भगवदाराधनरूप कर्म का उपदेश किया, जो

---

1. *श्रीमद्भागवत 4/3/5*

वास्तव में कर्मबन्धन से छुड़ाने वाला ओर नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त करने वाला है। उन्होंने स्वयं भी वैसे ही कर्म का अनुष्ठान किया। बड़े–बड़े ऋषि–मुनि उनके चरण–कमल की सेवा करते रहते हैं। वे आज भी बदरिकाश्रम में उसी कर्म का आचरण करते हुये विराजमान हैं। ये अपनी घोर तपस्या के द्वारा मेरा धाम छीनाना चाहते हैं। इन्द्र ने ऐसी आशंका करके स्त्री, बसन्त आदि दल–बल के साथ कामदेव को उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये भेजा। कामदेव को भगवान् के महिमा का ज्ञान था, इसलिये वह अप्सरागण, बसन्त तथा मन्द–सुगन्ध वायु के साथ बदरिकाश्रम में जाकर स्त्रियों के कटाक्ष वाणों से उन्हें घायल करने की चेष्टा करने लगा। आदि देव नर–नारायण ने यह जानकर की यह इनद्र का कुचक्र है, भय से कॉपते हुये काम आदि, से हँसकर कहा– उस समय उनके मन में किसी प्रकार का अभिमान या आश्चर्य नहीं था। कामदेव, मलयमारूत और देवांगनाओं। तुम लोग डरो मत, हमारा आतिथ्य स्वीकार करो। अभी यहीं ठहरो। हमारा आश्रय सूना मत करो। इस प्रकार जब नर–नारायण ने उन्हें अभयदान देते हुये इस

प्रकार कहा, तब कामदेव आदि के सिर लज्जा से झुक गये। उन्होनें दयालु भगवान नर–नारायण से कहा– प्रभो! आपके लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि आप माया से परे और और निर्विकार हैं। धीर पुरूष निरन्तर आपके चरण–कमलों में प्रणाम करते रहते हैं। आपके भक्त आपकी भक्ति के प्रभाव से देवताओं की राजधानी अमरावती का उल्लंघन करके आपके परम्पद को प्राप्त होते हैं, इसलिये जब वे भजन करने लगते हैं, तब देवता लोग तरह–तरह से उनकी साधना में विघ्न डालते हैं किन्तु जो लोग केवल कर्मकाण्ड में लगे रहकर यज्ञादि के द्वारा देवताओं के बलि के रूप में उनका भाग देते रहते हैं, उन लोगों के मार्ग में वे किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालते। परन्तु प्रभो! आपके भक्तजन उनके द्वारा उपस्थित की हुई विघ्न–बाधाओं से गिरते नहीं। बल्कि आपके कर–कमलों की छत्रछाया में रहते हुये वे विघ्नों के सिर पर पैर रखकर आगे बढ़ जाते हैं, अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होते। बहुत से लोग तो ऐसे होते हैं, जो भूख–प्यास, गर्मी–सर्दी एवं आंधी–पानी के कष्टों को तथा रसनेन्द्रिय और जनेन्द्रिय के वेगों को, जो अपार समुद्रों के समान हैं, सह लेते हैं, पार कर जाते हैं परन्तु फिर भी वे उस क्रोध के वश में हो जांते हैं, जो गाय के खुर से बने गड्ढे के समान हैं और जिससे

कोई लाभ नहीं है, आत्मनाशक है, और प्रभो ! वे इस प्रकार अपनी कठिन तपस्या को खो बैठते हैं।

जब कामदेव, बसन्त आदि देवताओं ने इस प्रकार स्तुति की तव सर्वशक्तिमान भगवान् ने अपने योगबल से उनके सामने वहुत सी ऐसी स्मरणीयता प्रकट करके दिखलायीं, जो अद्भुत रूप लावण्य से सम्पन्न और विचित्र वस्त्रलंकार से सुसज्जित थी, तथा भगवान की सेवा कर रही थी। जब देवराज इन्द्र के अनुचरों ने उन लक्ष्मी जी के समान रूपवती स्त्रियों को देखा, तब उनके महान सौन्दर्य के सामने उनका सिर झुक गया। देव देवेश भगवान् नारायण हँसते हुए से उनसे बोले, तुम लोग इनमें से किसी एक स्त्री को, जो तुम्हारे अनुरूप हो, ग्रहण कर लो। वह तुम्हारे स्वर्गलोक की शोभा बढ़ाने वाली होगी। देवराज इन्द्र के अनुचरों ने "जो आज्ञा" कहकर भगवान् के आदेश को स्वीकार किया, तथा उन्हें नमस्कार किया। फिर उनके द्वारा बनायी हुई स्त्रियों में से श्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी को आगे करके स्वर्गलोक में गये। वहां पहुंचकर उन्होंने इन्द्र को नमस्कार किया तथा भी सभा में देवताओं के सामने भगवान् नर–नारायण के बल और प्रभाव का वर्णन किया। उसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त भयभीत और चकित हो गये।

भगवान् विष्णु ने अपने स्वरूप में एकरस स्थित रहते हुये भी सम्पूर्ण जगत के कल्याण के लिये बहुत से कलावतार ग्रहण किये हैं। विदेहराज, हंस, दन्तात्रेय, सनक–सनन्दन,–सनातन–सनत्कुमार और हमारे पिता ऋषभ के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्म साक्षात्कार के साधनों का उपदेश किया है। उन्होंने ही हयग्रीव अवतार लेकर मधु, कैटभ नामक असुरों का संहार करके उन लोगों के द्वारा चुराये हुये वेदों का उद्धार किया है। प्रलय के समय मत्स्यावतार लेकर उन्होंने भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी और औषधियों की धान्यादि की रक्षा की और वाराहवतार ग्रहण करके पृथ्वी का रसातल से उद्धार करते समय हिरण्याक्ष का संहार किया।

कूर्मावतार ग्रहण करके भगवान् ने अमृत–मंथन का कार्य सम्पन्न करने के लिये अपनी पीठ पर मन्दराचल धारण किया और उन्हीं भगवान विष्णु ने अपने शरणागत एवं अति भक्त गजेन्द्र को 'ग्राह' से छुड़ाया।

1. **गुप्तोप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये।**
   क्रौडे हतौ दितिजः उद्धरताम्भसः क्ष्माम्।।
   कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे।

ग्राहात् प्रपन्नभिमराजममुन्चदार्तम्।।

एक बार वालखिल्य ऋषि तपस्या करते–करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे वे जब कश्यप ऋषि के लिये समिधा के लिये जा रहे थे, तो थककर गाय के खुर से बने हुये गड़ढे में गिर पड़े मानो समुद्र में गिर गये हों। उन्होनें जब वृत्तासुर को मारने के कारण जब इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी और वे उसके भय से भागकर छिप गये तब भगवान् ने उस हत्या से इन्द्र की रक्षा की, और जब असुरों ने अनाथ देवांगनाओं को बन्दी बना लिया तब भी भगवान् ने ही उन्हें असुरां के चंगुल से छुड़ाया।

जब हिरण्यकश्यप के कारण प्रह्लाद आदि संत–पुरूषों को भय पहुंचाने लगा तब उनको निर्भय करने के लिये भगवान् ने नृसिंह अवतार ग्रहण किया और हिरण्यकश्यप को मार डाला।

देवताओं की रक्षा के लिये देवासुर संग्राम में दैत्यपतियों का वध किया, और विभिन्न मन्वन्तरों में अपनी शक्ति से कलावतार धारण करके त्रिभुवन का कल्याण किया। वामन अवतार ग्रहण करके उन्होनें याचना के बहाने इस पृथ्वी को दैत्यराज बलि से छीन लिया और अदितिनंदन देवताओं को दे दिया।

परशुराम अवतार ग्रहण करके उन्होनें ही पृथ्वी को इक्कीसवीं बार क्षत्रियहीन किया। परशुरामजी तो क्षत्रियवंश का प्रलय करने के लिये मानो भृगुवंशी में अग्निकूप से ही अवतीर्ण हुये थे।

भगवान् विष्णु रामावतार में समुद्र पर पुल बांधा एवं रावण का संहार कर लंका का राज विभीषण को सौंप दिया। उनकी सम्पूर्ण कीर्ति समस्त लोकों में फैली। सीतापति भगवान् राम सदा–सर्वदा मर्यादा के प्रतिमूर्ति सर्वत्र विजयी हैं।

अजन्मा होने पर भी पृथ्वी का भार उतारने के लिये वे ही परमधाम भगवान् यदुवंश में जन्म लेंगे और ऐसे कर्म करेंगे। जिन्हें बड़े–बड़े देवता भी नहीं कर पाते। फिर आगे चलकर भगवान् ही बुद्ध के रूप में प्रकट होंगे और यज्ञ के अनाधिकारियों को यज्ञ करते देखकर अनेक प्रकार के तर्क–वितर्क से मोहित कर लेंगे और कलियुग के अंत में कल्कि अवतार लेकर वे ही शूद्र–राजाओं का वध करेंगे।

भगवान की कीर्ति अनन्त है, अतः सम्पूर्ण सृष्टि के नियन्ता भगवान विष्णु को बारम्बार प्रणाम है।

विष्णु के अवतारों की समीक्षा

सम्पूर्ण लोक भगवान् के एकमात्र पदमात्र (अंशमात्र) है तथा उनके अंशमात्र लोक में समस्तर प्राणी निवास करते हैं। भूलोक, भुवलोक और स्वर्गलोक ऊपर महालोक हैं उसके भी ऊपर जन, तप और सत्यलोक में क्रमशः अमृत, क्षम एवं अभय का नित्य निवास है।

जप, तप और सत्य इन तीनों लोकों में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं सन्यासी निवास करते हैं। दीर्घकालीन ब्रह्मचर्य से रहित गृहस्थ भूलोक, भुवलोक और स्वर्गलोक के भीतर ही निवास करते हैं।

शास्त्रों में दो मार्ग बतलाये गये हैं– एक अविद्यारूप कर्म मार्ग, जो सकाम पुरूषों के लिये है, और दूसरा उपासना रूप विद्या मार्ग, जो निष्काम उपासकों के लिये है। मनुष्य दोनों में से किसी एक का आश्रय लेकर भोग प्राप्ति करने वाले दक्षिण मार्ग से अथवा मोक्ष प्राप्त करने वाले उत्तर मार्ग से यात्रा करता है किन्तु पुरूषोत्तम भगवान् दोनों के आधारभूत है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से सबको प्रकाशित करते हुए भी सबसे अलग हैं, वैसे ही जिन परमात्मा से इस अखणुकी और पंचभूत, एकादश इन्द्रिय एवं गुणमय विराट् की उत्पत्ति हुई है– वे प्रभु भी इन समस्त वस्तुओं के अन्दर और उनके रूप में रहते हुये भी उनसे सर्वथा अतीत है। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हीं भगवान् नारायण में स्थित हैं। जो स्वयं तो प्राकृत गुणों से रहित हैं, परन्तु सृष्टि के प्रारम्भ में माया के द्वारा बहुत से गुण ग्रहण कर लेते हैं।

परमात्मा का पहला अवतार विराट् रूप है, उनके सिवा काल स्वभाव, कार्य, कारण, मन पंचभूत, अंहकार, तीनों गुण इन्द्रियां, ब्रह्माण्ड शरीर, उसका अभिमानी, स्थावर, जगम जीव सब के सब उन अनन्त भगवान के ही रूप है। अनन्त भगवान ने प्रलय के जल में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिये समस्त यज्ञमय वाराह शरीर ग्रहण किया था। आदि दैत्य हिरण्याक्ष जल के अन्दर ही लड़ने के लिये उनके सामने आया। जैसे इन्द्र ने वज्र से पर्वतों के पंख काट डाले थे, वैसे ही वाराह भगवान् ने अपनी दाढ़ों से उसके टुकड़े–टुकड़े कर दिये थे। पुनः उन्हीं प्रभु ने रूचि नाम प्रजापति की पत्नि आकृति के गर्भ से सुयज्ञ के रूप में अवतार ग्रहण किया। उस अवतार में उन्होंने दक्षिणा नाम की पत्नि से सुयम नाम के देवताओं को उत्पन्न किया और तीनों

लोकों के बड़े–बड़े संकट हर लिये। इन्हीं से स्वाम्भुव मनु न उन्हें **''हरि''** के नाम से पुकारा।

कर्दम प्रजापति के घर देवहुति के गर्भ से नौ बहिनों के साथ भगवान् ने कपिल के रूप में अवतार ग्रहण किया। उन्होंने अपनीह माता को उस आत्मज्ञान का उपदेश दिया, जिससे वे इसी जन्म में अपने हृदय के सम्पूर्ण पल तीनों गुणों की आसक्ति का सारा कीचड़ धोकर कपिल भगवान् के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हो गयी।

महर्षि अत्रि भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त करना चाहते थे। उन पर प्रसन्न होकर भगवान् ने उनसे एक दिन कहा कि **''मैनें स्वयं को तुम्हें दिया''** इसी से अवतार लेने पर भगवान का नाम **''दत्तात्रेय''** पड़ा। उनके चरण कमलों के पराग से अपने शरीर को पवित्र करके राजा यदु और सहस्त्रार्जुन आदि ने योग की भोग और मोक्ष दोनों ही सिद्धियां प्राप्त की।

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने विविध लोकों को रचने की इच्छा से तपस्या की। उस अखण्ड तप से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने **''तप''** अर्थ वाले **''सन''** नाम से युक्त होकर सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार के रूप में अवतार ग्रहण किया। इस अवतार में उन्होंने प्रलय के कारण पहले कल्प के भूले हुये आत्मज्ञान का ऋषियों के प्रति यथावत उपदेश किया, जिससे उन लोगों ने तत्काल परम तत्व का अपने हृदय में साक्षात्कार कर लिया।

धर्म की पत्नि दक्षकन्या मूर्ति के गर्भ से नर–नारायण के रूप में प्रकट हुये। उनकी तपस्या का प्रभाव उन्हीं के जैसा है। इन्द्र की भेजी हुई काम की सेना अप्सरायें उनके सामने जाते ही अपना स्वभाव खो बैठी, वे अपने हाव–भाव से उन आत्मस्वरूप भगवान की तपस्या में विघ्न नहीं डाल सकी। शंकर आदि भगवान अपनी रोषभरी दृष्टि से कामदेव को जला देते हैं, परन्तु अपने आपको जलाने वाले असहज क्रोध को वे नहीं जला पाते। वही क्रोध नर–नारायण के निर्मण हृदय में प्रवेश करने के पहले ही डर के मारे कांप जाता है, फिर भला उनके हृदय में काम का प्रवेश तो हो ही कैसे सकता है।

अपने पिता राजा उत्तानपाद के पास बैठे हुये पांच वर्ष के बालक ध्रुव को उनकी सौतेली माता सुरूचि ने अपने वचन वाणों से बेध दिया था। इतनी छोटी अवस्था होने पर भी वे उस ग्लानि से तपस्या करने के लिये वन में चले गये। उनकी प्रार्थना से

प्रसन्न होकर भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने ध्रुव को ध्रुवपद का वरदान दिया। आज भी ध्रुव के ऊपर नीचे प्रदक्षिणा करते हुए दिव्य महर्षिगण उनकी स्तुति करते रहते हैं।

कुमार्गगामी वेन का ऐश्वर्य और पौरूष ब्राह्मणों के हुंकार रूपी वज्र से जलकर भस्म हो गया। वह नरक में गिरने लगा। ऋषियों की प्रार्थना पर भगवान ने उनके शरीर मन्थन से पृथु के रूप में अवतार धारण कर उसे नर्क से उबारा और इस प्रकार पुत्र शब्द को चरितार्थ किया। उसी अवतार में पृथ्वी को गाय बनाकर उन्होनें उससे जगत के लिये समस्त औषधियों का दोहन किया।

राजा नाभिकी पत्नि सुदेवी के गर्भ से भगवान ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रहकर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप में उन्होंने जड़ों की भांति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोक परमहंस पद अथवा अवधूतचर्या कहते हैं।

इनके बाद स्वयं उन्हीं यज्ञपुरूष ने यज्ञ में स्वर्ग के समान कान्तिवाले हृदयग्रीव रूप में अवतार ग्रहण किया। भगवान् का वह विग्रह, वेदमय, यज्ञमय और सर्ववेदमय है। उन्हीं के नासिका से श्वास के रूप में वेदवाणी प्रकट हुई।

चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में भावी मनु सत्यव्रत ने मत्स्यरूप में भगवान को प्राप्त किया था। उस समय पृथ्वी रूप नौका के आश्रय होने के कारण वे ही समस्त जीवों के आश्रय बने। प्रत्यक्ष के उस भयंकर जल में मेरे मुख से गिये हुये वेदों को लेकर वे उसी में बिहार करते रहे।

जब देवता और दानव अमृत की प्राप्ति के लिये क्षीरसागर को मथ रहे थे, तब भगवान ने कच्छप के रूप में अपनी पीठ पर मन्दराचल धारण किया। उस समय पर्वत के घूमने के कारण उसकी रगड़ से उनकी पीठ की खुजलाहट थोड़ी मिट गयी, जिससे वे कुछ क्षणों तक सुख की नींद सो सके।

देवताओं का महान भय मिटाने के लिये उन्होंने नृसिंह का रूप धारण किया। फड़कती हुई भौहें और तीखी दाढ़ों से उनका मुख बड़ा भयावना लगता था। हिरण्यकश्यपु उन्हें देखते ही हाथ में गदा लेकर उन पर टूट पड़ा। इस पर भगवान नृसिंह ने दूर से ही उसे पकड़कर अपनी जंघाओं पर डाल दिया और उसके छटपटाते रहने पर भी अपने नखों से उसका पेट फाड़ दिया।

बड़े भारी सरोवर में महाबली ग्राह ने गजेन्द्र का पैर पकड़ लिया। जब वहुत प्रयास करते हुए थककर वह घबड़ा गया, तब अपने सूंड़ में कमल लेकर भगवान् को पुकारा– हे आदिपुरूष! हे समस्त लोक के स्वामी ! हे श्रवण मात्र से कल्याण करने वाले आप मेरा कल्याण करें। उसकी पुकार सुनकर अनन्त शक्ति भगवान् चक्रपाणि गरूड़ की पीठ पर चढ़कर वहां आये और अपने चक्र से उन्होंने ग्राह का मस्तक काट दिया। इस प्रकार भक्त वत्सल भगवान् ने अपने गजेन्द्र की सूंड पकड़कर उस विपत्ति से उसका उद्धार किया।

भगवान वामन अदिति के पुत्रों में सबसे छोटे थे, परन्तु गुणों की दृष्टि से वे सबसे बड़े थे, क्योंकि यज्ञ पुरूष भगवान् ने इस अवतार में बलि के संकल्प छोड़ते ही सम्पूर्ण लोकों को अपने चरणों से ही नाम लिया था। वामन बनकर उन्होंने तीन पग पृथ्वी के बहाने बलि से सारी पृथ्वी ले तो ली, परन्तु इससे यह बात सिद्ध कर दी कि सन्मार्ग पर चलने वाला पुरूष को याचना के सिवा और किसी उपाय से समर्थ पुरूष भी अपने स्थान से नहीं हटा सकते, ऐश्वर्य से च्युत नहीं कर सकते। दैत्यराज बलि ने अपने सिर पर स्वयं वामन् भगवान् का चरणामृत धारण किया था। ऐसी स्थिति में उन्हें जो देवताओं के राजा इन्द्र की पदवी मिली, इसमें कोई बालिका पुरूषार्थ नहीं था। अपने गुरू शुक्राचार्य के मना करने पर भी वे अपने प्रतिज्ञा के विपरीत कुछ भी करने को तैयार नहीं हुए, और भगवान् का तीसरा पग पूरा करने के लिये, उनके चरणों में सिर रखकर उन्होंने अपने को समर्पित कर दिया।

नारद के अत्यन्त प्रेमभाव से प्रसन्न होकर हंस के रूप में भगवान ने उन्हें योग, ज्ञान ओर आत्मतत्व के शरणागत भक्तों को ही सुगमता से प्राप्त होता है। वहीं रावण जब श्रीरामचन्द्र जी की पत्नि सीताजी को चुराकर ले जाते हैं, और लड़ाई के मैदान में उनसे लड़ने के लिये गर्वपूर्वक आता है, तब भगवान् श्रीराम के धनुष की टंकार से ही उसका वह घमण्ड प्राणों के साथ तत्क्षण विलीन हो जाता है। वे ही भगवान् स्वायम्भुव आदि मन्वन्तों में मनु के रूप में अवतार लेकर मनुवंश की रक्षा करते हुये दसों दिशाओं में अपने सुदर्शन चक्र के समान तेज से निष्कटक राज्य करते हैं। तीनों लोकों के ऊपर सत्यलोक तक उनके चरित्रों की कमनीय कीर्ति फैल जाती है और उसी रूप में वे समय–समय पर पृथ्वी के भारभूत दुष्ट राजाओ का दमन भी करते हैं।

स्वनाम धन्य भगवान् धन्वन्तरि अपने नाम से ही बड़े–बड़े रोगियों के रोग तत्काल नष्ट कर देते हैं। उन्होंने अमृत पिलाकर देवताओं को अमर कर दिया और दैत्यों के द्वारा हरण किये हुये उनके यज्ञ भाग उन्हें फिर से दिला दिये। उन्होंने ही संसार में आयुर्वेद का प्रवर्तन किया।

1. धन्वन्तरिश्च भगवान् स्वयमेव कीर्ति,
नीम्ना नृणां पुरूरूजां रूज आशु हन्ति।
यज्ञे च भागमृतापुरवावरून्ध,
आयुश्च वेमनुशास्त्यवर्तीय लोके।।

जब संसार में ब्राह्मण द्रोही आर्यमर्यादा का उल्लंघन करने वाले नारकीय क्षत्रिय अपने नाश के लिये ही दैववश बढ़ जाते है और पृथ्वी के कांटे बन जाते हैं तब भगवान् महापराक्रमी परशुराम के रूप में अवतार लेकर अपनी तीखी धारवाले फरसे से इक्कीस बार उनका संहार करते हैं।

2. क्षत्रं क्षत्राय विधिनोपभृतं महात्मा,
ब्रह्मध्रुगुज्झितपयं नरकार्तिलिप्सु।
उद्धन्त्य साववनिकष्टकमुग्रवीर्य,
स्त्रिःसत्तकृत्व उरूधारपरश्वधेन।।

मायापति भगवान् संसार में मर्यादा स्थापित करने के लिये अपनी कलाओं– भरत,

शत्रुघ्न और लक्ष्मण के साथ श्रीराम के रूप में इक्ष्वाकुवंश में अवतीर्ण हुए। इस अवतार में अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये अपनी पत्नि और भाई के साथ वे वन में निवास करते हैं। उसी समय उनसे विरोध करके रावण उनके हाथों मारा जाता है। त्रिपुर विमान को जलाने के लिये उद्यत शंकर के समान जिस समय सीता के वियोग के कारण बढ़ी हुई क्रोधाग्नि से उनकी आंखें इतनी लाल हो जाती है कि उनकी दृष्टि से ही समुद्र मगरमच्छ, सांप और ग्राह आदि जीव जलने लगते है और भय से कांपता हुआ समुद्र उन्हें शीघ्र ही मार्ग दे देता है।

जब रावण की छाती से टकराकर इन्द्र के वाहन ऐरावत के दांत चूर–चूर होकर चारों ओर फैल गये थे, जिससे दिशाएं सफेद हो गई थी तब दिग्विजय रावण घमण्ड से फूलकर हंसने लगा था, वहीं रावण जब श्रीरामचन्द्र की पत्नि सीताजी को चुराकर ले

---

1. श्रीमद्भागवत 2/7/21 2. श्रीमद्भागवत 2/7/22

जाते हैं और लड़ाई के मैदान में उनसे लड़ने के लिये गर्वपूर्वक अता है, तव भगवान् श्रीराम के धनुष की टंकार से ही उसका वह घमण्ड प्राणों के साथ तत्क्षण विलीन हो जाता है।

संसार में जिस समय झुंड के झुंड दैत्य पृथ्वी को रौंद रहे थे, उस समय उसका भार उतारने के लिये भगवान् अपने सफेद और काले केश से बलराम और श्रीकृष्ण के रूप में कलावतार ग्रहण किये। " केशों का अवतार कहने का अभिप्राय यह है कि पृथ्वी का भार उतारने के लिये भी उन्हें क्रमशः सफेद और काले केशों का अवतार कहा गया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण तो पूर्णपुरूष स्वयं भगवान् हैं **"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"**।

वे अपनी महिमा को प्रकट करने वाले इतने अद्भुत चरित्र करेंगे कि संसार के मनुष्य उनकी लीलाओं का रहस्य बिल्कुल नहीं समझ सकेंगे। बचपन में ही पूतना के प्राण हर लेना, तीन महीने की अवस्था में पैर उछालकर बड़ा भारी छकड़ा उलट देना और घुटनों के बल चलते-चलते आकाश को छूने वाले यमलार्जुन वृक्षाकं के बीच में जाकर उन्हें उखाड़ डालना- ये सब ऐसे कर्म हैं, जिन्हें भगवान के सिवा और कोई नहीं कर सकता। जब कलियनाग के विष से दूषित हुआ यमुना जल पीकर बछड़े और गोप बालक मर जाते हैं तब वे अपनी सुधामयी कृपा दृष्टि की वर्षा से उन्हें जीवित कर देते हैं और यमुना जल को शुद्ध करने के लिये वे उसमें बिहार किये और कालियानाग के विष से उस जल को मुक्त कराये। भगवान् कृपा परवश होकर सात दिनों तक गोवर्धन पर्वत धारण करके वृजवासियों की रक्षा की। कंस का संहार कर एवं धर्मयुद्ध का साथ देकर संसार का कल्याण किया।

कालक्रमेण मनुष्य की अल्पज्ञता को देखते हुये एवं आयु में क्षीणता आते हुये देखकर भगवान् जब समझते हैं कि ये योग मेरे तत्व को बताने वाली वेदवाणी को समझने में असमर्थ होते जा रहे हैं, तब प्रत्येक कल्प में सत्यवती के गर्भ से व्यास रूप में प्रकट होकर वे वेदरूपी वृक्ष का विभिन्न शाखाओं के रूप में विभाजन किया।

देवताओं के शत्रु दैत्यलोग भी वेदमार्ग का सहारा लेकर मयदानव के बनाये हुए अदृश्य वेगवाले नगरों में रहकर लोगों का सत्यानाश करने लगे थे, तब भगवान लोगों की बुद्धि में मोह और अत्यन्त लोभ उत्पन्न करने वाला वेष धारण करके बुद्ध के रूप में बहुत से उपधर्मों का उपदेश किया।

कलियुग के अन्त में जब सत्यपुरूषों के घर में भगवान् की कथा होने में बाधा पड़ने लगेगी, ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य पाखण्डी और शूद्र राजा हो जायंगे, यहां तक कि कही भी स्वाहा, स्वधा और बषट्कार की ध्वनि– देवता– पितरों के यज्ञ श्राद्ध की बात तक नहीं सुनायी पड़ेगी तब कलियुग का शासन करने के लिये भगवान कल्कि अवतार ग्रहण करेंगे।

जब संसार की रचना का समय होता है, तब तपस्या, नौ प्रजापति, मरीचि आदि ऋषि और ईश्वर रूप में जब सृष्टि की रक्षा का समय होता है, तब धर्म, विष्णु, मनु, देवता और राजाओं के रूप में तथा जब सृष्टि के प्रलय का समय होता है, तब अधर्म, रूद्र तथा क्रोधवश नाम के सर्प एवं दैत्य आदि के रूप में सर्व शक्तिमान भगवान् की माया विभूतियां ही प्रकट होती हैं।

परमात्मा वास्तविक स्वरूप एकरस, शान्त, अभय एवं केवल ज्ञान स्वरूप हैं। न उसमें माया का मल है और न तो उसके द्वारा रची हुई विषमताएं हीं। वह सत् और असत् दोनों से परे हैं। किसी भी वैदिक या लौकिक शब्द की वहां तक पहुंच नहीं है, अनेक प्रकार के साधनों से सम्पन्न होने वाले कर्मों का फल भी वहां तक नहीं पहुंच सकता। परम पुरूष भगवान् का वही परमपद है। संयमशील पुरूष उसी में अपने मन को समाहित करके स्थित हो जाते हैं।

भगवान विष्णु की नवधा भक्ति

1. **यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।**
   योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।।
   सर्वमद्‌भक्तियोगेन मद्‌भक्तोलभतेऽन्जसा।।

कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान धर्म तथा तीर्थयात्रा व्रत आदि अन्य साधनों के द्वारा जो फल होता है, मेरा भक्त भक्ति योग के द्वारा वह सब अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

भगवान् को प्राप्त करना हो तो भक्ति ही एक ऐसा साधन है जो सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है और इसमें सभी मनुष्यों का अधिकार है। वर्तमान समय कलिकाल में भक्ति के समान आत्मोद्धार व ईश्वर प्राप्ति के लिये इससे सुगम दूसरा अन्य कोई उपाय हो नहीं सकता।

क्योंकि इस समय सेक ज्ञान, भोग, तप, यज्ञ आदि सिद्ध होने बहुत कठिन हैं। अतः मनुष्य को दृढ़ विश्वास और पूर्ण लगन के साथ केवल ईश्वर भक्ति का ही साधन करना चाहिये। यदि ध्यान से देखा जाये तो संसार में जो मनुष्य धर्म को मानने वाले हैं, उनमें से आध्कि मनुष्य ईश्वर भक्ति को ही उचित साधन मानते हैं।

ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर की भक्ति को संक्षेप उल्लेख किया जाये तो, जो सम्पूर्ण विश्व पर शासन करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वान्तरयामी हैं, न्याय और सदाचार ही जिनका नियम है, जो सबके साक्षी बुद्धि और ज्ञान प्रदान करने वाले हैं, तथा जो तीनों गुणों से अतीत हुए भी लीलामात्र से गुणों के भोक्ता हैं, जिनकी भक्ति से मनुष्य सम्पूर्ण, दुर्गण, दुराचार और दुःखों से विमुक्त होकर परमपवित्र बन जाता है। जो अव्यक्त होकर भी जीवों पर दया करके जीवों के कल्याण एवं धर्म के प्रचार तथा भक्तों को आश्रय देने के लिये अपनी लीला से समय–समय पर देव मनुष्य आदि अनेक रूपों में व्यक्त होते हैं, अर्थात साकार रूप से प्रत्यक्ष प्रकट होकर भक्तजनों को उनके इच्छानुसार दर्शन देकर आह्लांदित करते हैं। हरि, विष्णु, राम, कृष्ण, महेश, शिव ब्रह्मा, गणेश आदि शक्तियों, स्वरूपों नामों द्वारा जाने जाते हैं, उन सभी प्रेममय नित्य अविनाशी, विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी को ही ईश्वर समझना चाहिये।

भक्ति का अभिप्राय है – **''सा परानुरक्तिरीश्रे''**

ईश्वर में परम अनुराग यानी परम प्रेम होना ही भक्ति है। देवर्षि नारदजी ने भक्ति सूत्र में कहा है–

''सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा''

उस परमेश्वर में अतिशय प्रेमरूपता भक्ति है। 'अमृतस्वरूपा च'' और वह अमृत स्वरूप है। इस प्रकार शास्त्रों में अनेक वचन मिलते हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि ईश्वर में जो परम प्रेम है, वहीं अमृत है, वहीं वस्तुतः भक्ति है। प्रेम सेवा का परिणाम है और भक्ति के साधन की अन्तिम सीमा है। जैसे वृक्ष होना उसका फल लग जाने पर ही वृक्ष की सफलता है, इसी प्रकार भक्ति की पूर्णता और गौरव भगवान में परम प्रेम का होना ही भक्ति है।

भगवान भक्ति में केवल प्रेम को ही अधिक देखते हैं। आयु, रूप का कोई मूल्य नहीं है। विद्या, धन, जाति और बल भी इसमें नहीं देखते, भगवान भक्ति में सदाचार और सद्गुणों की ओर भी विशेष ध्यान नहीं देते। वे तो केवल प्रेम को ही देखते हैं। यद्यपि सदाचार और सद्गुणों की ओर भी विशेष ध्यान नहीं देते। वे तो केवल प्रेम को ही देखते है। यद्यपि सदाचार और सद्गुणों का होना भक्तों के लिये आवश्यक है, जो उस भक्त में भक्ति के प्रभाव से अनायास ही आ जाते हैं, इसलिये ईश्वर की भक्ति में सदाचार और सद्गुणों की प्रधानता नहीं मानी गयी है।

भक्ति नौ प्रकार की होती है –

1. **श्रवणं कीतनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।**
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।

भगवान विष्णु के नाम, रूप, गुण और प्रभावादि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान की चरण–सेवा, पूजन–वंदन एवं भगवान् में दासभाव, सखाभाव और अपने को समर्पण कर देना ये नवधा भक्ति कहे गये हैं।

शास्त्रों में भक्ति के अनेक भाँति–भाँति के लक्षण बताये गये हैं किन्तु सिद्धान्त से इनमें कोई भेद नहीं है, अर्थ इसका एक ही है कि स्वामी जिस भाव व आचरण करना सेवा भक्ति है।

नवधा भक्ति में से एक प्रकार की भक्ति का भी भली–भाँति अनुष्ठान पालन कर लें तो मनुष्य परम्पद को प्राप्त कर लेता है फिर यदि नवधा भक्ति का अच्छी प्रकार से

---

1. *श्रीमद्भागवत 6/5/23*

अनुष्ठान करने वाला कोई हो तो उसके कल्याण का तो कहना ही क्या है ?

श्रवण भक्ति – भगवान् के प्रेमी परम् भक्तों द्वारा कहे गये भगवान् के नाम रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्व और रहस्यमयी–अमृतमयी कथाओं का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना एवं उन अमृतमयी कथाओं का श्रवण करके, वीणा आदि सुमधुर वाद्यों से जैसे हरिण मुग्ध हो जाता है, वैसे प्रेम से मुग्ध हो जाना श्रवण– भक्ति का स्वरूप याने लक्षण हैं।

श्रवण भक्ति प्राप्ति के लिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सन्त, महात्मा, विद्वान पुरूषों को साष्टांग प्रणाम, उनकी सेवा और उनके निकटपट भाव से भक्ति विषयक प्रश्न करना और उनके बतलाये हुये मार्ग के अनुसार आचरण करना– यह श्रवण भक्ति को प्राप्त करने की विधि है।

श्रवण भक्ति महापुरूषों के संग बिना प्राप्त होना कठिन है– राजा रहुगण के प्रति महात्मा जड्भत कहते हैं कि हे रहुगण! महापुरूषों के चरणों की धूलि में स्नान किये बिना केवल तप, यज्ञ, दान, गृहस्थधर्म पालन और वेदाध्ययन से तथा जल, अग्नि और सूर्य की उपासना से वह परमतत्व का ज्ञान प्राप्त नहीं होता।

इसका तात्पर्य यही है कि समस्त कार्यों की सिद्धि महापुरूषों के संग ही होती है। महापुरूषों का संग, दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है। इसलिये भगवत्प्राप्ति के इच्छुक मनुष्यों को उन उत्पुरूषों का संग आवश्यक मेव करना चाहिये।

सत्पुरूषों द्वारा प्राप्त हुई इस प्रकार की केवल श्रवण भक्ति से ही मनुष्य परमपद् को प्राप्त कर सकता है। नारदजी ने सनकादि के प्रति कहा है–

1. **श्रवणं सर्वधर्मेग्यो वरं मन्ये तपोधनाः।**
   वैकुण्ठस्थो यतः कृष्णः श्रवणाद् यस्य लग्यते।।

हे तपोधन! मैं भगवान के गुणानुवादों के श्रवण को सब धर्मों से श्रेष्ठ मानता हूँ। क्योंकि भगवान के गणानुवाद सुनने से वैकुण्ठ स्थित भगवान की प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार सूत जी ने भी कहा है –

1. **तुलयाम लवेनापि न स्वर्ग ना पुनर्भवम्।**
   भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।।

नित्य भगवान के साथ रहने वाले अनन्य प्रेमी भक्तों के निमेष मात्र के भी संग के

---

1. *श्रीमद्भागवत महात्म्य 6/66*

साथ हम स्वर्ग तथा मोक्ष की भी समानता नहीं कर सकते। फिर मनुष्यों के इच्छित पदार्थों की तो बात ही क्या है ?

अतः अपना स्मरण जीवन महापुरूषों के संग रहते हुये भी भगवान के नाम, रूप, गुण, प्रेम प्रभाव, रहस्य और तत्व की अमृतमयी कथाओं को निरन्तर सुनने में ही लगना चाहिये, और उन्हें सुन–सुनकर प्रेम और आनन्द में मुग्ध होते हुये अपने मनुष्य जीवन को सफल बनाना चाहिये।

कीर्तन भक्ति

भगवान के नाम, रूप, रूप, गुण, प्रभाव, चरित्र तत्व और रहस्य का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उच्चारण करते करते, शरीर में रोमांच, कण्डावरोध, अश्रुपात हृदय की प्रफुल्लता, मुग्धता आदि का होना कीर्तन भक्ति का स्वरूप है।

कथा–प्रवचनादि के द्वारा भक्तों के सामने भगवान् के प्रेमभाव का कथन करना, एकान्त, एकान्त में अथवा बहुतों के साथ मिलकर भगवान् के सम्मुख समझते हुये उनके नाम का उपांशु जप एवं ऊंचे स्वर से कीर्तन करना। भगवान् के गुण, प्रभाव, चरित्र आदि का श्रद्धा और प्रेमपूर्वक धीरे–धीरे या जोर से खड़े या बैठे रहकर, वाद्य नृत्य के सहित अथवा बिना बाद्य नृत्य के सहित उच्चारण करना तथा दिव्य स्तोत्र एवं पदों के द्वारा भगवान् की स्तुति प्रार्थना करना यही उपर्युक्त भक्ति को प्राप्त करने का प्रकार है, किन्तु ये सब क्रियाएं नाम के दस अपराधों को बचाते हुये दम रहित एवं शुद्ध मन, भावना से स्वाभाविक रूप से होना चाहिये।

दस अपराधों की गणना इस प्रकार की गई है– सत्पुरूषों की निन्दा, अश्रद्धालुओं के नाम की महिमा का कहना, विष्णु और शिव में भेद बुद्धि, वेद, शास्त्र और गुरू की वाणी में अविश्वास, हरि के नाम में अर्थवाद का भ्रम अर्थात केवल स्तुति मात्र है। ऐसी मान्यता है कि नाम बल से विहित का त्याग और निषिद्ध का आचरण अन्य धर्मों की तुलना ये सब भगवान के नाम–जप के दस अपराध हैं।

इस प्रकार से कीर्तन भक्ति को प्राप्त करके सबको भगवान में अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति हो जाये, इसी उद्देश्य से संसार में इसका प्रचार करना यह इसका प्रयोजन है।

कीर्तन भक्ति भी ईश्वर एवं महापुरूषों की कृपा से ही प्राप्त होती है, क्योंकि भगवान के भक्तों द्वारा भगवान के प्रेम, प्रभाव, तत्व और रहस्य की बातों को सुनने से

एवं शास्त्रों को पढ़ने से ही भगवान में श्रद्धा होती है और तब मनुष्य उपर्युक्त भक्ति को प्राप्त कर सकता है। अतः भगवान और उसके भक्तों की दया प्राप्त करने के लिये उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिये।

इस प्रकार कीर्तन भक्ति से भी मनुष्य परमात्मा की दया उसमें अनन्य प्रेम करके उसे प्राप्त कर सकता है। भागवत् और रामायणादि सभी भक्ति के ग्रन्थों में भगवान के केवल नाम और गुणों के कीर्तन से सब पापों का नाश एवं भगवत्प्राप्ति होना बतलाया है–

1. **ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाऽचार्य हाधवान्।**
स्वादः पुल्कस को वापि शुदध्येरन् यस्य कीर्तिनात्।।

ब्राह्मसाघाती, पितृघाती, गोघाती, मातृघाती, गुरूघाती ऐसे पापी तथा चाण्डाल एवं म्लेच्छ जाति वाले जिसके कीर्तन से शुद्ध हो जाते हैं।

1. **कलेर्दोषनिधि राजन्नस्ति ह्येको महान गुणः।**
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंग परं ब्रजेतः।।

दोषों के खजाने कलियुग में एक ही यह महान गुण है कि भगवान् कृष्ण के कीर्तन से ही मनुष्य आसक्ति रहित होकर परमात्मा को प्राप्त हो जाता है–

महर्षि पतंजलि का कथन है– "उस परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, नाम ओंकार है" उस परमात्मा का नाम का जप और उसके अर्थ की भावना अर्थात् स्वरूप का चिन्तन करना। इन साधनों से सम्पूर्ण विघ्नों का नाश एवं परमात्मा की प्राप्ति होती है।

(पातन्जलि योगसूत्र)

3. **हरेर्नाम, हरेर्नाम, हरेर्नामैव केवलम्।**
कलौ नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा।।

कलियुग में केवल श्रीहरि का नाम ही कल्याण का परम् साधन है, इसको छोड़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार शास्त्रों में और भी बहुत से प्रमाण मिलते हैं। कीर्तन भक्ति द्वारा अनेक भक्तगण भवसागर से तर गये हैं। अतः जैसे मेघ को देखकर पपीहा जल के लिये पी–पी रट लगाता है वैसे ही भगवान् में परम् प्रेम होने के लिये एवं भगवान् के नाम और गुण के कीर्तन की नित्य–निरन्तर तत्पर होकर प्राण–पर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

---

1. श्रीमद्भागवत 6/13/8 2. पातन्जलि योगसूत्र 1/27–28 3. नारदपुराण 1/41/115

पाद सेवन भक्ति

जो वज्र, अंकुश, ध्वजा एवं कमल आदि चिन्हों से युक्त है, जिनके शोभायुक्त रक्तवर्ण, उन्नत, नख–मण्डल की प्रभा भक्तों के हृदय के महान अंधकार को पूर्णतः नष्ट कर देती है, प्रभु के उन चरणों का बड़े प्रेम से चिन्तन करना चाहिये।

श्री भगवान् के दिव्य मंगलमय स्वरूप की धातु आदि की मूर्ति चित्रपट अथवा मानस मूर्ति के मनोहर चरणों का श्रृद्धापूर्वक दर्शन, चिन्तन, पूजन और सेवन करना, चरणोदक लेना, भगवान् के चरणों का बार–बार चिन्तन करना, उनके चरण टिके हुये स्थान अयोध्या, चित्रकूट, वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानों को जहां उनका प्राकट्य हुआ है या जहॉ–जहॉ उनके चरण टिके हैं, उन्हें परम पवित्र तीर्थ समझकर मस्तक पर धारण करना, उसको भी प्रणाम स्नान पानादि के द्वारा श्रृद्धा भक्ति से सेवन करना "पाद–सेवन"

भक्ति के ही विभिन्न प्रकार बतलाये गये हैं।

भगवान् के अनन्य भक्तों का संग करने से भगवान् की चरण–सेवा का तत्व, रहस्य और प्रभाव सुनने को मिलता है, उससे श्रृद्धा होकर यह भक्ति प्राप्त होती है।

केवल इस पाद–सेवन भक्ति से भी मनुष्य के सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण और दुःख सर्वदा नष्ट हो जाते हैं और भगवान में सहज ही अतिशय श्रृद्धा और प्रेम होकर उसे आत्यन्तिकी परम शान्ति की प्राप्ति होती है। उसके लिये फिर कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। न कुछ कराना शेष रहता है, संसार सागर से तर जाता है।

अहिल्या भगवान् के चरण रज को पाकर कृतार्थ होकर कहती है–

1. **अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते।**
   पादाब्ज संलग्न रजः कणादहम।।
   श्पृशामि यत्पद्मजशंगरादिभिः।
   विमृग्यते राघतमानसैः सदा।।

आपके चरण–कमलों में लगे हुये रजकणों का स्पर्श पाकर आज मैं कृतार्थ हो गयी। अहो!आपके जिन चरणारविन्दों को ब्रह्मा शंकर आदि भी सदा चित्त लगाकर अनुसंधान किया करते हैं, आज मैं उनका स्पर्श कर रही हूँ।

भगवान की चरण रज के शरण हुए प्रेमी भक्त तो स्वर्गादि की तो बात ही क्या,

---

1. *अध्यात्म रामायण 1/5/43*

मोक्ष तक का तिरस्कार कर चरण रज के सेवन में ही लगे रहना चाहते हैं।

2. आपकी चरण धूलि की शरण ग्रहण करने वाल भक्तजन न स्वर्ग चाहते हैं न चक्रवर्तिता, न ब्रह्म का पद, न समस्त पृथ्वी का स्वामित्व और न योग सिद्धियाँ ही अधिक क्या वे मोक्ष पद की भी इच्छा नहीं करते।

भगवान की केवल पाद–सेवन भक्ति से ही भगवान के अनन्य प्रेम को पात्र करने वाले अनेक भक्तों का शास्त्रों में वर्णन मिलता है। अतएव भगवान के पवित्र चरणों में श्रृद्धापूर्वक मन लगाकर उनका नित्य सेवन करना चाहिये इसी से परम्पद की प्राप्ति है।

अर्चन–भक्ति

श्री विष्णोरर्चनं ये तु प्रकृर्तन्ति नरा भुवि ।
ते यान्ति श्यास्वतं विष्रूणोरानन्दं परम पदम् ।।

जो मनुष्य इस संसार में भगवान की पूजा–अर्चना करते हैं, वे श्री भगवान् के अविनाशी आनन्द स्वरूप पदम पद को प्राप्त होते हैं।

भगवान के भक्तों से सुने हुये शास्त्रों में पढ़े हुए, धातु आदि से निर्माण की हुई मूर्ति या चित्रपट के रूप में देखे हुये, अपने मन को रुचने वाले किसी भी भगवान के स्वरूप की मानसिक मूर्ति बनाकर, मानसिक सामग्रियों से ही अथवा सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा को स्थित समझकर, सभी का आदर सत्कार करते हुये यथा योग्य अनेक प्रकार के भिन्न–भिन्न उत्तम उपचारों से श्रृद्धा भक्तिपूर्वक उनका सेवन पूजन करना और उनके तत्व रहस्य तथा प्रभाव को समझकर प्रेम में मुग्ध होना ही "अर्चना–पूजन" भक्ति कही जाती है।

पत्र, पुष्प, चन्दन, जल–अक्षत, धूप–दीप, नैवेद्य, दक्षिणा, भेंट आदि सात्विक पवित्र और न्यायोपार्जित द्रव्यों द्वारा प्राप्त हुये पदार्थों से भगवान् की मूर्ति, चित्रपट का श्रद्धा–भक्तिपूर्वक पूजना करना, अपने पूज्य सम्माननीय मनुष्यों को भी इस प्रकार के पदार्थों को अर्पण करना, सम्मान करना और दुःखी, अनाथ, अपंग, रोग पीड़ित, प्राणियों की भूखों की, प्यासों की, वस्त्रहिनादि की, अन्न से, जल से, वस्त्र से, औषधियों से, आश्रयदान से यथाशक्ति आवश्यकतानुसार श्रृद्धा और सत्कार पूर्वक सबको ही भगवान का स्वरूप समझते हुये भगवत्प्राप्ति के लिये सेवा करना, यह सब भगवान् के अर्चना भक्ति के ही बाह्य प्रकार कहे गये हैं।

---

2. *श्रीमद्भागवत 10/16/17*

शास्त्रों में बतलाये गये अपने चित्त को स्वतः ही आकर्षित करने वाले भगवान के किसी भी अलौकिक रूपलावण्ययुक्त, अनन्त सौन्दर्यमय, परम तजोमण्डल स्वरूप का प्रत्येक अवयव वस्त्राभूषण आयुधादि से युक्त और हाथ पैरो के मंगल चिन्हों सहित मन के द्वारा चिन्तन करके अत्यन्त हर्षपूर्वक मन में ही उनका आह्वान, स्थापन और नाना प्रकार की मानसिक सामग्रियों द्वारा ही अत्यन्त श्रृद्धा और प्रेम के साथ पूजन करना, मानसिक पूजा का प्रकार है।

भगवान् में अनन्य प्रेम होकर उसकी प्राप्ति हो जाये इसी उद्देश्य से यह सब किया जाये। अर्चना भक्ति का स्वरूप और उसके तत्व रहस्यों की जानकारी के लिये प्रेमी भक्तों का सत्संग भी करना चाहिये।

इस प्रकार से भगवान् की पूजा अर्चना करने से मनुष्य को भगवान् की प्राप्ति होती है और इच्छित फल प्राप्त होते हैं।

1. **स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम्।**
सर्वासामपि सिद्धिनां मूलं तच्चरषार्चनम्।।

श्री भगवान के चरणों का अर्चन–पूजन करना जीवों के स्वर्ग और मोक्ष एवं मर्त्यलोक एवं पाताल लोक में रहने वाला समस्त सम्पत्तियों का और सम्पूर्ण सिद्धियों का मूल है।

यही नहीं, परम श्रृद्धा और प्रेम के साथ भगवान की पूजा की जाये तो वे स्वंय अपने दिव्य मंगल–विग्रह स्वरूप में प्रकट होकर भक्तों के अर्पण किये हुए पदार्थों को खाते हैं। स्वंय भगवान् का कथन है :–

2. **पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो में भक्त्या प्रयच्छति।**
तदहं भक्त्युपह्वतश्नामि प्रयतात्मनः।।

नाना प्रकार के उपचारों द्वारा मन–इन्द्रियों से पूजा करने वालों का तो कहना ही क्या? भक्तिपूर्वक पूजा करने वाले सुदामा ने मांगकर लाये हुये चावलों की कनियों से, गजेन्द्र ने एक पुष्प अर्पित कर, द्रौपदी ने शाक–पत्र से भगवान् को पूजकर परम सिद्धि प्राप्त की थी। शबरी जैसी जंगलों में रहने वाला स्त्री ने केवल बेर फल अर्पित कर भगवान को सन्तुष्ट कर परमपद को प्राप्त कर लिया था।

इसलिए भगवान की प्रेम तथा श्रृद्धापूर्वक अपनी रूचि और भावना के अनुसार भक्ति करनी चाहिए।

---

1. *श्रीमद्भागवत्गीता 10/81/192.* *श्रीमद्भागवत्गीता 9/26*

वन्दना भक्ति

1. पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्वा वा विवशो ब्रवन।
   हरये नमा इत्युच्चैर्मच्यते सर्वपातकारत्।।

पतित स्खलित, आर्त, छींकता हुआ अथवा किसी प्रकार से परवश हुए पुरूष भी ऊंचे स्वर से "हरये नमः" इस प्रकार बोल उठता है तो वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है।

भगवान् के शास्त्र वर्णित स्वरूप, भगवान के नाम, धातु आदि की मूर्ति, चित्र अथवा मानसिक मूर्ति को शरीर अथवा मन से श्रृद्धा सहित साष्टांग प्रणाम करना या समस्त चराचर भूतों को परमात्मा का स्वरूप समझकर श्रद्धापूर्वक शरीर या मन से प्रणाम करना और ऐसा करते हुये भगवत्प्रेम में मुग्ध होना यह वन्दन भक्ति कहीं गयी है।

भगवान् के रहस्य को समझकर उन्हें प्रणाम करने वाले सब दुःखों से छूट जाता हैं मनुस्मति में लिखा है –

2. न वासुदेवात्परमस्ति मंगलम्।
   न वासुदेवात्परमस्ति पावनम्।।
   न वासुदेवात्परमस्ति दैवतं।
   तं वासुदेवं प्रणमल सीदति।।

भगवान वासुदेव से अधिक और कुछ मंगलमय नहीं है, वासुदेव से अधिक और कुछ पावन नहीं है एवं वासुदेव से श्रेष्ठ और कोई आराध्य देवता नहीं है, उन वासुदेव को नमस्कार करने वाला कभी दुःखी नहीं होता।

श्रृद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान् को साष्टांग प्रणाम करने से भी मनुष्य सब पापों से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त हो सकता है।

3. एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो।
   दशाश्वमेघावभृयेन तुल्यः।।
   दशाश्वमेघी पुनरेति जन्मः।
   कृष्णः प्रणामी न पुनर्भवाय।।

भगवान श्री कृष्ण को किया हुआ एक भी प्रणाम दस अश्वमेघ यज्ञों के अवमृथ स्नान के समान है, इतना ही नहीं विशेषता यह है कि दस अश्वमेघ यज्ञ करने वाले को

---

1. श्रीमद्भागवत 12/12/46 2. मनुस्मृति 101 3. भीष्म स्तवराज–91

तो फिर जन्म लेना पड़ता है किन्तु भगवान श्रीकृष्ण को प्रणाम करने वाले का पुनः जन्म नहीं पड़ता।

अतः भगवान के प्रेम में विभोर होकर जो वन्दना भक्ति की वह अनन्तकाल तक ऐश्वर्य भोगकर परम्पद को प्राप्त होता है।

दास्य–भक्ति

भगवान के गुण, तत्व, रहस्य और प्रभाव को जानकर श्रद्धा प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना और उनकी आज्ञा का पालन करना ही दास्य भक्ति कही गयी है।

मंदिरों में भगवान के विग्रहों की सेवा करना, मन से प्रभु का ध्यान करके उनकी सेवा करना, सम्पूर्ण चराचर को प्रभू का स्वरूप समझकर सबकी यथाशक्ति यथायोग्य सेवा करना, गीता आदि धर्मशास्त्रों को भगवान की आज्ञा मानकर उनके अनुसार आचरण करना, जो कर्म भगवान् की रूचि, प्रसन्नता और इच्छा के अनुकूल हों उन्हीं कर्मों को करना– ये सब दास्य भक्ति के प्रकार है।

भगवान में अनन्य प्रेम व नित्य–निरन्तर सेवा के लिये, भगवान के समीप रहने के उद्देश्य से दास्य भक्ति की जाती है।

श्रीमान् से हनुमान जी हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हुए कहते–

1. **स्नेहों में परमो राजस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा।**

भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु।।

हे राजेन्द्र प्रभो! मेरा परम स्नेह नित्य ही आपके श्रीपाद–पद्मों में प्रतिष्ठित रहे। हे श्री रघुवीर ! आप में ही अविचल भक्ति बनी रहे। आपके अतिरिक्त और कहीं मेरा आन्तरिक अनुराग न हों। कृपया यही वरदान दें।

इसलिए, श्री भगवान के प्रेम में आनन्दित होकर भगवान की दास्य भक्ति जीवन शेष न हो जाये तब तक करनी चाहिए।

1.वा० रामायण 70/40/16

1. **अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपब्रजौकसाम्।**

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्ण ब्रह्म सनातनम्।।

उन नन्द गोप के ब्रज में रहने वाले लोगों का भाग्य धन्य है ! धन्य है ! जिनका मित्र परमानन्द परिपूर्ण सनातन ब्रह्म हैं।

भगवान के प्रभाव, तत्व, रहस्य और महिमा को समझकर परम विश्वास पूर्व मित्र भाव से उनकी रूचि के अनुसार बन जाना, उनमें अनन्य प्रेम करना और उनके गुण, रूप और लीला पर मुग्ध होकर नित्य–निरन्तर प्रसन्न रहना, मित्र के स्नेह रूप में भगवान के सभी सेवा पूजा अर्चनादि कार्यों को प्रेम व प्रसन्नता पूर्वक करना यह संख्य भक्ति कहीं गयी है।

अपने आवश्यक से आवश्यक कार्यों को छोड़कर प्यारे प्रेमी भगवान के कार्यों को, अपने कार्य को तुच्छ समझकर छोड़कर, पहले करना, प्यारे प्रभो के कार्यों में महान् कष्ट परिश्रम होने पर भी उसे अल्प ही समझना, अपना प्यारा जिस कार्य बात से प्रसन्न हो उसी बात कार्य को ध्यान में रखकर अपने मन–शरीर द्वारा पूर्णरूप से करने की चेष्टा करना, वह जो भी करे, उसी में सर्वदा सन्तुष्ट रहना, अपनी कोई भी वस्तु उसे अर्पण करना, अपने शरीर पर और अपनी वस्तुओं पर अपनी आत्मीयता और अधिकार हैं, वैसे ही अपने प्यारे प्रेमी को समझना चाहिये। अपना धन, जीवन और देह आदि जिस प्रकार से अपने प्रेमी के काम में प्रयोग हो सके तो उनका सफल प्रयोग, समझना चाहिये। उसके साथ उसके पास रहने की निरन्तर इच्छा रखना, उसके दर्शन, भाषण, चिन्तन और स्पर्श से प्रेम निमग्न हो जाना, उनके नाम, रूप, गुण और चरित्र को सुनकर बखान कर, पढ़कर और स्मरण कर अत्यन्त प्रसन्न होना, किसी के द्वारा मित्र का सन्देश पाकर परम प्रसन्न होना और उसके वियोग से व्याकुल होना तथा हर मिनट उससे मिलने की आशा और प्रतीक्षा करते रहना इत्यादि सखा भाव के प्रकार हैं।

प्यारे प्रेमी को सुख पहुंचे, उसमें अपना संख्य प्रेम बढ़ता रहे, उससे कभी वियोग न हो, इसी प्रकार के विचारों से संख्य भक्ति की जाती है।

सरव्य – भक्ति की प्राप्ति के लिये भगवान के प्रेमी संख्याओं का संग–सेवन उनके जीवन चरित्र का पठन–मनन और उनके तथा भगवान के गुण, लीला और प्रभाव का उनके प्रेमी भक्तों द्वारा श्रवण करना चाहिये।

इस प्रकार की संख्य भक्ति से मनुष्य अपने दुःख–दोषों को दूरकर भगवान की प्राप्ति और भगवान में परम् संचय कर लेता है। यहॉ तक कि भगवान उस प्रेमी भक्त के स्वयं अधीन हो जाते हैं, और फिर उसके सुख, शान्ति और परमानन्द का पार ही नहीं रहता।

---

1. *श्रीमद् भागवत 10/14/32*

इस प्रकार की संख्य–भक्ति के उदाहरण सुग्रीव, विभीषण, उद्धव, अर्जुन, सुदामा आदि अनेक सखा हैं।

इस प्रकार भगवान के परम प्यारे सखाओं की अनेक कथाएं वर्णित हैं। भीलों का राजा कुछ ही समय संख्य–भक्ति करके संसार सागर से तर गया। अतएव भगवान् को ही अपना एक मात्र परम प्रियतम समझकर अपना सर्वस्व उसको मानकर परम प्रेम भाव से संख्य भक्ति करनी चाहिये।

आत्म निवेदन–भक्ति

वासुदेवाश्रयों मर्त्यो वासुदेवपरायणः।
सर्वपाप विशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम्।।

जिस मनुष्य ने भगवान् वासुदेव का आश्रय लिया है और जो उन्हीं का परायण है उसका अन्तःकण सर्वथा शुद्ध हो जाता है एवं वह सनातन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

परमात्मा के तत्व, रहस्य, प्रभाव और महिमा को समझकर ममता और अहंकार रहित होकर अपने तन–मन–धन–जन सहित अपने आपको और सम्पूर्ण कर्मों को समर्पण कर देना आत्म निवेदन भक्ति है। भगवान् इस विश्व ब्रह्माण्ड निमार्ण प्रतिष्ठान यन्त्र के निर्माता एवं चालक हैं, और उसके द्वारा चलाये जाने वाली मशीनरी का ही मैं एक सूक्ष्म यंत्र हूं। भगवान् के रहस्य और प्रभाव को समझने के लिये उनके नाम, रूप, गुण, लीला के श्रवण, मनन, कथन, अध्ययन और चिन्तनादि में श्रद्धापूर्वक तन–मन आदि सभी प्रकार से उसी में लगा देना। इन्द्रिय, मन बुद्धि आदि सभी पर एक मात्र उन भगवान् का ही अधिकार समझना, भगवान् की ही वस्तु भगवान् के ही अर्पण की गयी है, ऐसा भाव होना, जिस किसी भी प्रकार से भगवान् की ही सेवा बनती रहे, इसी में आनन्द मानना, सब कुछ प्रभु के अर्पण करके स्वाद, शोक, विलास, विराम, भोग आदि की इच्छा का सर्वथा अभाव हो जाना, सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा एक भगवान का ही अनुभव करना, भगवान् क भरोसे पर सर्वदा निर्भय, निश्चिन्त और प्रसन्न रहना और भगवान् की भक्ति छोड़कर मुक्ति की भी इच्छा न होना आदि सभी आत्म निवेदन भक्ति के प्रकार हैं।

भगवान के शरणागत प्रेमी–भक्तों का संग सेवन करने से और उनके द्वारा भगवान के नाम,रूप, गुण, प्रभाव सत्व, महिमा आदि का श्रवण और मनन करने से यह भक्ति प्राप्त होती है।

इस आत्मनिवेदन रूपी शरण भक्ति के विषय में भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है–

1. **देवी ह्जेषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

यह अलौकिक अर्थात अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी ही दुस्तर है परन्तु जो पुरूष मेरे को ही निरन्तर भजते हैं, यानि शरण आते हैं, वे इस माया को उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात संसार से तर जाते हैं।

2. **मां हि पार्थ व्यपाश्रित्व येऽपि स्युः पापयोनयः।**
स्त्रियों वैश्यास्तया शुद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्या और शूद्रादिक तथा पाप योनि वाले जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर ही तो परम गति को प्राप्त होते हैं।

3. **तमेव शरणं गचद सर्वभावेन भारत।**
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

हे भारत! सब प्रकार से उस परमेश्वर की ही अनन्य शरण को प्राप्त हो, उस परमात्मा की कृपा से ही परम शान्ति को और सनातन परमधाम को प्राप्त होगा।

4. **सर्वधर्मान् पत्यिज्य मामेकं शरणं वज्र।**
अहं त्वां सर्वपापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

सर्व धर्मों का अर्थात सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिादानन्द वासुदेव परमात्मा की ही अनन्य शरण को प्राप्त हों, मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तूं शोक मत कर।

इस प्रकार से जो पुरूष भगवान् के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है, उसके सम्पूर्ण अवगुण, पाप और दुःखों का समूल नाश हो जाता है और उसमें श्रवण, कीर्तन आदि सभी भक्तियों का विकास हो जाता है। उसके आनन्द और शान्ति का पार नहीं रहता। भगवान उससे फिर कभी अलग नहीं हो सकते। भगवान का सर्वस्व उसका हो जाता है। वह दिव्य परम पवित्र हो जाता है। वह तीर्थरूप बन जाता है। परीक्षित ने शुकदेव जी से कहा–

5. **सान्निध्याते महायोगिन् पातकानि महान्त्यपि।**
सदृयासे नश्यन्ति वै पुंसां विष्णोरिव सुरेतराः।।

---

1. गीता– 7/14 2.गीता– 9/32 3.गीता– 18/62, 4.गीता–18/66 5. श्रीमद्भागवत– 1/19/34

जैसे भगवान विष्णु के सानिध्य मात्र से तुरन्त दैत्यों का नाश हो जाता है, वैसे ही महायोगिन आपके सानिध्य मात्र से बड़े–बड़े पाप समूह नष्ट हो जाते हैं।

धर्मराज युधिष्ठिर श्री विदुर जी से कहते हैं कि–

1. **भवद्विधा भगवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो।**

   तीर्थोकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः स्थेन गदाभृता।

भगवन आप जैसे भगवत भक्त स्वयं तीर्थरूप हैं, वे अपने हृदय में स्थित भगवान के द्वारा तीर्थों को महातीर्थ बना देते हैं।

श्री शुकदेव जी महाराज भगवान की स्तुति करते हुये कहते हैं कि–

2. **किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा।**

   आभीरकंड़ा यवना खसादयः।।

   येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः।

   शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।।

किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंड, यवन और खस आदि नीच जातियां तथा अन्य पापी जिनके शरणागत् भक्तों को शरण ग्रहण करने से ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान भगवान् को बारम्बार प्रणाम है।

भगवान के प्रेम का मूर्तिमान् विग्रह बने हुये ऐसे भक्त को सारा संसार परम प्रेममयम और परम आनन्दमय प्रतीत जिनके शरणागत भक्तों को शरण ग्रहण करने से ही पवित्र हो जाते हैं, उन सर्वशक्तिमान भगवान को बारम्बार प्रणाम है।

भगवान के प्रेम का मूर्तिमान विग्रह बने हुये ऐसे भक्त को सारा संसार परम प्रेममय और परम आनन्दमय प्रतीत होने लगता है। वह जिस मार्ग से जाता है, उसी मार्ग में श्रद्धा भक्ति, आनन्द समता और शान्ति का प्रवाह बहने लगता है। ऐसे भक्त को अपने ऊपर चलते–फिरते, सोते–बैठते देखकर पृथ्वी अपने को धन्य समझते हुये सनाथ होती है। पितरगण आनन्द से प्रमुदित होते हैं और देवता हर्षित होकर नाचने लगते हैं। जैसे नारदजी ने कहा–

3. **मोदनते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेय भूर्भवति।**

श्री गोपियां, भक्त, प्रह्लाद, महाराज बलि आदि भक्तगण इस आत्म निवेदन भक्ति के परम उदाहरण हैं इसलिये मनुष्य मात्र को मन,वाणी, शरीर के द्वारा सब प्रकार से

---

1. श्रीमद्भागवत –1/13/10 2. श्रीमद्भागवत –2/4/18 3. नारदभक्ति सूत्र –71

श्रीभगवान के शरण होने के लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान को प्राप्त करने के लिये कर्म, योग, ज्ञान आदि सभी उत्तम सस्ते हैं, परन्तु भक्ति करना इस सब ही प्रकारों में अधिक सुलभ है, और भक्ति की शास्त्रों में भी बड़ी प्रशंसा लिखी है।

उपर्युक्त नवधा भक्ति में से जिनमें एक भी भक्ति होती है, वे संसार सागर से अपने आप ही तरकर भगवान को प्राप्त कर लेता है। किसी में एक से अधिक या नवो भक्ति का विकास हो जाय, उसका तो कहना ही क्या है ?

यह नवधा भक्ति प्रकार सभी देवताओं की भक्ति प्राप्त करने में प्रयोग साधन के रूप में ग्रहण की जाती है, अतएव संक्षेप में दस देवताओं के चरणों में प्रणाम करते हुए इसका समापन किया जाता है।

श्रियं सरस्वतीं गौरीं गणेशं स्कन्दमीश्वरम्।
ब्रह्माणं बहिनमिन्द्रादीन् वासुदेवं नमाम्यहम्।।

स्मरण भक्ति

विष्णु के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला, तत्व और रहस्य भरी अमृतमय कथाओं का जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण तथा पठन किया है, उनका मनन करना एवं इस प्रकार मनन करना कि नश्वर शरीर की सुधि भुलाकर भगवान् के स्वरूप में ध्रुव आदि भक्तों की भांति तल्लीन हो जाना स्मरण भक्ति का स्वरूप अथवा लक्षण है।

जहां तक सम्भव हो, एकान्त तथा पंक्ति स्थान में सुखपूर्वक, स्थिर, सरल आसन से बैठकर इन्द्रियों को विषय रहित करके कामना और संकल्प को त्याग कर प्रशान्त और वैराग्य युक्त चित्त से अथवा चलते–फिरते, उठते–बैठते, खाते–पीतेस, सोते–जागते सभी काम करते हुये भी स्वाभाविक शुद्ध और सरल भाव से सगुण–निर्गुण, साकार–निराकार के तत्व को जानकर गुण और प्रभाव सहित भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करना, भगवान् के नाम का मन से स्मरण करके मुग्ध होना, भगवान के तत्व और रहस्य को जानने के लिये उनके गुण, प्रभाव का चिन्तन करना, इस प्रकार स्मरण के बहुत से प्रकार बताये गये हैं।

प्रेमी भक्तों के द्वारा नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदि की अमृतमयी कथाओं का श्रृद्धा और प्रेमपूर्वक श्रवण करना, भगवद्धिषयक धार्मिक पुस्तकों का पठन–पाठन करना, भगवान के नाम का जप और कीर्तन करना, भगवान् के पद एवं स्तोत्रों के द्वारा अथवा

किसी भी प्रकार ध्यान के लिये करूणाभाव से स्तुति प्रार्थना करना तथा भगवान् और महापुरूषों की आज्ञा पालन करना आदि तत्व स्मरण भक्ति को प्राप्त करने के उपाय हैं। सन्ध्योपासन के आरम्भ में लिखा है–

1. **अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा।**
   यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्मभ्यन्तरः शुचि।।

अपवित्र हो, पवित्र हो किसी भी अवस्था में क्यों न हो तो भगवान पुण्डरीकाक्ष का स्मरण करता है वह बाहर–भीतर से शुद्ध हो जाता है। श्री विष्णु सहस्त्रनाम के आदि में कहा है–

2. **यस्य स्मरणमात्रेण जनमंसारबन्धनात्।**
   विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे।।

जिसके स्मरण मात्र से मनुष्य जन्मरूपी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है, संसार को उत्पन्न करने वाले उस विष्णु के लिये नमस्कार है।

3. **विषयन् ध्यायतश्चितं विषयेषु विषज्जते।**
   मामनुस्मरश्चितं मय्येव प्रविलीयते।।

विषय चिन्तन करने वाले का मन विषयों में आसक्त होता है, और बार–बार स्मरण करने वाले का मन मुझमें ही लीन हो जाता है।

इसलिये भगवत प्राप्ति की इच्छा वाले साधक पुरूष को उचित हैं कि सब कार्य करते हुये भी जैसे कछुवा अण्डों का, गाय बछड़ों का, कामी स्त्री का, लोभी धन का, नटी अपने चरणों का ध्यान रखता है उसी तरह परमात्मा का ध्यान रखें।

तृतीय अध्याय
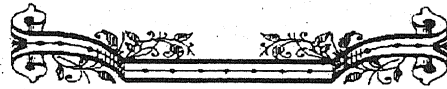
–:: आचार्य देवर्षि नारद ::–

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्ति शाङत्र्धन्वनः।
गायन्माद्यनिदं तन्वया रमयत्यातुं जगत्।।

ये देवर्षि नारद धन्य हैं। क्योंकि ये शांगपाणि भगवान् की कीर्ति को अपनी वीणा पर गा–गाकर स्वयं तो आनन्दमग्न होते ही हैं, साथ–साथ इन त्रितापतप्त जगत को भी आनन्दित करते रहते हैं–

श्री भगवान् के अनन्य परम भक्त शिरोमणि नारद जी ने पितामह ब्रह्माजी के मन में विचार आते ही श्री भगवान् के अंश से अवतार ग्रहण किया। इसके विषय में परम तपस्वी, सर्वदर्शी वीणापाणि नारद जी ने स्वयं अपने मुख से अपनी पूर्वजन्म की कथा सुनाते हुये कहा–

अहं पुरातीतभवेऽभवं मुने,
दास्यास्तु कस्याश्चन् वेदवादिनाम।
निरूपितो बालक एवं योगितां,
शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्।

पिछले कल्प में अपने पूर्व जीवन में मैं वेदवादी ब्राह्मणों की एक दासी का लड़का था। वे योगी वर्षा ऋतु में एक स्थान पर पर चातुमार्स्य कर रहे थे। बचपन में ही मैं उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया गया था।

मैं यद्यपि बालक था। किसी प्रकारब की चंचलता नहीं करता था, जितेन्द्रिय था, खेलकूद से दूर रहता था और योगियों की आज्ञानुसार उनकी सेवा करता था। मैं बोलता भी बहुत कम था। मेरे शील स्वभाव को देखकर समदर्शी मुनियों ने मुझे सेवक पर अत्यन्त अनुग्रह किया। उनकी अनुमति प्राप्त करके वर्तनों पर लगा हुआ जूठन में एक बार खा लिया करता था। इससे मेरे समस्त पाप धुल गये। इस प्रकार उनकी सेवा करते–करते मेरा हृदय शुद्ध हो गया और वे लोग जैसा भजन–पूजन करते थे, उसी में मेरी भी रूचि हो गई, उस सत्संग में उन लीलागान, परायण महात्माओं के अनुग्रह से मैं प्रतिदिन श्रीकृष्ण की मनोहर कथाएं सुना करता। श्रद्धापूर्वक एक–एक पद श्रवण करते–करते प्रियकीर्ति भगवान् में मेरी रूचि हो गयी। जब भगवान् में, मेरी रूचि हो गयी, तब उन कीर्ति प्रभु में मेरी बुद्धि भी निश्चल हो गयी। उस बुद्धि से मैं इस सम्पूर्ण सत् बौर असत रज जगत को अपने परब्रह्मस्वरूप आत्मा में माया से कल्पित देखने लगा।

इस प्रकार शरद और वर्षा इन दो ऋतुओं में तीनों समय उन महात्मा मुनियों ने श्रीहरि के निर्मल यश का संकीर्तन किया और मैं प्रेम से प्रत्येक बात सुनता रहा। अब चित्त के रजोगुण और तमोगुण को नाश करने वाली भक्ति का मेरे हृदय में प्रादुर्भाव हो गया। मै। उनका बड़ा अनुरागी और विनयी था।

उन लोगों की सेवा से मेरे पाप नष्ट हो चुके थे। मेरे हृदय में श्रृद्धा थी। इन्द्रियों में संयम था, एक शरीर, वाणी और मन से मैं उनका आज्ञाकारी था। उन दीनवत्सल, महात्माओं ने जाते समय कृपा करके मुझे उस गुरूजतम ज्ञान का उपदेश दिया, जिसका उपदेश स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से किया है। उस उपदेश से ही जगत का निर्माता भगवान् श्रीकृष्ण की माया के प्रभाव को मैं जान सका, जिसके जान लेने पर उनके परमपद की प्राप्ति हो जाती है।

श्री पुरूषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रति समस्त कर्मों को समर्पित कर देना ही संसार के तीनों तापों की एकमात्र औषधि है। प्राणियों को जिस पदार्थ के सेवन से जो रोग हो जाता है, वही पदार्थ चिकित्साविधि के अनुसार प्रयोग करने से क्या उस रोग को दूर नहीं करता ? इसी प्रकार यद्यपि सभी कर्म मनुष्यों को जन्म–मृत्युरूप संसार के चक्र में डालने वाले हैं तथापि जब भगवान् को समर्पित कर दिये जाते हैं, तब उनका कर्म ही नष्ट हो जाता है। इस लोक में जो शास्त्रविहित कर्म भगवान् को प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं। उन्हीं से पराभक्तियुक्त ज्ञान की प्राप्ति होती है।

उस भगवद्अर्थ कर्म के मार्ग में भगवान् के आज्ञानुसार आचरण करते हुये लोग बार–बार भगवान् कृष्ण के गुण और नामों का कीर्तन तथा स्मरण करते हैं।

1. **नमो भगवते तुम्यं वासुदेवाय धीमहि।**
   प्रद्युम्नायानिरूद्धाय नमः सड़कर्षणाय च।।

प्रभो! आप भगवान् वासुदेव को नमस्कार है। हम आपका ध्यान करते हैं। प्रद्युम्न, अनिरूद्ध और संकर्षण को भी नमस्कार है।

इस प्रकार जो पुरूष चतुर्व्यूह रूपी भगवन्मूर्तियों के नाम द्वारा प्राकृत मूर्तिरहित अप्राकृत मन्त्रमूर्ति भगवान् यज्ञपुरूष का पूजन करता है, उसी का ज्ञान पूर्ण एवं यथार्थ है। जब मैंने भगवान की आज्ञा का इस प्रकार पालन किया, तब इस बात को जानकर

श्रीमद्भागवत स्कन्ध 1 अध्याय 5 श्लोक 37

भगवान श्रीकृष्ण ने मुझे आत्मज्ञान, ऐश्वर्य और अपनी भावरूपा प्रेमाभक्ति का दान किया। जो लोग दुःखों के द्वारा बार–बार दौंदे जा रहे हैं, उनके दुःख की शान्ति इसी से हो सकती है और कोई उपाय नहीं है।

नारद जी से यह कथा सुनने के पश्चात् श्री व्यासजी ने पूछा– नारदजी! जब आपको ज्ञानोपदेश करने वाले महात्मा चले गये, तब आपने क्या किया ? उस समय तो आपकी अवस्था बहुत छोटी थी। आपकी शेष आयु किस प्रकार व्यतीत हुई और मृत्यु के समय आपने किस विधि से अपने शरीर का परित्याग किया। देवर्षि! काल तो सब वस्तुओं को नष्ट कर देता है। उसने आपकी इस पूर्व कल्प की स्मृति का कैसे नाश नहीं किया ?

श्री नारदजी ने कहा– मुझे ज्ञानोपदेश करने वाले महात्मागण जब चले गये तब मैनें इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत किया। यद्यपि उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी। मैं अपनी माँ का इकलौता पुत्र था। एक तो वह स्त्री थी, दूसरे मूढ़ और तीसरे दासी थी। मुझे उसके सिवा कोई सहारा नहीं था, उसने मुझे अपने स्नेहपाश में बांध रखा था।

वह मेरे योगक्षेम की चिन्ता तो बहुत करती थी परन्तु पराधीन होने के कारण कुछ कर नहीं पाती थी। यह संसार सब ईश्वर अधीन है। मैं भी अपनी माँ के स्नेह बंधन में बंधा हुआ उसी ब्राह्मण बस्ती में रहा। एक दिन अकस्मात् मेरी मां को सर्प ने डस लिया और उसकी जीवनलीला समाप्त हो गई। मैनें इसे भगवान् का अनुग्रह माना और उत्तर दिशा की ओर चल पड़ा। उस ओर चलते–चलते मुझे अनेक धन्य–धान्य से सम्पन्न देश, नगर, गांव, किसानों की चलती–फिरती बस्तियां, नदी, पर्वतों के तपवर्ती पड़ाव, वाटिकाएं, वन–उपवन, रंग–बिरंगे धातुओं से युक्त विचित्र पर्वत दिखायी पड़े। कहीं–कहीं हिंसक जानवरों से भरे विकट सघन जंगल थे। कहीं–कहीं शीतल स्वच्छ जल से भरे हुए जलाशय जिनमें कमल भी खिले हुये थे। कहीं–कहीं सुन्दर–सुन्दर अनेक प्रकार की मीठी बोली बोलने वाले पक्षियों के कलरव सुनने व देखने में आया। यह सब देखते हुए मैं अकेला ही आगे बढ़ता चला जा रहा था। इस प्रकार का लम्बा मार्ग तय करते–करते एक घोर गहन वन में पहुंच गये। उसमें नरकट, बांस, सेंठा, कुश, कीचक आदि विकट कॉटें युक्त वृक्ष थे। उस वन की लम्बाई–चौड़ाई का भी कुछ अनुमान नहीं हो पा रहा था। उसमें सांप, सियार, भेड़िये, बाघ, भालू, सिंह आदि अनेक हिंसक जन्तु भरे पड़े थे।

वन देखने में बड़ा भयावह लगता था। अनेक दिनों तक चलते–चलते मेरी शरीर और इन्द्रियां शिथिल हो गयीं। मुझे भूख–प्यास ने अत्यन्त व्याकुल बना दिया था।

आगे चलते–चलते एक सुन्दर जल से युक्त नदी मिली। उसमें मैंने स्नान, जलपान और आचमन किया। इससे मेरी थकावट दूर हो गयी। उसी निर्जन वन में एक पीपल वृक्ष के नीचे आसन लगाकर बैठ गया। उन महात्माओं से जैसा मैंनं सुना था। हृदय में रहने वाले परमात्मा के उसी स्वरूप का मैं मन ही मन ध्यान करने लगा। भक्तिभाव से वशीकृत चित्त द्वारा भगवान के चरणों का ध्यान करते ही भगवत् प्राप्ति की उत्कृष्ट लालसा से मेरे नेत्रों में आंसू छलक आया और हृदय में धीरे–धीरे भगवान् प्रगट हो गये। व्यास जी उस समय प्रेमभाव के अन्यन्त उद्रेक से मेरा रोम–रोम पुलकित हो उठा, हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया। उस आनन्द की बाढ़ में, मैं ऐसा डूब गया कि मुझे अपना और ध्येय वस्तु का तनिक भी भान नहीं रहा। भगवान की यह अनिर्वचनीय रूप समस्त शोकों का नाश करने वाला और मन के लिये अत्यन्त लुभावना था। सहसा उसे न देख मैं बहुत विकल हो गया और अनमना–सा होकर आसन से उठ खड़ा हुआ।

मैने उस स्वरूप में के दर्शन पुनः करने की चेष्टाएं की किन्तु मैं उसे नहीं देख सका। मैं अतृप्त के समान आतुर हो उठा। इस प्रकार उस निर्जन वन में मुझे दर्शनों की चेष्टा प्रयत्न करते हुए देखकर स्वयं भगवान् ने जो वाणी के विषय नहीं है, बड़ी गम्भीर एवं मधुर वाणी से मेरे शोक को शान्त करते हुये कहा– खेद है कि इस जन्म में तुम मेरा दर्शन नहीं कर सकोगे। जिनकी वासनाऐं पूर्णतया शान्त नहीं हो गई, उन कच्चे रोगियों का मेरा दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। निष्पाप बालक ! तुम्हारे हृदय में मुझे प्राप्त करने की लालसा जाग्रत करने के लिये ही मैंनें एक बार तुम्हें अपने रूप की झलक दिखायी है। मुझे प्राप्त करने की इच्छा वाला साधक धीरे–धीरे अपने मन की सम्पूर्ण वासनाओं का भली प्रकार से त्याग कर देता है।

अल्पकालीन संत सेवा ही तुम्हारी चित्वृत्ति मुझमें स्थिर हो गयी है। अब तुम इस प्राकृत मलीन शरीर को छोड़कर मेरे पार्षद हो जाओगे। मुझे प्राप्त करने का तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय कभी किसी प्रकार से नहीं टूटेगा। समस्त सृष्टि का प्रलय हो जाने पर भी मेरी कृपा से तुम्हें मेरी स्मृति बनी रहेगी। आकाश के समान अव्यक्त, सर्वशक्तिमान महान परमात्मा इतना कहकर चुप हो गये। उनकी इस कृपा का अनुभव करके मैंने उन श्रेष्ठों

से भी श्रेष्ठत्तर भगवान को सिर झुकाकर प्रणाम किया। तब से ही मैं लज्जा–संकोच छोड़कर भगवान के अत्यन्त रहस्यमय और मंगलमय नामों और लीलाओं का कीर्तन और स्मरण करने लगा। स्पृहा और मदमत्सर मेरे ह्रदय में पहले ही निवृत्त हो चुके थे। अब मैं आनन्द से काल की प्रतीक्षा करता हुआ पृथ्वी पर विचरने लगा।

व्यास जी! इस प्रकार से भगवान की कृपा द्वारा मेरा ह्रदय शुद्ध हो गया, आशक्ति मिट गयी और मैं कृष्ण परायण हो गया। कुछ समय बाद जैसे एकाएक बिजली सी चमकी, वैसे ही अपने समय पर मेरी मृत्यु आ गई। मुझे शुद्ध भगवत्प्रसादात् शरीर प्राप्त होने का अवसर आने पर प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने के कारण पंच भौतिक शरीर नष्ट हो गया। कल्प के अन्त में जिस भगवान नारायण एकार्णव प्रलाकालीन समुद्र के जल में शयन करते हैं, उस समय उनके ह्रदय में शयन करने की इच्छा से इस सारी सृष्टि को समेट कर ब्रह्माजी जब प्रवेश करने लगे, तब उनके श्वास के साथ मैं भी उनके ह्रदय में शयन करने की इच्छा से इस सारी सृष्टि को समेट कर ब्रह्माजी जब प्रवेश करने लगे, तब उनके श्वास के साथ मैं भी उनके ह्रदय में प्रवेश कर गया। एक हजार चतुर्युगी बीत जाने पर जब ब्रह्मा जगे और उन्होंने सृष्टि करने की इच्छा की तब उनकी इन्द्रियों से मरीचि आदि ऋषियों के साथ मैं भी प्रकट हो गया। तभी से मै। भगवान् की कृपा से वैकुण्ठादि में और तीनों लोकों में बाहर और भीतर बिना रोक–टोक विचरण किया करता हूँ। मेरे जीवन का व्रत भगवत् भजन अखण्ड रूप चलता रहता है। भगवान की इस दी हुई स्वरब्रह्म से विभूषित वीणा पर तान छेड़ कर मैं उनकी लीलाओं का गान करने लगता हूँ। तब वे प्रभू जिनके चरण–कमल समस्त तीर्थों के उद्गम स्थल हैं और जिनका यशोगान मुझे बहुत ही प्रिय लगता है, बुलाये हुए की भांति तुरन्त मेरे ह्रदय में आकर दर्शन दे देते हैं। जिन लोगों का चित्त निरंतर विषय भोगों के कामना से आतुर हो रहा है, उनके लिये भगवान की लीलाओं का कीर्तन संसार–सागर से पार जाने का जहाज है।

यह मेरा अपना अनुभव है। काम और लोभ की चोट से बार–बार घायल हुआ ह्रदय श्रीकृष्ण की सेवा में जैसी प्रत्यक्ष शान्ति का अनुभव करता है, यम नियम आदि योग मार्गों से वैसी शान्ति नहीं मिल सकती। व्यास जी ! आप निष्पाप है। आपने मुझसे जो पूंछा था वह सब अपने जनम और साधना का रहस्य तथा आपकी आत्म तुष्टि का

उपाय मैने बतला दिया। देवर्षि नारद जी ने इस प्रकार कहकर जाने की अनुमति ली और वीणा बजाते हुये स्वच्छन्द विचरण करने के लिये चल पड़े।

श्रीनारद जी भगवान् के मन के अवतार है। कृपासागर भगवान् की जैसी भी इच्छा होती है, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी वीणापाणि नारद जी उसी प्रकार वैसा ही चेष्टा और प्रयत्न करते हैं।

श्रीभगवान् नारजी का ध्यान करने योग्य स्वरूप का शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन मिलता है।

ब्रह्मतेज से सम्पन्न तपस्वी नारद जी गौर वर्ण और अत्यन्त सुन्दर शरीर वाले हैं। उनके मस्तक पर ऊपर कान्तिमान् इन्द्रराज के प्रदत्त नवीन पती रंग के महीन दिव्य, शुभ और बहुमूल्य सुन्दर किनरीदार दो वस्त्र धारण किये हुये हैं। उनके हाथों में सुन्दर मनोहर वीणा और खड़ताल है। वे प्रसन्नचित मुस्कान भरे हुए भगवान के ध्यान में मग्न रहते हैं। उनके उन्नत ललाट पर परम वैष्णव तिलक शोभायमान है।

असंख्य सद्गुणों से सम्पन्न महातेजस्वी नारदजी वेद, उपनिषदों के ज्ञाता, वेदान्त योग, ज्योतिष, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र एवं संगीत आदि अनेक शास्त्रों के आचार्य हैं और भक्ति के तो वे मुख्य आचार्य है हीं। उनके द्वारा रचित नारद्–पंचरात्र, नारद–भक्तिसूक्त, भागवत् मार्ग के प्रधान ग्रन्थ रत्न हैं। प्राणिमात्र की कल्याण कामना करने वाले नारदजी श्रीहरि के मार्ग पर अग्रसर होने की इच्छा रखने वाले प्राणियों को सर्वदा सहयोग देते रहते हैं। मुमुक्षुओं का मार्ग–दर्शन उनका प्रमुख कर्तव्य है। उन्होंने त्रिलोकी के कितने प्राणियों को किस प्रकार परम परमेश्वर के पावन पद–पद्मों में पहुंचा दिया इसकी गणना सम्भव नहीं है। उनमें से कतिपय परम पावन हरिभक्तों के स्मरण संकेत किये जा सकते हैं।

प्रह्लाद भक्त की दृढ़ भक्ति से भगवान् नृसिंह अवतरित हुए। प्रह्लाद के भगवद्विश्वास एवं प्रगाढ़ निष्ठा में भगवान नारद ही मुख्य हेतु थे। जब भक्त प्रह्लाद गर्भ में थे तो माता दैत्येश्वरी कयाधू को भक्ति ज्ञान का उपदेश दिया।

वहीं ज्ञान प्रह्लाद के जीवन और जनम को सफल करने हेतु बना। इसी प्रकार पिता के तिरस्कार से दुःख पाया हुआ ध्रुव कुमार वन गमन के समय नारदजी ने उन्हें भगवान वासुदेव का मंत्र दिया तथा उन्हें उपासना विधि भी सविस्तार बतलायी। जब दक्ष प्रजापति ने पंचजन की पुत्री असिक्नी से "हर्यश्व" नामक दस हजार पुत्र उत्पन्न कर

उन्हें सृष्टि विस्तार का आदेश दिया और एतदर्थ वे सिन्धु नदी के समुद्र संगम पर नारायण सर स्थान में तपस्या के लिये पहुंचे, तब वहां नारद जी ने अपने अमृतोपम भगवान भक्ति का उपदेश करके सबको विरक्त बना दिया। दक्ष प्रजापति बड़े दुःखी हुए। उन्होंने पुनः "शवलाश्व" नामक एक हजार पुत्र किये। नारद जी ने कृपापूर्वक उन्हें भी भगवान् के चरणारविन्दों की भक्ति की ओर लगा दिया। तब तो अत्यन्त क्रुद्ध होकर दक्ष प्रजापति ने अजातशत्रु नारदजी को शाप दे दिया। तुम लोक लोकान्तरों में भटकते रहोगे और तुम्हें कहीं भी दो घण्टे से अधिक ठहरने के लिये ठौर नहीं मिलेगी। संत शिरोमणि नारदजी ने इसे प्रभु की मंगलमयी इच्छा समझकर शाप स्वीकार कर लिया।

व्यासजी ने जब वेदों का विभाग तथा पंचम वेद महाभारत की भी रचना कर डाली परन्तु व्यास जी अपने इस काम को अपूर्ण अनुभव करते हुए खिन्न हो रहे थे। उसी समय दयानिधान नारद जी, व्यासजी के पास पहुंच गये। व्यासजी के पूंछने पर नारदजी ने कहा– व्यास जी! आपने भगवान् के निर्मल यश का गान प्रायः नहीं किया है। मेरी ऐसी मान्यता है, कि वह शस्त्र या ज्ञान सर्वथा, अपूर्ण है जिससे जगदाधार स्वामी सन्तुष्ट न हो। वह वाणी व ज्ञान आद के योग्य नहीं, जिससे भगवान की परमपावनी भक्ति व उनके चरित्रों का पवित्र वर्णन न किया गया हो। व्यास जी आप पूर्ण ज्ञानी हैं, आप भगवान की ही कीर्ति का उनकी प्रेममयी सुन्दर लीलाओं का वर्णन कीजिये। उससे बड़े–बड़े ज्ञानियों की जिज्ञासा पूर्ण होती है। किसी भी प्रकार की अपूर्णता को पूर्ण करने में तथा किसी भी प्रकार के दुःखों को दूर करने में इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। तत्पश्चात नारद जी के उपदेशानुसार व्यास जी ने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना कर सन्तुष्टि या पूर्ण काम होने पर आनन्द प्राप्त किया।

जब अविनाशी नर–नारायण बदरिकाश्रम में घोर तपस्या करते हुए अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। उन परम तेजस्वी प्रभू का दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हो रहा था। उस समय नारदजी उनके पास पहुंच गये। तब नर–नारायण ने भगवत् सम्बन्धी अनेक प्रश्न किये। नारदजी ने उनके प्रश्नों का उत्तम प्रकार से समाधान करते हुये संतोषित किया और उनके समीप दस हजार दिव्य वर्षों तक रहकर वे भजन एवं अनुष्ठान करते रहे।

सर्वोच्च ज्ञान सम्पन्न, श्री शुकदेव जी को ज्ञानोपदेश देते हुए महामुनि नारद जी ने कहा था–

1. सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छया।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्।।
आध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चचरेत् स सुखी भवेत्।।

संग्रह का अन्त है विनाश! ऊंचे चढ़ने का अंत है नीचे गिरना। संयोग का अन्त है वियोग और जीवन का अंत है मरण।

जो आध्यात्म विद्या में अनुरक्त, कामना शून्य तथा भोगशक्ति से दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वही सुखी होता है।

यही सर्वोपरि ज्ञान का तत्वसार ! इसको सर्वदा ध्यान में रखते हुए श्री भगवान की अर्चना–पूजा व उनके गुण लीलाओं का भजन–स्मरण मनन, चिन्तन करना ही आत्मोधार का सर्वोपरि साधन है।

सुर–असुर मनुष्यादि जीवमात्र के सुदृढ़, दयामय भगवान् की भक्ति के साक्षात् मूर्तरूप भगवान वीणापाणि देवर्षि नारद जी के चरणों में बार–बार प्रणाम है।

---

1. महाभारत शान्ति 330/20/30

आचार्य ब्रह्मा द्वारा प्रतिपादित वैष्णव सिद्धान्त

सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण जल में डूबा हुआ था। उस समय एक मात्र श्रीनारायणदेव शेषशय्या पर पौढ़े हुये थे। वे अपने ज्ञान शक्ति औक्र अक्षुण रखते हुए योगनिद्रा का आश्रय ले अपने नेत्र बन्द किये हुए थे। सृष्टिकर्म से अवकाश लेकर आत्मानन्द में मग्न थे, उनमें किसी भी क्रियास का उन्मेष नहीं था।

जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहिका क्रिया को छिपाये हुए काष्ठ में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान ने सम्पूर्ण प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को अपने शरीर में लीन करके अपने आधारभूत उस जल में शयन किया, उन्हें सृष्टिकाल आने पर पुनः जगाने के लिये केवल काल शक्ति को जांग्रत रखा। इस प्रकार अपनी स्वरूप भूता इच्छित शक्ति के साथ एक सहस्त्र चतुर्युगपर्यन्त जल में शयन करने के अनन्तर जब उन्हीं के द्वारा नियुक्त उनकी काल शक्ति ने उन्हें जीवों के कर्मो की प्रवृत्ति के लिये प्रेरित किया, तब उन्होंने अपने शरीर में लीन हुए अनन्त लोक देखे। जिस समय भगवान की दृष्टि अपने में निहित लिंगशरीरादि सूक्ष्यतत्व पर पड़ी तब वह कालाश्रित रजोगुण से क्षुभित होकर सृष्टि रचना के निमित्त उनके नाभि देश से बाहर निकला।

कर्म शक्ति को जाग्रत करने वाला काल के द्वारा विष्णु भगवान के नाभि से प्रकट हुआ। वह सूक्ष्म तत्व कमकोश के रूप में सहसा ऊपर उठा और सूर्य के समान अपने तेज से उस अपार जलराशि को देदीप्यमान कर दिया। सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित करने वाले उस सर्वलोकमाय कमल में वे विष्णु भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से प्रकट हो गये तब उनमें से बिना पढ़ाये ही स्वयं सम्पूर्ण वेदों को जानने वाला साक्षात् वेदमूर्ति श्री ब्रह्माजी प्रकट हुए, जिन्हें लोग स्वयम्भू कहते हैं।

उस कमल की कर्णिका में बैठे हुए ब्रह्मा जी को जब कोई लोक दिखायी नहीं दिया तब वे आंखे फाड़कर आकाश में चारों ओर गर्दन घुमाकर देखने लगे, इससे उनके चारों दिशाओं में चार मुख हो गये।

तत्लोपद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविश त्सर्वगुणावभसम।

तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता, स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत।।

श्रीमद् भागवत 3/8/15

उस समय प्रलयकालीन पवन के थपेड़ों से उछलती हुई जल की तरंगमालाओं के कारण उस जलराशि के ऊपर उठे हुए कमल पर विराजमान आदिदेव ब्रह्माजी को अपना तथा उस लोकतत्वरूप कमल का कुछ भी रहस्य न जान पड़ा।

वे सोचने लगे, इस कमल की कर्णिका पर बैठे हुआ मैं कौन हूँ, यह कमल भी बिना किसी अन्य आधार के जल में कहॉ से उत्पन्न हो गया ? इसके नीचे अवश्य कोई वस्तु होना चाहिये, जिसके आधार पर यह स्थिति है।

यह सोचकर वे कमल की नाल के सूक्ष्य छिद्रों में होकर उस जल में घुसे। किन्तु उस नाल के आधार को ख़ोजते–खोजते नाभिदेश के समीप पहुंच जाने पर भी वे उसे पा न सके। उस अपार अन्धकार में अपने उत्पत्ति स्थान को खोजते–खोजते ब्रह्माजी को बहुत काल बीत गया। यह काल ही भगवान् का चक्र है, जो प्राणियों को भयभीत करता रहता है। अन्त में पुनः अपने आधारभूत कल पर बैठकर धीरे–धीरे प्राणवायु को जीतकर चित्त को निःसंकल्प किया और समाधि में स्थित हो गये। इस प्रकार पुरूष की पूर्ण आयु के बराबर काल तक अच्छी तरह योगाभ्यास करने पर ब्रह्मा जी को ज्ञान प्राप्त हुआ, तब उन्होंने अपने उस अधिष्ठान को जिसे वे पहले खोजने पर भी नहीं देख पाये थे, अपने ही अन्तःकरण में प्रकाशित होते देखा।

इस प्रकार विश्व की रचना की इच्छा वाले लोक विधाता ब्रह्माजी ने भगवान के नाभि सरोवर से प्रकट हुआ, वह कमल, जल आकाश, वायु और अपना शरीर–केवल ये पांच ही पदार्थ देखे, इनके सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ा। रजोगुण व्याप्त ब्रह्माजी प्रजा की रचना करना चाहते थे। जब उन्होंने सृष्टि के कारण रूप केवल ये ही पांच पदार्थ देखे तब लोक रचना के लिये उत्सुक होने के कारण वे अचिन्त्य गति श्री हरि में चित्त लगाकर परमपूजनीय भगवान् विष्णु की स्तुति करने लगे।

तदेव तन्नाभिसरः सरोज, मात्मानमम्भः श्वसनं वियच्च,
ददर्श देवो जगतो विधाता, नातः परं लोकविसर्गदृष्टि। *श्रीमद्भागवत 3/8/31*

ब्रह्मा जी ने भगवान के परम अलौकिक स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा है कि अहो! कैसा दुर्भाग्य है कि देहधारी जीव आपके स्वरूप को नहीं जान पाते। भगवन् आपके सिवा और कोई वस्तु नहीं है, जो वस्तु प्रतीत होती है, वह भी स्वरूपतः सत्य नहीं है, क्योंकि माया के गुणों के शुभित होने के कारण केवल आप ही अनेकों रूपों में प्रतीत हो रहे हैं।

देव! आपके चित्त–शक्ति के प्रकाशित होने के कारण अज्ञान आपसे सदा ही दूर रहता है, आपका यह रूप जिसके नाभि कमल से मैं प्रकट हुआ हूँ। सैकड़ों अवतारों का मूल कारण है। इसे आपने सत्पुरूषों पर कृपा करने के लिये ही पहले पहल प्रकट किया है।

परमात्मन! आपका जो आनन्द मात्र भेद रहित अखण्ड तेजोमय स्वरूप है उसे मैं इससे भिन्न नहीं समझता। इसलिये मैनें विश्व की रचना करने वाले होने पर भी विश्वातीत आपके इस अद्वितीय रूप की ही शरण ली है यही सम्पूर्ण भूत इन्द्रियों का भी अधिष्ठान है।

हे विश्व कल्याणमय! मैं आपका उपासक हूँ, आपने मेरे हित के लिये ही मुझे ध्यान में अपना रूप दिखाया है। जो पापात्मा विषयासक्त जीव हैं वे ही इसका अनादर करते हैं। मैं तो आपको बार–बार इसी रूप में नमस्कार करता हूँ। मेरे स्वामी, जो लोग वेदरूप वायु से लायी हुई आपके चरणरूप कमलकोश की गन्ध को अपने कर्णपुटों से ग्रहण करते हैं, उन अपने भक्तजनों के हृदय कमल से आप कभी दूर नहीं होते, क्योंकि वे परमपिता डोरी से आपके पादषद्म को बॉध लेते हैं।

जब तक पुरूष आपके अभयप्रद चरणाविन्द को आश्रय नहीं लेता, तभी तक उसे धन, घर और बन्धुजनों के कारण प्राप्त होने वाले भय, शोक, लालसा, दीनता और अत्यन्त लोभ आदि सताते हैं, और तभी तक उसे मैं मेरेपन का दुराग्रह रहता जो दुःख का एकमात्र कारण है।

जो लोग सब प्रकार क अंमगलों को नष्ट करने वाले आपके श्रवण कीर्तनादि प्रसंगों से इन्द्रियों को हटाकर लेखमात्र विषय सुख के लिये दीन, और मन ही लालायित होकर निरन्तर दुष्कर्मों में लगे रहते हैं उनकी बुद्धि हर ली गई है।

भगवन् जब तक मनुष्य इन्द्रिय और विषय रूपी माया के प्रभाव से आपसे अपने को भिन्न देखता है तब तक उसके लिये इस संसार चक्र की निवृत्ति नहीं होती। यद्यपि यह मिथ्या है, तथापि कर्मफल भोग का क्षेत्र होने के कारण उसे नाना प्रकार के दुःखों में डालता रहता है।

हे भगवन जो साक्षात मुनि है, वे भी यदि आपके कथा प्रसंग से विमुख रहते हैं तो उन्हें संसार में फंसना पड़ता है। आपका मार्ग केवल गुण–श्रवण से ही जाना जाता है। आप निश्चय ही मनुष्यों के भक्ति योग द्वारा ही परिशुद्ध हुए हृदयस कमल में निवास

करते हैं। आपका भक्तजन जिस–जिस भावना से आपका चिन्तन करते हैं, उन साधु–पुरूषों पर अनुग्रह करने के लिये आप वहीं–वहीं रूप धारण कर लेते हैं। भगवन् आप एक हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तः करणों में स्थित उनके परम् हितकारी अन्तरात्मा है। इसलिये यदि देवता लोग भी हृदय में तरह–तरह की कमानाएं रखकर भाँति–भाँति के विपुल सामग्रियों से आपका पूजन करते हैं तो उससे आप उतने प्रसन्न नहीं होते। जितने सब प्राणियों पर दया करने से होते हैं। किन्तु वह सर्वभूत दया असत् पुरूषों को अत्यन्त दुलर्भ हैं। जो कर्म आपको अर्पण कर दिया जाता है उसका कभी नाश नहीं होता वह अक्षय हो जाता है। अतः नाना प्रकार के कर्म यज्ञ, दान, कठिन तपस्या और व्रतादि के द्वारा आपकी प्रसन्नता प्राप्त करना ही मनुष्य का सबसे बड़ा कर्मफल है, क्योंकि आपकी प्रसन्नता होने पर ऐसा कौन फल है जो सुलभ नहीं हो पाता। आप सर्वदा अपने स्वरूप के प्रकाश से ही प्राणियों के भेद भ्रमरूप अन्धकार का नाश करते रहते हैं तथा ज्ञान के अधिष्ठान साक्षात् परम पुरूष हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ, संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के निमित्त से जो माया की लीला होती है, वह आपका ही खेल है, अतः आप परमेश्वर को मैं बार–बार नमस्कार करता हूँ।

जो लोग प्राण त्याग करते समय आपके अवतार गुण और कर्मों को सूचित करने वाले देवकीनंदन आदि नामों का उच्चारण करते हैं।

भगवन! इस विश्व वृष के रूप में आप ही विराजमान हैं। आप ही अपनी मूल प्रकृति को स्वीकार करके जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के लिये मेरे अपने और महादेवजी के रूप में तीन प्रधान शाखाओं में विभक्त हुए हैं, और प्रजापति एवं मनु आदि शाखा–प्रसाखाओं के रूप में फैलकर बहुत विस्तृत हो गये हैं। मैं आपको नमस्कार करता हूँ। भगवन आपने अपनी आराधना को लोकों के लिये कल्याणकारी स्वधर्म बतलाया है, किन्तु वे इस ओर उदासीन होकर सर्वदा विपरीत कर्मों में लगे रहते हैं। ऐसी प्रमाद की अवस्था में पड़े हुए, इन जीवों की जीवन आशा को जो सर्वदा सावधान रहकर बड़ी शीघ्रता से काटता रहता है, वह बलवान काल भी आपका ही रूप है।

मैं सत्यलोक का अधिष्ठाता हूँ, जो दो पराधर्म पर्यन्त रहने वाला और समस्त लोकों का वन्दनीय है तो भी आपके उस कालरूप से डरता रहता हूँ। उससे बचने और आपको प्राप्त करने के लिये ही मैंने बहुत समय तक तपस्या की है। आप ही अधियज्ञ रूप से मेरे इस तपस्या के साक्षी हैं, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप पूर्ण काम है,

आपको किसी विषय सुख की इच्छा नहीं है, तो भी आपने अपने बनाई हुई धर्म–मर्यादा की रक्षा के लिये पशु–पक्षी, मनुष्य देवता आदि जीवयोनियों में अपनी ही इच्छा से शरीर धारण कर अनेकों लीलाएं की हैं। ऐसा आप पुरूषोत्तम भगवान् को मेरा नमस्कार है।

भगवान आप विद्या–अविद्या, राग, द्वेष और अभिनिवेश पांचों में से किसी के भी अधीन नहीं है, तथापि इस समय जो सारे संसार को अपने उदर में लीनकर भयंकर तरंगमालाओं से विक्षुब्ध प्रलयकालीन जल में अनन्तविग्रह की कोमल शय्या पर शयन कर रहे हैं। वह पूर्वकल्प की कर्मपरम्परा से श्रमित हुए जीवों को विश्राम देने के लिये ही है। आपके नाभि कमल रूप भवन में मेरा जन्म हुआ है, यह सम्पूर्ण विश्व आपके उदर में समाया हुआ है, आपकी कृपा से ही मैं त्रिलोकी की रचनारूप उपकार में प्रवृत्त हुआ हूँ। इस समय योगनिन्द्रा के अन्त हो जाने के कारण आपके नेत्र कमल विकसित हो रहे हैं, आपको मेरा नमस्कार है। आप सम्पूर्ण जगत के एकमात्र सुदृढ़ और आत्मा है तथा शरणागत पर कृपा करने वाले हैं। अतः अपने जिस ज्ञान और ऐश्वर्य से विश्व को आनन्दित करते हैं। उसी से मेरी बुद्धि को भी युक्त करें। जिससे मै। पूर्व कल्प के समान इस समय भी जगत की रचना कर सकूँ। आप भक्तवान्छा कल्पतरू हैं। अपनी शक्ति लक्ष्मीजी के सहित अनेकों गुणावतार लेकर आप जो– जो अद्‌भुत कर्म करेंगे, मेरा यह जगत की रचना करने वाला उद्‌गम भी उन्हीं में से एक है। अतः इसे रचते समय अभिमान रूप मन से दूर रह सकूं। प्रभो इस प्रलयकालीन जल में शयन करते हुए आप अनन्तशक्ति परमपुरूष के नाभि–कमल से मेरा प्रादुर्भाव हुआ है और मैं हूँ भी आपकी विज्ञानशक्ति, अतः इस जगत् के विचित्र रूप का विस्तार करते हुए आपकी कृपा से मेरी वेद रूप वाणी का उच्चारण लुप्त न हो। आप अपार करूणामय पुराण पुरूष हैं।

आचार्य प्रह्लाद जी का वैष्णव सिद्धान्त

इस संसार में मनुष्य जन्म दुर्लभ हैं, इसके द्वारा अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है परन्तु पता नहीं कब इसका अन्त हो जाय। अतः बुद्धिमान पुरूषों को बुढ़ापे या जीवन के भरोसे न रहकर बचपन ही भगवान् की प्राप्ति करने वाले साधनों का अनुष्ठान कर लेना चाहिए। इस मनुष्य जन्म में भगवान् के चरणों की शरण लेना ही जीवन की एकमात्र सफलता है, क्योंकि भगवान् समस्त प्राणियों का स्वामी, सुदृढ़, प्रियतम और आत्मा है। इन्द्रियों से जो सुख भोग होता है वह तो जीव चाहे जिस योनि में रहे, प्रारब्ध के अनुसार सर्वत्र वैसे ही मिलता है, जैसे बिना किसी प्रकार प्रयत्न किये निवारण करने पर भी दुःख मिलता है। अतः सांसारिक सुख के उद्देश्य से प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है, जो इनमें उलझ जाते हैं, उन्हें भगवान के परम कल्याण स्वरूप चरणों की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य के सिर पर अनेक प्रकार के भूत सवार रहते हैं, इसलिये यह शरीर जो भगवत्प्राप्ति के लिये पर्याप्त रहता है। जब तक रोग–शोकादिग्रस्त होकर मृत्यु के मुख में नहीं चला जाता तभी तक बुद्धिमान पुरूष को अपने कल्याण के लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये।

प्रह्लाद जी के अनुसार भगवान को प्रसन्न करने के लिये बहुत परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती है क्योंकि वे समस्त प्राणियों की आत्मा में हैं और सर्वत्र सबकी सत्ता के रूप में स्वयं सिद्ध वस्तु हैं। ब्रह्मा से लेकर तिनके तक छोटे–बड़े समस्त प्राणियों में, पंचभूतों से बने हुए वस्तुओं में पंचभूतों में सूक्ष्य तन्मात्राओं में, महत्व में तीनों गुणों में और गुणों की साम्यावस्था प्रकृति में एक ही अविनाशी परमात्मा विराजमान हैं। वे ही समस्त सौन्दर्य, माधुर्य और ऐश्वर्य की खान हैं। वे ही अन्तर्यामी द्रष्टा के रूप में है और वे ही दृश्य जगत के रूप में भी हैं। सर्वथा अनिवर्चनीय तथा विकल्प रहित होने पर भी द्रष्टा और दृश्य, व्याप्त और व्यापक रूप में उनका निर्वचन किया जाता है। वस्तुतः उनमें एक भी विकल्प नहीं है।

प्रत्यागात्मस्वरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम्।

व्याप्त व्यापक निर्देश्यो हनिदेश्योविकल्पितः।।

वे केवल अनुभव स्वरूप आनन्द स्वरूप एक मात्र परमेश्वर ही हैं। गुणमयी सृष्टि करने वाली माया के द्वारा ही उनका ऐश्वर्य छिप रहा है। इसके निवृत्त होते ही उनके दर्शन हो जाते हैं।

आदिनारायण अनन्त भगवान के प्रसन्न हो जाने पर ऐसी कौन सी वस्तु है, जो नहीं मिल पाती ? लोक और परलोक के लिये जिन धर्म, अर्थ आदि की आवश्यकता बतलायी जाती है। वे तो गुणों के परिणाम से बिना प्रयास के स्वयं ही मिलने वाले हैं। जब हम श्रीभगवान के चरणामृत का सेवन करने और उनके नाम गुणों का कीर्तन करने में लगे हैं, तब हमें मोक्ष की भी क्या आवश्कता है ?

शास्त्रों में धर्म–अर्थ–काम इन तीन पुरूषार्थों का वर्णन है। आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, न्याय (तर्कशास्त्र), दण्डनीति और जीविका के विविध साधन ये सभी वेदों के प्रति पाद्य विषय हैं, परन्तु यदि ये अपने परम हितैषी परम पुरुष भगवान् श्रीहरि को आत्म समर्पण करने में सहायक हैं। तभी मैं इन्हें सत्य सार्थक मानता हूँ। अन्यथा ये सब निरर्थक हैं। यह निर्मल ज्ञान जो मैंने तुम लोगों को बतलाया है, बड़ा ही दुर्लभ है। इसे पहले नर–नारायण ने नारद जी को उपदेश किया था और यह ज्ञान उन सब लोगों को प्राप्त हो सकता है, जिन्होंने भगवान् के अनन्य प्रेमी एवं अकींचन भक्तों के चरण–कमलों की धूलि से अपने शरीर को नहला लिया है। यह विज्ञान सहित ज्ञान–विशुद्ध भागवत धर्म है। इसे मैनें भगवान का दर्शन करने वाले देवर्षि नारद जी के मुंह से ही सर्वप्रथम सुना था।

आचार्यों ने मूल प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ इन आठ तत्वों को प्रकृति बतलाया है, उसके तीन गुण है– सत्व, रज और तम तथा उनके विकार हैं सोलह, दश इन्द्रियां एक मन और पंच महाभूत। इन सबमें एक पुरूषतत्व अनुगत है। इस सबका समुदाय ही देह है जो दो प्रकार का है– स्थावर और जंगम, इसी में अन्तःकरण इन्द्रिय आदि अनात्मवस्तुओं का यह आत्मा नहीं है, इस प्रकार बाध करते हुएं आत्मा को ढूंढना चाहिये।

श्रुतमेतन्मया पूर्व ज्ञानं विज्ञानसंयुतम्।
धर्मं भागवतं शुद्धं नारदाद देवदर्शनात्।।

सर्वशक्तिमान भगवान श्रीहरि समस्त प्राणियों में विराजमान हैं। ऐसी भावना से यथाशक्ति सभी प्राणियों की इच्छा पूर्ण करें और हृदय से उनका सम्मान करें। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छैः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके जो लोग इस प्रकार भगवान की साधन भक्ति का अनुष्ठान करते हैं। उन्हें उस भक्ति के द्वारा भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में अनन्य प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

जब भगवान के लीलाशरीर से किये हुए अद्भुत पराक्रम उनके अनुपम गुण और चरित्रों को श्रवण करके अत्यन्त आनन्द के उद्रक से मनुष्य का रोम–रोम खिल उठता है, ऑसुओं के मारे कंठ गदगद हो जाता है, और संकोच छोड़कर जोर–जोर से गाने चिल्लाने और नाचने लगता है। कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भाव से लोगों की वन्दना करने लगता है, जब वह भगवान में ही तन्मय हो जाता है, बार–बार लम्बी सॉस खींचता है और संकोच छोड़कर हरे ! जगत्पते ! नारायण कहकर पुकारने लगता है– तब भक्तियोग के महान प्रभाव से उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवद् भाव की ही भावना करते–करते उसका हृदय भी तदाकार भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म–मृत्यु के बीजों का खजाना ही जल जाता है और वह पुरूष श्रीभगवान को प्राप्त कर लेता है। इस अशुभ संसार के दल–दल में फॅसकर अशुभमय हो जाने वाले जीव के लिये भगवान की यह प्राप्ति संसार के चक्कर को मिटा देने वाली है। इसी वस्तु को कोई विद्वान ब्रह्म और कोई निर्वाण सुख के रूप में पहचानते हैं। वे समानरूप से समस्त प्राणियों के अत्यन्त प्रेम मित्र हैं और तो क्या अपने आत्मा ही है। केवल परमात्मा निर्दोष है, न किसी ने उनमें दोष देखा और न ही सुना है, अतः परमात्मा की प्राप्ति के लिये अनन्य भक्ति से उन्हीं परमेश्वर का भजन करना चाहिये।

1. **एवं ही लोकाः क्रतुभिः कृता अमी, क्षयिष्णवः सातिशयान् निर्मला।**
   तस्याद्दृष्ट श्रुतदूषणं परं भक्त्यैकयेशं भजतात्यलब्धये।।

भक्त प्रह्लाद भगवान विष्णु की स्तुति करते हुए उन्हें सर्वशक्तिमान स्वरूप स्थापित करते हैं।

ब्रह्मा आदि देवता, ऋषि, मुनि और सिद्ध पुरूषों की बुद्धि निरन्तर सत्वगुण में ही स्थिर रहती है। फिर भी वे अपनी धारा प्रवाह स्तुति और विविध गुणों से आपको अब तक भी सन्तुष्ट नहीं कर सके, फिर मैं तो घोर असुर जाति में उत्पन्न हुआ हूँ, क्या आप मुझसे सन्तुष्ट हो सकते हैं। मैं समझता हूँ कि धन, कुलीनता, रूप, तप विद्या, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग ये सभी गुण परमपुरूष भगवान को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं हैं। परन्तु भक्ति से तो भगवान गजेन्द्र पर भी सन्तुष्ट हो गये थे। मेरी समझ से इन बारह गुणों से युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् कमलनाथ के चरण–कमलों से विमुख हो तो उससे वह चाण्डाल श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म, धन और प्राण भगवान के चरणों में समर्पित कर रखे है, क्योंकि वह चाण्डाल तो

अपने कुल तक को पवित्र कर देता है और बड़प्पन का अभिमान रखने वाला वह ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता।

सर्वशक्तिमान प्रभु अपने स्वरूप को साक्षात्कार से ही परिपूर्ण है। उन्हें अपने लिये क्षुद्र पुरूषों से पूजा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। वे करूणावश ही भोले भक्तों के हित के लिये उनके द्वारा की गई पूजा स्वीकार कर लेते हैं। जैसे अपने मुख का सौन्दर्य दर्पण में दिखने वाला प्रतिविम्ब को भी सुन्दर बना देता है, वैसे ही भक्त भगवान के प्रति जो सम्मान प्रकट करता है, वह उसे ही प्राप्त होता है इसलिये सर्वथा अयोग्य और अनाधिकारी होने पर भी मैं बिना किसी शंका के अपनी बुद्धि के अनुसार सब प्रकार से भगवान् की महिमा का वर्णन कर रहा हूँ। इस महिमा का गान का ही ऐसा प्रभाव है कि अविद्यावश संसार चक्र में पड़ा हुआ जीव तत्काल पवित्र हो जाता है।

वह सत्वगुण के आश्रय हैं। ये ब्रह्मा आदि सभी देवता आपके आज्ञाकारी भक्त हैं। ये हम दैत्यों की तरह आपसे द्वेष नहीं करते।

1. **तस्मादहं विगतविक्लव ईश्वरस्य, सर्वात्मना महि गृणामि यथामनीषम।**
   नीचोऽजमा गुणविसर्ग मनुप्रविष्टः, पूयेत येन हि पुमाननुवर्णितने।।

हे प्रभो आप सबके प्रिय हैं, आप ही वास्तव में सबके परमाध्य हैं। मैं ब्रह्माजी के द्वारा गायी हुई लीला–कथाओं का गान करता हूँ।

आपके चरणयुगलों में रहने वाले भक्त परमहंस महात्माओं का संग तो मुझे मिलता ही रहेगा। भगवान नृसिंह ! इस लोक में दुखी जीवों का दुःख मिटाने के लिये जो उपाय माना जाता है, वह आपके उपेक्षा करने पर एक क्षण के लिये ही होता है। सत्वादि गुणों के कारण भिन्न–भिन्न स्वभाव के जितने भी ब्रह्मादि श्रेष्ठ और कालादि कनिष्ठ कर्ता हैं, उनको प्रेरित करने वाले आप ही है। वे आपकी प्रेरणा से जिस आधार में स्थित होकर जिस निमित्त से, जिन मिट्टी आदि उपकरणों से, जिस समय जिन साधनों के द्वासरा जिस अदृष्ट आदि की सहायता से, जिस प्रयोजन के उद्देश्य से, जिस विधि से जो कुछ उत्पन्न करते हैं वे सब आप ही के स्वरूप हैं।

पुरूष के अनुमति से काल के द्वारा गुणों में क्षोभ होने पर माया मनः प्रधान लिंग, शरीर का निर्माण करती हैं। यह लिंग शरीर बलवान, कर्ममय एवं अनेक नाम रूपों में आसक्त छन्दोमय हैं। यहीं अविद्या के द्वारा कल्पित मन, दस इन्द्रिय और पांच तन्मात्रा

इन सोलह विकार रूप युक्त संसार चक्र है। आपसे भिन्न रहकर ऐसा कौन पुरूष है, जो इस मनरूप संसार चक्र को पार कर जाये।

आप अपनी चैतन्य शक्ति से बुद्धि के समस्त गुणों को सर्वदा पराजित रखते हैं। मैं आपकी शरण में आया हूँ, आप मुझे इससे बचाकर अपनी सन्निधि में खींच लीजिये। जिसके लिये संसारी लोग लालायित रहते हैं, स्वर्ग में मिलने वाली समस्त लोकपालों की वह आयु, लक्ष्मी और ऐश्वर्य मैनें खूब देख लिया।

भगवन यह सम्पूर्ण जगत एकमात्र आप ही है। क्योंकि इसके आदि में आप ही कारण स्वरूप थे, अन्त में आप ही अवधि के रूप में रहेगें, और बीच में इसकी प्रतीति के रूप में केवल आप ही हैं, और उन गुणों से युक्त होकर अनेक प्रतीत होने लगते हैं।

यह जो भी कुछ कार्य, कारण के रूप में प्रतीत हो रहा है, वह सब आप ही हैं और इससे भिन्न आप ही हैं। अपने पराये का भेद–भाव तो अर्थहीन शब्दों की माया हें, क्योंकि जिससे जिसका जन्म स्थिति लय और प्रकाश होता है, वह उसका स्वरूप ही होता है। जैसे बीज और वृक्ष कारण और कार्य की दृष्टि से दोनों एक ही है।

भगवन ! आप इस सम्पूर्ण विश्व को स्वयं ही अपने में समेटकर आत्मसुख का अनुभव करते हुए निष्क्रिय होकर प्रलयकालीन जल में शयन करते हैं। उस समय अपने स्वयंसिद्ध योग के द्वारा ब्रांह्म दृष्टि बंद कर आप अपने स्वरूप के प्रकाश में निद्रा को विलीनकर लेते हैं और तुरीय ब्रह्मपद में स्थित रहते हैं। उस समय न तो तमोगुण से ही युक्त होते हैं और न ही विषय को स्वीकार करते हैं। अतः यह ब्रह्माण्ड आपका शरीर है, पहले यह आप में ही लीन था। जब प्रलयकालीन जल के भीतर शेष शय्या पर शयन करने वाले आपने योगनिद्रा की समाधि त्याग दी तब वट के बीज से विशाल वृक्ष के समान आपके नाभि से ब्रह्माण्ड कमल उत्पन्न हुआ। उस पर सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मा जी प्रकट हुए। जब उन्हें कमल के सिवा कुछ और नहीं दिखाई पड़ा, तब अपने में बीज रूप व्याप्त आपको वे न जान सके और आपको अपने से बाहर समझकर जल के भीतर घुसकर सौ वर्ष तक ढूंढते रहे परन्तु वहां उन्हें कुछ नहीं मिला, जो कि अंकुर उग आने पर उनमें व्याप्त बीज को कोई बाहर अलग कैसे देख सकता है।

विराट पुरूष सहस्त्रों मुख, चरण सिर, हाथ, जंघा, नासिका, मुख, कान, नेत्र, आभूषण और आयुद्यों से सम्पन्न था। चौदहों लोक उसके विभिन्न अंगों के रूप से शोभायमान थे। वह भगवान् की एक लीलामयी मूर्ति थी। उसे देखकर ब्रह्माजी को बड़ा

आनन्द हुआ। रजोगुण और तमोगुण, मधु और कैटभ नामक दो बडे बलवान दैत्य थे। जब वे वेदों को चुराकर ले गये तब आपने हृयग्रीव अवतार ग्रहण किया और उन दोनों को मारकर सत्वगुणरूप श्रुतियां ब्रह्मा जी को लौटा दी। वह सत्वगुण ही आपका अत्यन्त प्रिय शरीर है।

पुरूषोत्तम ! इस प्रकार आप मनुष्य, पशु, पक्षी, ऋषि, देवता और मत्स्य रूप आदि अवतार लेकर लोकों का पालन तथा विश्व के द्रोहियों का संहार करते हैं।

इस अवतारों के द्वारा आप प्रत्येक युग में उसके धर्मों की रक्षा करते हैं। कलियुग में आप छिपकर गुप्तरूप से ही रहते हैं, इसलिये आपका एक नाम त्रियुग भी है।

वैकुण्ठनाथ! मेरे मनकी बड़ी दुर्दशा है। वह पाप वासनाओं से कलुषित है ही, स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट है। वह प्रायः ही कामनाओं के कारण आतुर रहता है और हर्ष, शोक, भय एवं लोक–परलोक धन, पत्नी पुत्र आदि की चिन्ताओं से व्याकुल रहता है। इसे आपकी लीला कथाओं में तो रस ही नहीं मिलता है। मेरी स्थिति दीन–हीन है। ऐसे मनसे मैं आपके स्वरूप का चिन्तन कैसे करूं।

अच्युतानन्द ! यह क्रभी न अघाने वाली जीभ मुझे स्वादिष्ट रसों की ओर खींचती रहती है। जनेन्द्रियां सुन्दरी स्त्री की ओर, और ये चपल नेत्र सौन्दर्य की ओर मुझे खींचती हैं। इनके सिवा कर्मेन्द्रियों भी अपने–अपने विषयों की ओर ले जाने को जोर लगाती हीं रहती है। मेरी तो वह दशा हो रही है, जैसे किसी पुरूष की बहुत सी पत्नियां उसे अपने–अपने शयन गृह ले जाने के लिये चारों ओर घसीट रही हो। इस प्रकार यह जीव अपने कर्मों के बन्धन में पड़कर इस संसार रूप वैतरणी नदी में गिरा हुआ है। जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म और दोनों के द्वारा कर्मभोग करते–करते यह भयभीत हो गया है। यह अपना है, यह पराया है, इस प्रकार के भेद–भाव से युक्त होकर किसी से मित्रता करता है है तो किसी से शत्रुता। आप इस मूढ़ जीव–जाति की यह दुर्दशा देखकर करूणा से द्रवित हो जाइये। इस भव नदी से सर्वदा पार रहने वाले भगवन् इस प्रणियों को भी अब पार लगा दीजिये।

जगत्पति! आप इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और पालन करने वाले हैं। ऐसी अवस्था में इन जीवों को इस भव नदी के पार, उतार देने में आपको क्या प्रयास है ? दीन जनों के परम हितैषी प्रभो ! भूले–भटके मूढ़ ही महान् पुरूषों के विशेष अनुग्रह पात्र

होते हैं। हमें उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि हम आपके प्रियजनों की सेवा में लगे रहते हैं। इसलिये पार जाने की हमें कभी चिन्ता नहीं होती।

परमात्मन! इस भव–वैतरणी से पार उतारना दूसरे लोगों के लिये अत्यन्त कठिन है, परन्तु मुझे तो इससे तनिक भी भय नहीं है। क्योंकि मेरा चित्र इस वैतरणी में नहीं है। आपकी उन लीलाओं के गान में मग्न रहता है, जो स्वर्गीय अमृत को भी तिरस्कृत करने वाली परमामृत स्वरूप है। मैं उन मूढ़ प्राणियों के लिये शोक कर रहा हूं, जो आपके गुणगान से विमुख होकर इन्द्रियों के विषयों का मायामय झूठा सुख प्राप्त करने के लिये अपने सिर पर सारे संसार का भार ढ़ोते रहते हैं।

हे प्रभो ! ऋषि–मुनि प्रायः अपनी मुक्ति के लिये निर्जन वन में जाकर मौनव्रत धारण कर लेते हैं। वे दूसरों की भलाई के लिये कोई प्रयत्न नहीं करते, परन्तु मेरी दशा तो दूसरी ही हो रही है। मै। इन भूले हुए असहाय गरीबों को छोड़कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता और इन भटके हुए प्राणियों के लिये आपके सिवा और कोई सहारा भी नहीं दिखाई पड़ता।

घर मे फंसे हुए लोगों को जो मैथुन आदि का सुख मिलता है वह अत्यन्त तुच्छ एवं दुःख रूप है किन्तु अज्ञानी मनुष्य बहुत दुःख भोगने पर भी इन विषयों से आघात नहीं। इसके विपरीत धीर पुरूष सारे विकार जन्म वेग से सह लेते हैं।

पुरूषोत्तम ! मोक्ष के दस साधन हैं– मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्रश्रवण, तपस्या, स्वाध्याय, स्वधर्म पालन, युक्तियों से शास्त्रों की व्याख्या, एकान्त सेवन, जप और समाधि! परन्तु जिनकी इन्द्रियॉ वश में नहीं हैं, उनके लिये ये सब जीविका के साधन व्यापार मात्र रह जाते हैं और दम्भियों के लिये तो जब तक उनकी पोल खुलती नहीं तभी तक ये जीवन निर्वाह साधन रहते हैं और भण्डाफोड़ हो जाने पर वह भी नहीं।

वेदों ने बीज और अंकुर के समान आपके दो रूप बताये हैं– कार्य और कारण! वास्तव में आप प्राकृत रूप से रहित हैं परन्तु इन कार्य और कारण को छोड़कर आपके ज्ञान का कोई और साधन भी नहीं है। काष्ठ मंथन के द्वारा जिस प्रकार अग्नि प्रकट की जाती है, उसी प्रकार योगीजन भक्तियोग की साधना से आपको कार्य और कारण दोनों में ढूंढ लेता है। क्योंकि वास्तव में ये दोनों आपसे पृथक नहीं है आपके स्वरूप ही है।

अनन्त प्रभो ! वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, जल, पंच, तन्मात्राएं, प्राण, इन्द्रिय, मन, चित्त, अहंकार, सम्पूर्ण जगत एवं सगुण और निगुर्ण सब कुछ आप ही हैं।

मन और वाणी के द्वारा जो कुछ निरूपण किया गया है, वह सब आप से पृथक नहीं है। समग्र कार्तिकेय आश्रय भगवान्! ये सत्वादि गुण और इन गुणों के परिणाम महत्तत्वादि देवता, मनुष्य, मन आदि कोई भी आपका स्वरूप जानने में समर्थ नहीं है क्योकि ये सब आदि अन्त वाले हैं और आप अनादि एवं अनन्त हैं। ऐसा विचार करके ज्ञानीजन शब्दों की माया से उपरत हो जाते हैं। परमपूज्य ! आपकी सेवा के छः अंग है– नमस्कार, स्तुति, समस्त कर्मों का समर्पण, सेवा–पूजा, चरण कमलों का चिन्तन और लीला कथा का श्रवण। इस षठ सेवा के बिना आपके चरण–कमलों की भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है और भक्ति के बिना आपकी प्राप्ति कैसे होगी ? प्रभो ! आप तो अपने परम प्रिय भक्तों के परमहंसों के ही सर्वस्व हैं।

इस प्रकार भक्त प्रह्लाद बड़े प्रेम से प्रकृति और प्राकृत गुणों से रहित भगवान के स्वरूप भूत गुणों का वर्णन किया है एवं वैष्णव सिद्धान्त को स्थापित किया है।

::- आचार्य उद्धव द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ::-

उद्धव जी श्रीकृष्ण के चरणाविन्द मकरन्द सुधा से सराबोर होकर कहते हैं, श्रीकृष्ण रूप सूर्य के छिप जाने से सारा संसार श्रीहीन हो जाते हैं। यह मनुष्य लोक बड़ा ही अभागा है, जिन्होंने निरन्तर भगवान के साथ रहते हुए भी उन्हें नहीं पहचानता, जिस तरह अमृतमय चन्द्रमा के समुद्र में रहते समय मत्स्य उन्हें पहचान सकी थी। गोपियां मन के भावों को ताड़ने वाले, समझदार और भगाने के साथ एक ही स्थान में रहकर क्रीड़ा करने वाले उन सभी ने समस्त विश्व के आश्रय सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्ण को श्रेष्ठ व्यक्ति मात्र समझा किन्तु भगवान् की माया से मोहित इन गोपियों और इनसे व्यर्थ का बैर बैठाने वाला अवहेलना और निन्दासूचक वाक्यों से भगवत्प्राण महानुभावों की बुद्धि भ्रम में नहीं पड़ती थी। जिन्होनें कभी तप नहीं किया, उन लोगों को भी इतने दिनों तक दर्शन देकर अब उनकी दर्शन लालसा को तृप्त किये बिना ही वे भगवान श्रीकृष्ण अपने त्रिभुवन मोहन श्री विग्रह को छिपाकर अन्तर्धान हो गये हैं, और इस प्रकार मानो उनके नेत्रों को ही छीन लिया है।

भगवान ने अपनी योगमाया का प्रभाव दिखाने के लिये मानव लीलाओं के योग्य जो दिव्य श्री विग्रह प्रकट किया था वह इतना सुन्दर था कि उसे देखकर सारा जगत तो मोहित हो ही जाता था, वे स्वयं भी विस्मित हो जाते थे। सौभाग्य और सुन्दरता की पराकाष्ठा थी उस रूप में। उससे आभूषण भी विभूषित हो जाते थे।

धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भगवान् के उस नयनाभिराम रूप पर लोगों की दृष्टि पड़ी थी, जब त्रिलोकी ने यही माना था कि मानव सृष्टि की रचना में विधाता की जितनी चतुराई है, सब इसी रूप में पूरी हो गयी है। उनके प्रेमपूर्ण हास्य विनोद और लीलामय चितवन से सम्मानित होने पर वृज बालाओं की आंखें उन्हीं की ओर लग जाती थी और उनका चित्त भी ऐसा तल्लीन हो जाता था कि वे घर के कार्यों को त्यागकर पुतलियों की तरह खड़ी हो जाती थी।

चराचर जगत और प्रकृति के स्वामी भगवान् ने जब अपने शान्त रूप महात्माओं को अपने ही घोर रूप असुरों से सताये अंश बलराम जी के साथ काष्ठ में अग्नि के समान प्रकट हुए। अजन्मा होकर भी वासुदेव जी के यहां जन्म लेने की लीला करना, सबको अभय देने वाले होने पर भी मानो कंस के भय से ब्रज में जाकर छिप रहना और अन्तपराक्रमी होने पर भी कालयवन के सामने मथुरापुरी छोड़कर भाग भगवान की अपरम्पार लीला है।

आचार्या कुन्ती

सर्वशक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के भक्तवात्सल्य एवं अपने पुत्रों एवं उत्तरा के गर्भ में पल रहे पाण्डव वंश की रक्षा के लिये तत्पर योगेश्वर श्रीकृष्ण को बारम्बार प्रणाम करती है।

कुन्ती समस्त प्राणियों के हृदय में विराजमान उस योगेश्वर विष्णु से कहते हैं कि आप समस्त जीवों के बाहर–भीतर एक रस स्थित हैं, फिर भी इन्द्रियों और वृत्तियों से देखे नहीं जाते क्योंकि आप प्रकृति से परे आदि पुरूष परमेश्वर हैं। इन्द्रियों से जो कुछ जाना जाता है, उसकी तह में आप विद्यमान रहते हैं और अपनी ही माया के परदे से अपने को ढके रहते हैं। मैं अबोध नारी आप अविनाशी पुरूषोत्तम को भला कैसे जान सकती हूँ ? जैसे मूढ़ लोग दूसरा भेष धारण किये हुए नट को प्रत्यक्ष देखकर भी नहीं पहचान सकते, वैसे ही आप दिखते हुए नहीं दिखते। आप शुद्ध हृदय वाले विचारशील जीवन्मुक्त परमहंसों के हृदय में अपने प्रेममयी भक्ति का सृजन करने के लिये अवतीर्ण हुए हैं। फिर हम अल्प. बुद्धि स्त्रियां आपको कैसे पहचान सकती। आप कृष्ण, वसुदेवनन्दन, वासुदेव, नन्दगोप के लाड़ले लाल गोविन्द को हमारा बारम्बार प्रणाम है। जिनकी नाभि से ब्रह्म का जन्म स्थान कमल प्रकट हुआ है, जो सुन्दर कमलों की माला धारण करते हैं, जिनके नेत्र कमल के समान विशाल और कोमल हैं, जिनके चरण में कमल का चिन्ह है – ऐसे प्रभुपद को नमस्कार है ! ऋषिकेश ! जैसे आपने दुष्ट कंस के द्वारा कैद की हुई और चिरकाल से शोकग्रस्त देवकी की रक्षा की थी, वैसे ही पुत्रों के साथ मेरी भी आपने विपत्तियों से बार–बार रक्षा की। आप सर्वशक्तिमान हैं। जगद्गुरो ! हमारे जीवन में पद–पद पर विपत्तियां आती रहें क्योंकि विपत्तियों में ही निश्चित रूप से आपके दर्शन हुआ करते हैं। आपके दर्शन हो जाने पर फिर जन्म–मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ते। ऊंचे कुल में जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्ति के कारण जिसका घमण्ड बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता, क्योंकि आप तो उन लोगों को दर्शन देते हैं, जो अकिन्चन हैं। आप निर्धनों के परम धन हैं। माया का प्रपन्च तो आपका स्पर्श भी नहीं कर सकता। आप अपने आप में ही बिहार करने वाला परम शान्त स्वरूप है। आप ही कैवल्य मोक्ष के अधिपति हैं।

मैं आपको अनादि, अनन्त, सर्वव्यापक, सबके दु:खहर्ता, कालरूप परमेश्वर समझती हूँ। संसार के समस्त पदार्थ और प्राणी आपस में टकराकर विषमता के कारण परस्पर

विरूद्ध हो रहे हैं। भगवान! आप जब मनुष्यों जैसी लीला करते हैं तब आप क्या करना चाहते हैं ? यह कोई नहीं जानता, आपका कभी न कोई प्रिय है और न अप्रिय। आपके सम्बन्ध में लोगों की बुद्धि ही विषम हुआ करती है। आप विश्व के आत्मा है, विश्वरूप है, न आप जन्म लेते है और न कर्म ही करते हैं। फिर भी पशु, पक्षी, मनुष्य, ऋषि, जलचर आदि में जन्म लेते हैं और उनका योनियों के अनुरूप दिव्य कर्म भी करते हैं। यह आपकी लीला ही है कि आप अजन्मा होकर भी जन्म क्यों लिया ? इसका कारण बतलाते हुए कोई महापुरूष ऐसा कहते हैं कि जैसे मलयाचल की कीर्ति का विस्तार करने के लिये उसमें चन्दन प्रकट होता है, वैसे ही अपने प्रिय भक्त पुण्यलोक राजा यदु की कीर्ति का विस्तार करने के लिये ही आपने उनके वंश में अवतार ग्रहण किया है। दूसरे लोग ऐसा कहते है कि वसुदेव और देवकी ने पूर्व जन्म में (सुतपा और पृश्नि के रूप में) आपसे यही वरदान प्राप्त किया था, इसीलिए आप अजन्मा होते हुए भी जगत् के कल्याण और दैत्यों के नाश के लिये उनके पुत्र बने हैं। कुछ और लोग यो कहते हैं कि यह पृथ्वी दैर्त्यो। के अत्यन्त भार से समुद्र में डूबते हुए, जहाज की तरह डगमगा रही थी। पीड़ित हो रही थी, तब ब्रह्मा की प्रार्थना उसका भार उतारने के लिए ही आप प्रकट हुए। कोई महापुरूष यों कहते हैं कि जो लोग इस संसार में अज्ञान, कामना और कर्मों के बंधन में जकड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं, उन लोगों के लिये श्रवण और स्मरण करने योग्य लीला करने के विचार से आपने अवतार ग्रहण किया।

भक्तजन बार–बार आपके चरित्र का श्रवण और स्मरण करने योग्य लीला करने के विचार से ही आपने अवतार ग्रहण किया है। भक्तजन बार–बार आपको चरित्र का श्रवण, गान, कीर्तन एवं स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं। वे ही अविलम्ब आपके उस चरण कमल का दर्शन कर पाते हैं, जो जन्म मृत्यु के प्रवाह के लिये ही रोक देता है।

भक्तवाम्च्छाकल्पद्रुम ! प्रभो क्या आप अपने आश्रित और सम्बन्धी लोगों को छोड़कर जाना चाहते हैं। आप जानते हैं कि आपके चरण–कमलों के अतिरिक्त हमें और किसी का सहारा नहीं है। पृथ्वी के राजाओं के तो हम यों ही विरोधी हो गये। जैसे जीव के बिना इन्द्रियॉ शक्तिहीन हो जाती है, वैसे ही आपके दर्शन बिना यदुवंशीयों के और हमारे पुत्र पाण्डवों के नाम तथा रूप का अस्तित्व ही क्या रह जायेगा ?

गदाधर ! आपके विलक्षण चरण चिन्हों से चिन्हित यह कुरू जांग्डल देश की भूमि आज जैसी शोभायमान हो रही है वैसे आपके चले जाने के बाद न रहेगी। आपकी दृष्टि

के प्रभाव से ही यह देश पकी हुई फसल तथा लता वृक्षों से समृद्ध हो रहा है। ये वन, पर्वत, नदी और समुद्र भी आपकी दृष्टि से हीं वृद्धि को प्राप्त हो रहे है। आप विश्व के स्वामी है, विश्व के आत्मा हैं और विश्वरूप हैं। यदुवंशियों और पाण्डवों में मेरी बड़ी ममता हो गयी है। आप कृपा करके स्वजनों के साथ जोड़े हुए स्नेह दृढ़ फॉसी को काट दीजिये।

हे प्रभु ! जैसे गंगा की अखण्ड धारा समुद्र में गिरती रहती है, वैसे ही मेरी बुद्धि किसी दूसरी ओर न जाकर आपसे ही निरन्तर प्रेम करती है। श्रीकृष्ण ! अर्जुन के प्यारे सख्याा यदुवंश शिरामणे ! आप पृथ्वी के भाररूप राजवेशधारी दैत्यों को जलाने के लिये अग्नि स्वरूप है। आपकी शक्ति अनन्त है। गोविन्द ! आपका यह अवतार, गौ, ब्राह्मण और देवताओं का दुःख मिटाने के लिये ही है। योगेश्वर ! चराचर भगवन् आपको नमस्कार है। हे योगेश्वर ! जो भगवत् पुराण योगी पुरूष आपमें ध्यान लगाकर भक्तिभाव से वाणी से आपके नाम का कीर्तन करते हुए शरीर का त्याग करते हैं, वे कामनाओं से तथा कर्म के बन्धन से छूट जाते हैं।

आचार्य भीष्म द्वारा प्रतिपादित वैष्णव सिद्धान्त

परमधाम निवासी श्रीकृष्ण साक्षात भगवान है। ये सबके आदि कारण और परम पुरूष नारायण है। अपनी माया से लोगों को मोहित करते हुए लीला कर रहे हैं। इनका प्रभाव अत्यन्त गूढ एवं रहस्यमय हैं, उसे भगवान शंकर, देवर्षि नारद और स्वयं भगवान् कपिल ही जानते हैं।

हे युधिष्ठिर ! जिन्हें तुम अपना ममेश भाई ! प्रिय मित्र और सबसे बड़ा हित मानते हो तथा जिन्हें तुमने प्रेमवश अपना मन्त्री दूत और सारथी तक बनाने में संकोच नहीं किया है, वे स्वयं परमात्मा है। इन सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वितीय, अहंकार सहित और निष्पापा परमात्मा हैं। इन सर्वात्मा, समदर्शी, अद्वितीय, अहंकार सहित और निष्पाप परमात्मा में ऊँचे– नीचे कार्यों के कारण कभी किसी प्रकार की विषमता नहीं होती।

युधिष्ठर ! इस प्रकार सर्वत्र सम होने पर भी अपने अनन्य प्रेमी भक्तों पर पूर्ण कृपा करते हैं। यहीं कारण है कि भगवान् अपने भक्तों को सर्वत्र दर्शन देने के लिये तत्पर रहते हैं।

भगवत्परायण योगी पुरूष भक्तिभाव से इनमें अपना मन लगाकर और वाणी से इनके नाम का कीर्तन करते हुए शरीर का त्याग करते और कामनाओं से तथा कर्म के बन्धन से छूट जाता है। वे ही देवाधिदेव भगवन् अपने प्रसन्न और रक्तकमल के समान अरूण नेत्रों से उल्लसित मुखवाले चतुर्भुज रूप से जिसका और लोगों को केवल ध्यान में दर्शन होता है, सर्वत्र विराजमान हैं। यदुवंश शिरोमणि अनन्त भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में अपने प्रणामान्जलि समर्पित करता हूँ। जो सदा सर्वदा अपने आनन्दमय स्वरूप में स्थित रहते हुए ही कभी बिहार करने की लीला करने की इच्छा से प्रकृति को स्वीकार कर लेते हैं, जिससे यह सृष्टि परम्परा चलती है। जिनका शरीर त्रिभुवन सुन्दर एवं श्याम तमाल के समान सॉवला है, जिस पर सूर्य रश्मियों के समान श्रेष्ठ पीताम्बर लहराता रहता है और कमल सदृश्य मुख पर घुँघराली अलकें लटकती रहती हैं उन अर्जुन सखा श्रीकृष्ण में मेरी निष्कपट प्रीति है।

मुझे युद्ध के समय की उनकी वह विलक्षण छवि याद आती है, उनके मुख पर लहराते हुए घुँघराले बाल घोड़ों की टाप की धूल से मटमैले हो गये थे और पसीने की छोटी–छोटी बूंदें शोभायमान हो रही थी। मैं अपने तीखे वाणों से उनकी त्वचा को बींध

रहा था। उन सुन्दर कवचमण्डित भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति मेरा शरीर, अन्तःकरण और आत्मा समर्पित हो जाये।

अपने मित्र अर्जुन की बात सुनकर, जो तुरन्त ही पाण्डव सेना और कौरव सेवा के बीच में अपना रथ ले आये और वहां स्थित होकर जिन्होंने अपनी दृष्टि से ही शत्रुपक्ष के सैनिकों की आयु छीन ली, उन पार्थसखा, भगवान श्रीकृष्ण में मेरी परम प्रीति हो। अर्जुन ने जब दूर से कौरवों की सेना के मुखिया हम लोगों को देखा, तब पाप समझकर वह अपने स्वजनों के वध से विमुख हो गयां उस समय जिन्होंने गीता के रूप में आत्मविद्या का उपदेश करके उसके सामयिक अज्ञानता का नाश कर दिया, उन परपुरूष भगवान श्रीकृष्ण के चरणों मेरी प्रीति बनी रहे।

मैनें प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं श्रीकृष्ण के शस्त्र ग्रहण कराकर छोड़ूंगा, उसे सत्य एवं ऊंची करने के लिये उन्होनें अपनी शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा तोड़ दी। उस समय वे रथ से नीचे कूद पड़े और सिंह जैसे हाथी को मारने के लिये उस पर टूट पड़ता है, वैसे ही रथ का पहियालेकर मुझपर झपट पड़े। उस समय वे इतने वेग से दौड़े की उनके कन्धे का दुपट्टा गिर गया और पृथ्वी कॉपने लगी। मुझ आततायी ने तीखे वाण मार–मारकर उनके कवच तोड़ दिये, जिससे सारा शरीर लहुलुहान हो गया। अर्जुन के रोकने पर भी वे बल पूर्वक मुझे मारने के लिये मेरी ओर दौड़े आ रहे थे। वे ही भगवान् कृष्ण जो ऐसा करते हुए भी मेरे प्रति अनुग्रह और भक्त वत्सलता से परिपूण्र थे, मेरी एकमात्र गति है। अर्जुन के रथ की रक्षा में सावधान जिन श्रीकृष्ण के बांये हाथ में घोड़े की रास थी और दाहिने हाथ में चाबुक इन दोनों की शोभा से उस समय जिनकी अपूर्व छवि बन गयी थी, तथा महाभारत युद्ध में मरने वाले वीर जिनकी इस छवि का दर्शन करते रहने के कारण सारूप्य मोक्ष को प्राप्त हो गये, उन्ही पार्थ सारथी भगवान् श्रीकृष्ण में मुझ मरणासन्न की परम प्रीति हो। जिनकी ललाट की सुन्दर चाल, हाव–भाव युक्त चेष्टाएं, मधुर मुस्कान और प्रेमभरी चितवन से अत्यन्त सम्मानित गोपियां रासलीला में उनके अन्तर्धान हो जाने पर प्रमोन्माद से मतवाली होकर जिनकी लीलाओं का अनुकरण करते तन्मय हो गयी थी उन्हीं भगवान श्रीकृष्ण में मेरा परम प्रेम है। जिस समय युधिष्ठिर का राजसूर्य यज्ञ हो रहा था, मुनियों और राजाओं से भरी हुई सभा में सबसे पहले सबकी ओर से इन्हीं सबके दर्शनीय भगवान् श्रीकृष्ण को मेरी आंखों के सामने पूजा हुई थी। वे ही सबके आत्मा प्रभु आज इस मृत्यु के समय में सामने खड़े हैं।

जैसे एक ही सूर्य अनेक आंखों से अनेक रूपों में दीखते हैं, वैसे ही अजन्मा भगवान श्रीकृष्ण अपने ही द्वारा रचित अनेक शरीरधारियों के हृदय में अनेक रूप में जान पड़ते हैं, वास्तव में तो वे एक ओर सबके हृदय में विराजमान हैं ही। उन्हीं इन भगवान श्रीकृष्ण को मैं भेद भ्रम से रहित होकर प्राप्त हो गया हूँ।

गजेन्द्र द्वारा प्रतिपादित वैष्णव सिद्धान्त

भगवान सच्चिादानन्द परमधाम विष्णु जो जगत के मूल कारण हैं और सबके हृदय में पुरूष के रूप में विराजमान हैं एवं समस्त जगत के एकमात्र स्वामी हैं जिनके कारण इस संसार में चेतना का विस्तार है – उन ईश्वर को नमस्कार है।

यह संसार उन्हीं में स्थित है, उन्हीं की सत्ता से प्रतीत हो रहा है, कि वे ही इसमें व्याप्त हो रहे हैं और स्वयं वे ही इसके रूप में प्रकट हो रहे हैं, यह सब होने पर भी वे इस संसार और इसके कारण प्रकृति से सर्वथा परे हैं।

1. **यास्मिन्निदं यत्श्चेदं येनेदं य इदं स्वयं।**
   योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम्।।

यह विश्व प्रपन्च उन्हीं की माया से उनमें अध्यस्त है। यह कभी प्रतीत होता है, तो कभी नहीं। परन्तु उनकी दृष्टि ज्यों की त्यों एक सी रहती है। वे इसके साक्षी हैं और उन दोनों को ही देखते रहते हैं। वे सबके मूल हैं और अपने मूल भी वहीं हैं। कोई दूसरा उनका कारण नहीं है। वे ही समस्त कार्य और कारणों से अतीत प्रभु रक्षा करते हैं। प्रलय के समय लोक, लोकापाल और इन सबके कारण हमेशा नष्ट हो जाते हैं। उस समय केवल अत्यन्त धना मेरी रक्षा करें। उनकी लीलाओं का रहस्य जानना बहुत ही कठिन है। वे नट की भांति अनेकों वेष धारण करते हैं। उनके वास्तविक स्वरूप को न तो देवता जानते हैं और न ही ऋषि ही, फिर दूसरा ऐसा प्राणी कौन है जो वहां तक जा सके और उसके सिद्धान्तों को समझ सके।

न उनके जन्म कर्म हैं, और न नाम रूप, फिर उनके सम्बन्ध में गुण–दोष की तो कल्पना कैसे की जा सकती है। फिर भी विश्व की सृष्टि और संहार करने के लिये समय–समय वे अपने माया से स्वीकारते हैं।

1. **न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा न नामरूपे गुणदोष एव वा।**
   तथापि लोकाय्यमसंभवाय यः स्वंमायया तान्यनुकालमृच्छति।।

वे अरूप होने पर भी बहुरूप हैं। उनके कर्म अत्यन्त आश्चर्यमय हैं। स्वयं प्रकाश सबके साक्षी, मन, वाणी, चिन्तन से अत्यन्त दूर हैं।

विवेकी पुरूष कर्म–सन्यास अथवा कर्म समर्पण के द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके जिन्हें प्राप्त करते हैं, तथा जो सवयं तो नित्यमुक्त, परमानन्द एवं ज्ञान स्वरूप हैं ही, दूसरों को कैवल्य मुक्ति देने का सामर्थ्य भी केवल उन्हीं में हैं। जो सत्व, रज, तम

इन तीन गुणों का धर्म स्वीकार करके क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ आस्था भी धार करते हैं।

वह स्वयं ही अपने कारण हैं। पुरूष और मूल प्रकृति के रूप भी वह स्वयं ही हैं समस्त इन्द्रियों और विषयों के द्रष्टा हैं। समस्त प्रतीतियों के आधार है। अंगार आदि छायारूप असत् वस्तुओं के द्वारा आपका ही अस्तित्व प्रकट होता है। समस्त वस्तुओं की सत्ता के रूप में केवल आप ही भास हो रहे हैं। वह परब्रह्म परमेश्वर सबके मूल कारण हैं, उसका कोई कारण नहीं है तथा कारण होने पर भी आपमें विकार या परिणाम नहीं होता इसलिये आप अनोखे कारण है, जैसे समस्त नदी–झरने आदि का परम आश्रय समुद्र है वैसे ही विष्णु, वेद और समस्त शास्त्रों के परम तात्पर्य है मोक्षस्वरूप है, समस्त संतों के आश्रय है। जैसे यज्ञ के काष्ठ अरणि में अग्नि गुप्त रहती है, वह अपने ज्ञान को गुणों की माया से ढका रखा है। गुणों में क्षोभ होने पर उनके द्वारा विविध प्रकार की सृष्टि रचना का संकल्प करते हैं। जो लोग कर्म– सन्यास अथवा कर्म समर्पण के द्वारा आत्मतत्व की भावना करकें वेद–शास्त्रों से ऊपर उठ जाते हैं, उनके आत्मा के रूप में यह स्वयं ही प्रकाशित हो ज़ाते हैं।

जैसे कोई दयालु पुरूष फंदे में पड़े हुए पशु का बन्धन काट दे, वैसे ही भगवान् शरणागतों के फांसी काट देते हैं। वह नित्यमुक्त हैं, परम करूणामय हैं और भक्तों का कल्याण करने में कभी आलस्य नहीं करते। समस्त

1. श्रीमद्भागवत 1/3/8

प्राणियों के हृदय में अपने वंश के द्वारा अन्तरात्मा के रूप में स्वयं उपलब्ध रहते हैं, वह सर्वेश्वर्यवान एवं अनन्त हैं।

जो लोग शरीर, पुत्र, गुरूजन, गृह, सम्पत्ति और खजाने में आसक्त रहता है, उन्हें ईश्वर की प्राप्ति अत्यधिक कठिन है, क्योंकि वह स्वयं गुणों के आसक्ति से रहित हैं।

जीवनयुक्त पुरूष अपने हृदय में ईश्वर का निरन्तर करते रहते हैं, उन सवैश्वर्यपूर्ण ज्ञानस्वरूप ईश्वर को नमस्कार है।

1. **आत्मात्मजाप्तगृहवित्तजनेषु सक्तै,**
   दुष्प्रापणाय गुणसंगविवर्जिताय।
   मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय,
   ज्ञानात्मने भगवते नमः ईश्वराय।।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना से मनुष्य उन्हीं का भजन करके अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं, वे उनको सभी प्रकार का सुख देते हैं और अपने ही जैसा अविनाशी पार्षद शरीर भी देते हैं। वे ही परम दयालु प्रभु मेरा उद्धार करें। वे अविनाशी, सर्वशक्तिमान अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्य हैं, जो अत्यन्त निकट रहने पर भी बहुत दूर जान पड़ते हैं। जो आध्यात्मिक योग अर्थात ज्ञानयोग या भक्तियोग द्वारा प्राप्त होते हैं, वह वन्दनीय हैं।

भगवान विष्णु की अत्यन्त छोटी कला से अनेकों नाम रूप के भेद–भाव से युक्त ब्रह्मा आदि देवता वेद और चराचर लोकों की सृष्टि हुई है, जैसे धधकती हुई आग से लपटें और प्रकाशमान सूर्य से उनकी किरणें बार–बार निकलती और लीन होती रहती हैं, वैसे ही जिन स्वयं प्रकाश परमात्मा से बुद्धि, मन इन्द्रिय और शरीर जो गुणों के प्रवाह रूप है। बार–बार प्रकट होते है तथा लीन हो जाते है, वे भगवान न देवता हैं और न असुर, वे मनुष्य पशु–पक्षी भी नहीं है, न वे स्त्री है और न पुरूष, न नपुंसक। वे कोई साधारण या असाधारण प्राणी भी नहीं है, न वे गुण है और न कर्म न कार्य है और न तो कारण है। सबका निषेध हो जाने पर जो कुछ बच जाता है, वही उनका स्वरूप है ताकि वे ही सब कुछ है।

यह संसार परब्रह्म परमात्मा के शरण में है जो विश्व रहित होने पर भी विश्व के रचयिता और विश्व रूप है, साथ ही जो विश्व की अन्तरात्मा के रूप में विश्व रूप सामग्री से क्रीड़ा भी करते रहते हैं।

योगी लोग योग के द्वारा कर्म, कर्म–वासना और कर्म फलको, भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदय में जिन योगेश्वर भगवान् का साक्षत्कार करते हैं, उन प्रभु को नमस्कार है।

प्रभु की तीन शक्तियों– सत्व, रज और तम के रागादि वेग असदृश्य है। समस्त इन्द्रियों और मन के विषयों के रूप में भी आप ही प्रतीत हो रहे है इसलिये जिनकी इन्द्रियॉ वश में नहीं हैं, वे तो आपकी प्राप्ति का मार्ग भी नहीं पा सकते। आपकी शक्ति अनन्त है, आप शरणागत वत्सल हैं, आपको मैं बार–बार नमस्कार करता हूं। आपकी माया अहंबुद्धि से आत्मा का स्वरूप ढक गया है, इसी से यह जीत अपने स्वरूप को नहीं जान पाता। उन सर्वशक्तिमान एवं माधुर्यनिधि भगवान् की मैं शरण में हूँ।

1. **नायं वेद स्वमात्मानं यच्छक्त्याहंधिया हतम्।**
तं दुरत्ययमाहात्मयं भगवन्तमितो स्म्यहम्।। 1. श्रीमद्भागवत 8/3/29

–:: बलि द्वारा प्रतिपादित वैष्णव सिद्धान्त ::–

भगवान ने असुरराज बलि का बड़ा तिरस्कार किया और उन्हें धैर्य से विचलित करना चाहा, परन्तु वे तनिक भी विचलित नहीं हुए, बड़े धैर्य से बोले देवताओं के आराध्यदेव आपकी कीर्ति बड़ी पवित्र है। क्या आप मेरे बात को असत्य समझते हैं, मैं उसे सत्य करके दिखाता हूँ। आप कृपा करके अपना तीसरा पग मेरे सिर पर रख दीजिये।

मुझे नरक में जाने का अथवा राज्य से च्युत होने का भय नहीं है। मैं पाश में बंधने अथवा अपार दुःख में पड़ने से भी नहीं डरता, मैं डरता हूँ तो केवल अपकीर्ति से।

अपने पूजनीय गुरूजनों के द्वारा दिया हुआ दण्ड तो जीवनमात्र के लिये वान्छनीय है। आप छिपे रूप से अवश्य ही हम असुरों को श्रेष्ठ शिक्षा दिया करते हैं, अतः आप हमारे गुरू है। जब हम लोग धन, कुलीनता, बल आदि के मद से अंधे हो जाते हैं, तब आप हमसे उन वस्तुओं को हमसे छीनकर हमें नेत्रदान करते हैं। आपके द्वारा जो उपकार होता है वह अवर्णनीय है, अनन्य भाव से योग करने वाले, योगीगण जो सिद्ध प्राप्त करते हैं वहीं सिद्धि बहुत से असुरों को आप के साथ दृढ़ वैरभाव करने से ही प्राप्त हो गई है। जिनकी महिमा ऐसी अनन्त लीलाऐं हैं, वहीं आप मुझे दण्ड दे रहे हैं, इसकी न तो मुझे लज्जा है और न व्यथा। मेरे पितामह प्रह्लाद जी की कीर्ति सारे जगत में प्रसिद्ध है। वे आपके भक्तों में श्रेष्ठ माने गये हैं। उनके पिता हिरण्यकश्यप ने आप से वैर विरोध रखने के कारण उन्हें अनेकों प्रकार के दुःख दिये, परन्तु वे आपके ही परायण रहे, उन्होंने अपना जीवन आप पर ही न्यौछावर कर दिया। उन्होंने यह निश्चय किया कि शरीर को लेकर क्या करना है, जब यह एक न एक दिन साथ छोड़ ही देता है। जो धन–सम्पत्ति लेने के लिये स्वजन बने हुए हैं। पत्नी से भी क्या लाभ, जब वह जन्म–मृत्यु रूप संसार के चक्र में डालने वाली है। जब मर ही जाना है, तब घर से मोह करने में भी क्या स्वार्थ है। इन सब वस्तुओं में उलझ जाना तो केवल अपनी आयु खो देना है। अतः आपके ही भय रहित एवं अविनाशी चरणकमलों की शरण ग्रहण की थी। क्यों न हो, वे संसार से परम विरक्त, अगाध बोधसम्पन्न उदारहृदय एवं संशिरोमणि जो है।

राजाबलि की परम् साध्वी पत्नी विन्यावती ने अपने पति को बंधा देखकर भयभीत हो भगवान के चरणों में प्रणाम किया और हाथ जोड़ वह भगवान से बोली। प्रभो! आपने क्रीड़ा के लिये ही सम्पूर्ण जगत की रचना की है। जो लोग कुबुद्धि हैं, वे ही अपने को

इसका स्वामी मानते हैं। जब आप ही इसके कर्ता, भर्ता और सहर्ता है, तब आपकी माया से मोहित होकर अपने को झूठमूठ कर्ता मानने वाला निर्लज्ज आपको समर्पण क्या करेगा?

1. **क्रीडार्थमात्मानं इदं त्रिजगत् कृतं ते,**
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति,
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपित कर्तृ वादाः।।

भगवान परमानन्द विष्णु! ने आनन्दित होकर कहा— मैं जिस पर कृपा करता हूं, उसका धन छीन लिया करता हूँ, क्योंकि जब मनुष्य धन के मद से मतवाला हो जाता है, तब मेरा और लोगों का तिरस्कार करने लगता है। यह जीव विवश होकर अपने कर्मो के कारण अनेक योनियों में भटकता रहता है। जब कभी मेरी बड़ी कृपा से मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है। मनुष्य योनि में जन्म लेकर यदि कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धन आदि के कारण घमण्ड न हो जाये तो समझना चाहिये कि मेरी बड़ी ही कृपा है। कुलीनता आदि बहुत ऐसे कारण है, जो अभिमान और जड़ता आदि उत्पन्न करके मनुष्य को कल्याण के समस्त साधनों से वंचित कर देते हैं, परन्तु जो मेरे शरणागत होते हैं, वे इनसे मोहित नहीं होते। यह बलि दैत्य और दानव दोनों ही वंशों में अग्रगण्य और उनकी कीर्ति बढ़ाने वाला है। इसने उस माया पर विजय प्राप्त कर ली है, जिसे जीतना अत्यन्त कठिन है। तुम देख ही रहे हो, इतना दुःख भोगने पर भी यह मोहित नहीं हुआ। मैंने इससे छलभरी बातें की, मन में छल रखकर धर्म का उपदेश किया, परन्तु इस सत्यवादी ने अपना धर्म नहीं छोड़ा।

अतः इसे वह स्थान मिला जो बड़े—बड़े देवताओं को बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है। सर्वाणि मन्वन्तर में यह मेरा परमभक्त इन्द्र होगा। बलि को सम्बोधित कर महाराज इन्द्रसेन ! तुम्हारा कल्याण हो अब तुम अपने भाई—बन्धुओं को साथ लेकर उस सुतलोक में जाओ जिसे स्वर्ग के देवता भी चाहते हैं।

यह सुनकर हाथ जोड़कर गदगद वाणी से भगवान से कहने लगा—प्रभो ! मैनें तो आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, केवल प्रणाम करने मात्र की चेष्टाभर की, उसी से मुझे वह फल मिला। जो आपके चरणों के शरणागत भक्तों को प्राप्त होता है। बड़े—बड़े लोकपाल और देवताओं पर आपने जो कृपा कभी नहीं की, वह मुझ जैसे नीच असुरों को

सहज ही प्राप्त हो गई हैं। यों कहते ही बलि वरूण के पाश से मुक्त हो गये, तब उन्होनें भगवान को प्रणाम किया और इसके बाद बड़ी प्रसन्नता से असुरों के साथ सुतलोक की यात्रा करते हुए वन्दना की। शरणागतवत्सल प्रभो! ब्रह्मा आदि लोकपाल आपके चरण–कमलों का मकरन्द रस सेवन करने के कारण सृष्टि रचना की, शक्ति आदि अनेक विभूतियां प्राप्त करते हैं। हम लोग तो जनम से ही, खल और कुमार्गगामी है, हम पर आपकी ऐसी अनुग्रहपूर्ण दृष्टि हो गयी। आपने अपने योगमाया से खेल ही खेल में त्रिभुवन की रचना कर दी। आप सर्वज्ञ, सर्वात्मा और समदर्शी है, फिर भी आपकी लीलाएं बड़ी विलक्षण जान पड़ती है। आपका स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है, क्योंकि आप अपने भक्तों से अत्यन्त प्रेम करते हैं, इससे कभी–कभी उपासकों के प्रति पक्षपात और विमुखों के प्रति निर्दयता भी आप में देखी जाती है।

भगवन! जिसने अपना समस्त कर्म समर्पित करके सब प्रकार से यज्ञेश्वर यज्ञपुरूष आपकी पूजा की है, उनके कर्म में कोई त्रुटि विषमता कैसे रह सकती है। क्योंकि मन्त्रों के अनुष्ठान पद्धति देश काल पात्र और वस्तु की सारी भूलें आपके नाममात्र संकीर्तन से सुधर जाती हैं, आपका नाम सारी त्रुटियों को पूर्ण कर देता है।

भगवान विष्णु के अवतारों की दार्शनिक व्याख्या

श्रीमद्भागवत अथवा वैष्णव सम्प्रदाय की सबसे विशिष्ट देन है। *विभववाद अर्थात अवतारवाद*। भागवत में अवतारवाद का बीज उत्तर वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। भगवान का मनुष्य अथवा पशु के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण होना और यहाँ अपने उद्देश्य की पूर्ति तक निवास करना 'अवतार' कहलाता है। अवतार तीन प्रकार के होते हैं। **पूर्णावतार, आवेशावतार और अंशावतार।**

पूर्णावतार का प्रतिनिधित्व राम और कृष्ण करते हैं, जो सम्पूर्ण जीवन के लिये पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर कार्य सम्पादन किये।

आवेशावतार के रूप में परशुराम हैं जो मदोन्मन्त क्षत्रियों के मद का विनाश करने के लिये ही अवतीर्ण हुए और इस कार्य के सम्पादित होने के पश्चात् अपनी भागवती शक्ति श्रीराम को समर्पित कर तपस्या करने महेन्द्र पर्वत पर चले गये।

विष्णु के आयुध, शंख, चक्र आदि जब भगवान के आदेश से मनुष्य जन्म लेकर पृथ्वी पर साधु–संत के रूप में अपने दैनिक कार्य को पूरा करते हैं, तो वे अंशावतार कहे जाते हैं।

अवतारवाद का प्राचीनतम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्ररीय संहिता में मिलता है। जहां कहा गया है कि सृष्टि के हित के लिए विभिन्न अवसरों पर प्रजापति ने मत्स्य, कर्म और वराह रूप धारण किये। अवतार सम्बन्धी भारतीय अभिव्यक्ति भगवद्गीता में हुई है–

यदा–यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतम्।
अभ्युत्यानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे–युगे।।

–: विष्णु के स्वरूपों की संख्या :–

विष्णु के स्वरूपों की संख्या और सूची हमें महाभारत के प्राचीन भाग में नहीं मिलती किन्तु उसके नारायणीय अंश में एक जगह केवल चार अवतार गिनाये गये हैं– वराह, वामन, नृसिंह और वासुदेव कृष्ण। दूसरी जगह राम, भार्गव तथा रामदाशरथि कोक जोड़कर छैः कहे गये हैं और वहीं तीसरी जगह ह्वंश, कूर्म, मत्स्य और कल्कि को जोड़कर संख्या दस कर दी गयी है।

हरिवंश पुराण में महाभारत की पहली सूची के छैः अवतारों का उल्लेख है। वायुपुराण में पहले बारह अवतारों का उल्लेख है। जिनमें कुछ शिव और इन्द्र के अवतारों से प्रतीत होते हैं और फिर दूसरे स्थल पर इनकी संख्या दस कर दी गई है, जिनमें दत्तात्रेय और वेद व्यास भी सम्मिलित हैं। भागवत् पुराण में अवतारों की तीन सूचियां तीन भिन्न स्थलों पर मिलती हैं।

पहली सूची में इनकी संख्या 22, दूसरी में 23 और तीसरी में 16 हैं। पहली सूची के नाम इस प्रकार हैं पुरूष, वराह, नर–नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, भार्गव राम, वेदव्यास, दाशरथि राम बलराम, कृष्ण और बुद्ध एवं कल्कि।

पुराणकार ने इस बात पर अधिक बल दिया कि भगवान् के असंख्य अवतार हुआ करते हैं– (अवताराः हजसंख्येयाः हरेः) अन्य दो सूचियों में इस सूची से कोई विशेष अन्तर नहीं है, अन्तिम सूची में केवल कुछ नाम छोड़ दिये गये हैं, किन्तु किसी भी सूची में ऋषभ (प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ) और बुद्ध के नाम नहीं छूटे हैं।

बारह पुराणों में दस अवतारों की सर्वमान्य सूची मिलती हैं और अग्निपुराण में भी यहीं दशावतार सूची स्वीकृत है किन्तु मत्स्य पुराण में केवल सात अवतारों का उल्लेख हुआ है किन्तु बाद में चलकर विष्णु के मुख्य दस अवतारों को ही कला में अभिव्यक्त किया गया है और ये ही निम्नलिखित दशावतार प्रायः सर्वमान्य हैं।

1. मत्स्य, 2. कूर्म, 3. वराह, 4. नृसिंह, 5. वामन, 6. परशुराम, 7. राम, 8. कृष्ण, 9. बुद्ध, 10. कल्कि। कुछ शास्त्र बुद्ध को अवतार न मानकर, उनके स्थान पर कृष्ण के बड़े भ्राता बलराम को अवतार मानते हैं।

भारतवर्ष के साथ–साथ विश्व में भी परसत्ता के अवतार ग्रहण करने की मान्यता की जड़े गहरी मिलती हैं। वास्तव में इन अवतारों में विश्व के विकास का रहस्य छिपा प्रतीत होता है।

प्रथम चार अवतारों में जगद्–रचना की सूचना निहित है। सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वत्र जल ही जल था। अतः जगत के विकास में मत्स्य ही प्रथम जीव तथा जन्तु था जिसने प्राणियों की रचना का प्रतिनिधित्व किया। मत्स्यावतार सृष्टि के इसी विकास का प्रतीक है। जल के पश्चात् पर्वतों का उदय हुआ जिसका प्रतीक कूर्म हैं। पर्वतीय प्रदेशों

को कूर्मस्थान भी कहा जाता है। अतः सृष्टि के विकास का यह द्वितीय सोपान कूर्मावतार में निहित है। सागर मन्थन का पौराणिक आख्यान जगत के उस विकास का सूचक है, जब जल से भूमि का उदय हो रहा था। जल से भूमि के इस उदय हाने में सृष्टि विकास के तृतीय सोपान का मर्म छिपा है, जो वराहवतार ने सम्पन्न किया। इसी प्रकार नृसिंहवतार में मानव—पशु के विकास की गाथा पढ़ी जा सकती है।

मत्स्यावतार मानव की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है, और कूर्म तथा वराह अर्ध विकसित अवस्था का प्रतीक है। नरसिंह तथा वामन अवतार गुफाओं तथा जंगलों में रहने वाले असभ्य एवं अर्धसभ्य जातियों का प्रतीक है। राम तथा कृष्ण नगर में रहने वाली सभ्य एवं पूर्ण विकसित अवस्था को प्रकट करते हैं।

ईश्वर का अवतार के साथ—साथ विकास की भी सभ्यता कुछ इस प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं। जैसे—

	विशेषता	अवतार
1.	जीव सर्वप्रथम जल में उत्पन्न हुआ। जीवन का पहला विकास जल जीव थे, मुख्यतः मत्स्य।	मत्स्य
2.	जल—स्थल दोनों में रह सकने वाले जीव— कछुआ, मगर, कैकड़े आदि।	कूर्म
3.	जल का संसर्ग त्यागकर स्थल पर रहने वाले जीव— वराह, हिरन, अश्व इत्यादि चतुष्पाद जीव।	वराह
4.	वे पशु जो दो पैरों पर चलने का प्रयास करने लगे जैसे— बंदर, कंगारू, रीक्ष इत्यादि।	नृसिंह (जिनके पैर मनुष्य के थे)
5.	अविकसित मानव।	वामन
6.	शारीरिक दृष्टि से विकसित होकर जब उसमें बुद्धि का विकास प्रारम्भ, जबकि वह क्रूर तथा असभ्य था।	परशुराम
7.	मस्तिष्क तथा मानवीय गुणों का जैसे— सहिष्णुता, प्रेम, धार्मिक उत्साह, दया आदि के विकास से युक्त।	राम
8.	मस्तिष्क का पूर्ण विकास, राजनीति, दर्शन, कला आदि का पूरा विकास।	कृष्ण
9.	एक मात्र बुद्धिवादी	बुद्धा

10. पूर्ण विकसित मनुष्य भविष्य में होगा। कल्कि

इस प्रकार ईश्वर के अवतार के साथ–साथ विकास की सभ्यता दृष्टिगोचर होते हैं।

1. **एतन्नानावताराणां निधानं बाजमब्ययम्।**
यस्यंशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यउनरादयः,
स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमास्थितिः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यम खाणितम्।।

श्री सनकादि के रूप में भगवान विष्णु का कल्याणकारी रूप

सृष्टि के प्रारम्भ काल में लोक पितामह ब्रह्माजी ने अपने लोकों की रचना हेतु तपस्या की। विश्वपितामह के अखण्ड तप के प्रभाव से प्रसन्न होकर विश्वाधार भगवान् विष्णु ने महान् तपस्वी सन् नाम वाले सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार– इन निवृत्तिपरायण ऊर्ध्वरेता मुनियों के रूप में अवतार धारण किया। वे प्रकट होते ही मोक्षमार्गपरायण भगवान् के ध्यान में लगे रहने वाले सर्वदा विरक्त वा नित्य सिद्धस्वरूप थे। उन्होनें ब्रह्माजी के सृष्टि विस्तार की आज्ञा को स्वीकार नहीं किया। लोक पितामह ब्रह्माजी के आद्यपुत्र, मानसपुत्र और देवताओं से भी पूर्व उत्पन्न होने वाले उन सनकादि के मन में किसी भी प्रकार की कोई आसक्ति नहीं थी। वे प्रायः आकाश मार्ग में ही विचरण करते थे। एक समय में वे श्री भगवान् के वैकुण्ठधाम में गये। वैकुण्ठधाम में रहने वाले सब ही शुद्ध, पवित्र–सत्वमय, चतुर्भुज पीत वस्त्र धारण किये हुए रहते हैं। श्री भगवान् के दर्शनों की उत्कण्ठा से सनकादि वैकुण्ठ की दिव्य, दुर्लभ, दिव्य दर्शनीय वस्तुओं की उपेक्षा करते हुए पॉच ड्योढियों को पार करते हुए छठी ड्योढी के आगे बढ़ रहे थे, उस समय भगवान् के पार्षद जय और विजय ने उन पांच वर्ष के जैसी अवस्था दिखायी देने वाले दिगम्बर तेजस्वी कुमारों की हंसी उड़ाते हुए उन्हें आगे जाने से रोक दिया। भगवान् के दर्शन होने में व्यवधान होने के कारण सनकादि ने उन्हें दैव्यकुल में जन्म लेने का शाप दे दिया। अपने प्राणप्रिय तथा अभिन्न सनकादि कुमारों के अनादर का समाचार सुनकर वैकुण्ठनाथ श्रीहरि तत्क्षण ही वहॉ पहुॅच गये। भगवान श्रीहरि की अद्भुत, अलौकिक एवं दिव्य सौन्दर्यराशि के दर्शन कर सर्वथा विरक्त सनकादि कुमार चकित हो गये। वे अपलक नेत्रों से प्रभु की ओर निहारने लगे। उनका हृदय

आनन्द–सिन्धु उच्छलित हो रहा था। उन्होनें वनमाला से सुशोभित श्री लक्ष्मीपति भगवान विष्णु की अनेक प्रकार से स्तुति करते हुए कहा–

1. **योऽर्हितो दृदि गतोऽपि दुरात्मानां त्वं।**
साहद्यैव नौ नयनमूलमनन्तः राद्धः।।
यहर्येव कर्ण विवरेण गुहां गतो नः।
पित्तानुवर्णितरहा भवदुभवेन।।

अनन्त ! यद्यपि आप अन्तर्यामी दुष्टचित्त पुरूषों के हृदय में भी स्थित रहते हैं, तथापि उनकी दृष्टि से ओझल ही रहते हैं किन्तु आज हमारे नेत्रों के सामने तो आप साक्षात विराजमान है प्रभो ! जिस समय आपसे उत्पन्न हुए हमारे पिता ब्रह्माजी ने आपका रहस्य वर्णन किया था। उसी समय श्रवण रन्ध्रों द्वारा हमारी बुद्धि में तो आप आ विराजते थे किन्तु प्रत्यक्ष दर्शन का महान सौभाग्य तो हमें आज ही प्राप्त हुआ है।

1. **प्रादुश्चकर्म यदिदं पुरूहूतरूपं,**
तेनेश निर्वृत्रिमवापुरलं कृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नमः इद्विधेम,
योनात्मनां दुरूपयो भगवान् प्रीतः।।

विपुलकीर्ति प्रभो ! आपने हमारे सामने जो यह मनोहर रूप प्रकट किया है। उससे हमारे नेत्रों को बड़ा ही सुख मिला है। विषयासक्त अजितेन्द्रिय पुरूषों के लिये इसका दृष्टिगोचर होना अत्यन्त कठिन है। आप साक्षात् भगवान् हैं और इस प्रकार स्पष्टतया हमारे नेत्रों के सामने प्रकट हुए हैं। हम आपको प्रणाम करते हैं।

सनकादि की स्तुति सुनने के पश्चात् श्रीभगवान् हरि ने अत्यन्त मधुरवाणी में कहा– ब्राह्मणों की पवित्र चरण–रज को मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूँ। जय–विजय ने मेरा अभिप्राय न समझकर आप लोगों का अपमान किया है, इस कारण आपने इन्हें दण्ड देकर सर्वथा उचित ही किया है। लोकों के उद्धार करने हेतु पर्यटन करने वाले, सरलता व करूणा की पूर्ति सनकादि कुमारों ने भगवान श्रीहरि की वाणी को सुनकर उनसे अत्यन्त विनीत स्वर में कहा– सर्वेश्वर ! इन द्वारपालों को आप जैसा उचित समझे वैसा ही दण्ड दें अथवा पुरस्कार रूप में इनकी वृत्ति बढ़ा दें, हम निष्कपट भाव से सब प्रकार से आपसे सहमत हैं। हमने आपके इन निरपराध अनुचरों को शाप

दिया है, इसके लिये हमें उचित दण्ड दें। हमें वह भी सहर्ष स्वीकार है, यह सुनकर श्रीभगवान हरि ने कहा–

2. **एतौ सुरेतरगतिं प्रतिपद्य सद्श्यः।**
संरम्भ संभृत समाध्यनुबद्धयौ गौ।।
भयूयः सकाशमुपयास्यत आशु योवः।
शापो मयैव निमित्तस्तदैवत प्रियाः।।

मुनिगण ! आपने जो इन्हें शाप दिया है– सच मानिये वह मेरी प्रेरणा से ही हुआ है। अब ये शीघ्र ही दैत्य योनि को प्राप्त होंगे और वहां क्रोधावेश से बढ़ी हुई एकाग्रता के कारण सुदृढ़ योग सम्पन्न होकर फिर जल्दी ही मेरे पास लौट आयेंगे।

यह सुनने के पश्चात् सनकादि ने सर्वांग सुन्दर भगवान् विष्णु और उनके धाम का दर्शन किया। प्रभु की परिक्रमा कर उनका गुणगान करते हुए चारों कुमार वहां से लौट गये। जय–विजय इनके शाप से तीन जन्मों तक क्रमशः हिरण्यकशिपु – हिरण्याक्ष, रावण – कुम्भकर्ण और शिशुपाल – दन्तवक्त हुए।

उस समय जब भगवान के अंशावतार महाराज पृथु के समीप पहुंचे तब उन्होंने अपना अहोभाग्य मानते हुए उनकी विधिपूर्वक पूजा की और उनका चरणोदक अपने मस्तक पर धारण किया। उनको रत्नजड़ित सोने के सिंहासन पर बैठाकर हाथ जोड़कर विनय सहित निवेदन किया मुनिश्वरों ! आपके दर्शन तो योगियों को भी दुर्लभ हैं, मुझसे ऐसा क्या पुण्य बना है, जिसके फलस्वरूप मुझे स्वतः आपका दर्शन प्राप्त हुआ ? इस लौकिक संसार के दृश्य प्रपन्च में फंसे रहने के कारण मनुष्य अपनी सर्वसाक्षी आत्मा को नहीं देख सकते, इसी प्रकार यद्यपि आप समस्त लोकों में विचरते हैं तो भी अनाधिकारी लोग आपको नहीं देख पाते। अपने अहोभाग्य की प्रशंसा करते हुए उन्होनें अत्यन्त आदरपूर्वक विनम्र शब्दों में कहा– आप संसार के दुःखों से संतप्त जीवों के परम हितकारी हैं इसलिये मैं आपसे यह पूंछना चाहता हूँ कि इस संसार में मनुष्य का किस प्रकार सरलता से कल्याण हो सकता है।

भगवान सनकादि ने आदिराज पृथु का ऐसा प्रश्न सुनकर उनकी बुद्धि की प्रशंसा की और उन्हें विस्तारपूर्वक कल्याण का उपदेश देते हुए कहा– धन और इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करना मनुष्य के सभी पुरूषार्थों का नाश करने वाला है, क्योंकि इनकी चिन्ता से वह ज्ञान और विज्ञान से भ्रष्ट होकर वृक्षादि स्थावर योनियों में जन्म पाता है,

इसलिये जिसे अज्ञानान्धकार से पार होने की इच्छा हो, उस पुरुषों को विषयों में आसक्ति कभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति में बड़ी बाधक है। जो मनुष्य श्मन और इन्द्रियरूप मगरमच्छों से घिरे हुए इस संसार–सागर से पार पाना कठिन है, क्योंकि उन्हें कर्णधार रूप श्रीहरि का आश्रय नहीं है। अतः तुम तो भगवान् के आराधनीय चरण–कमलों को ही नौका बनाकर अनायास ही इस दुस्तरत् दुःख–समुद्र को पार कर लो।

भगवान सनकादि के इस अमृतमय आदेश सुनकर आनन्दमय होकर आदिराज पृथु ने उनकी स्तुति करते हुए पुनः उनकी श्रृद्धा भक्ति पूर्वक और सविधि पूजा की।

ऋषिगण प्रलय के कारण पहले कल्प का आत्मज्ञान भूल गये थे। श्री भगवान् ने अपने इस अवतार में उन्हें भी यथोचित उपदेश किया, जिससे उन लोगों ने शीघ्र ही अपने ह्रदय में उस तत्व का साक्षात्कार कर लिया।

नारद जी को इन्होंने श्रीमद्भागवत का उपदेश किया था। ये सनकादि प्रमुख रूप से, योगवेत्ता, सांख्यज्ञान, विशारद, धर्मशास्त्रों के आचार्य तथा मोक्ष धर्म के प्रर्वतक है। प्राणि मात्र के लिये सच्चे शुभाकांछी है और अपने योगबल, विद्याओं तथा परिःशरणम् मन्त्र के जप प्रभाव से सर्वदा पांच वर्ष के ही कुमार बने।

चतुर्थ अध्याय

विष्णु के वाराह अवतार की दार्शनिक व्याख्या

1. **द्वितीयं तु भवायास्य रसातलगतां महिम्,**

उद्धरिष्यन्नपादत्र यज्ञेशः साकरं वपुः।।

भगवत महापुराण के अनुसार– श्री भगवान हरि ने सनकादि के शाप का फल पाने के लिये जय–विजय को मर्त्यलोक में जाने की आज्ञा दे दी। ये जय–विजय पार्षद प्रजापति कश्यप जी के वीर्य द्वारा दिति के गर्भ में स्थापित हो गये और उन्होंने दिति के गर्भ से दोनों यमज (जुड़वॉ) पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण किया। जो पहले जन्मा उसका नाम ''हिरण्यकशिपु'' तथा जो बाद में जन्मा उसका नाम ''हिरण्याक्ष'' रखा गया। वे दोनों दैत्य जन्म लेते ही पर्वताकार एवं पराक्रमी हो गये। अन्तरिक्ष में अन्धेरा छा गया और बिजली चमकने लगी, पृथ्वी और पर्वत कांपने लगे, भयानक आंधी आने लगी। सर्वत्र अमंगल सूचक शब्द तथा प्रलयकारी दृश्य दृष्टिगोचर होने लगे। सनकादि के अतिरिक्त सभी जीव भयभीत हो गये। संसार में प्रलय होने जैसी स्थिति हो गई।

हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष दोनों भाइयों में बड़ी प्रीति थी। दोनों ही एक दूसरे को प्राणाधिक स्नेह करते थे। दोनों ही महाबलशाली, अमित, पराक्रमी एवं उद्दत थे। वे अपने सम्मुख किसी को कुछ नहीं समझते थे। हिरण्याक्ष ने अपनी विशाल गदा कन्धे पर रखी और स्वर्ग में जा पहुंचा। इन्द्रादि देवताओं के लिये उसका सामना करना सम्भव नहीं था और सब भयभीत होकर छिप गये। निराश हिरण्याक्ष अपने प्रतिपक्षी को ढूंढने लगा, किन्तु उसके सम्मुख को टिक नहीं पाता था।

एक बार उसने विचार किया कि मृत्युलोक में रहने वाला पुरूष पृथ्वी पर रहकर देवताओं का यजन करेंगे, इससे उनका बल, वीर्य और तेज बढ़ जायेगा। यह सोचकर हिरण्याक्ष असुर, ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि रचना की जाने पर उसे धारण करने की भूमि में जो धारणा शक्ति थी, उसे ले जाकर जल के अन्दर ही अन्दर रसालय में चला गया, आधार शक्ति से हित होकर पृथ्वी रसातल में चली गई।

मदोन्मत हिरण्याक्ष ने देखा कि उसके तेज के सम्मुख सभी देवता छिप गये हैं, तब वह महाबलवान दैत्य जलक्रीड़ा के लिये गम्भीर समुद्र में घुस गया। उसको देखते ही वरूण के सैनिक जलचर भयभीत होकर दूर भाग गये, वहां भी वह किसी को न

---

1. श्रीमद्भागवत 1/3/7

पाकर समुद्र के ऊपर रहने वाली तरंगों पर ही वह अपनी गदा पटकने लगा। इस प्रकार अपने प्रतिपक्षियों को ढूंढते हुए वह वरूण की राजधानी विभावरीपुरी में जा पहुंचा। वहां वरूण देवता को बड़ी अभिष्टता से व्यंग्य करते हुए प्रणाम करते हुए कहा आपने कितने ही पराक्रमियों के वीर्यमद को चूर्ण किया है। एक बार तो आपने सम्पूर्ण दैत्यों को पराजित किर राजसूय यज्ञ भी किया था।

कृपया अब मेरी युद्ध की क्षुधा का निवारण करने के लिए मुझे युद्ध की भिक्षा दे दीजिये।

उन्मत पराक्रमी शत्रु के ऐसे व्यंग्य सहित वाक्यों को सुनकर वरूणदेव क्रुद्ध तो बहुत हुए एक प्रबल दैत्य को देखकर उन्होनें कहा भाई अब तो मेरी युद्ध करने की इच्छा नहीं है। मेरी दृष्टि में श्री भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई योद्धा नहीं दिखाई देता, जो तुम्हारे जैसा वीर पुंगव को सन्तुष्ट कर सके। तुम उन्हीं के पास जाओ, उनसे भिड़ने पर तुम्हारा अंहकार शांत हो जायेगा। वे तुम जैसे दैत्यों के संहार के लिये अनेक अवतार ग्रहण किया करते हैं।

पितामह ब्रह्मा जी ने विश्व विस्तार विषय में विचार किया, वे देख चुके थे कि मरीचि आदि महान् शक्तिशाली ऋषियों से भी सृष्टि का अधिक विस्तार नहीं हुआ, अतः वे मन ही मन पुनः चिन्ता करने लगे– अहो बड़ा आश्चर्य है मेरे निरंतर प्रयत्न करने पर भी प्रजा की वृद्धि नहीं हो रही है, ज्ञात होता है इसमें देव ही कुछ विघ्न डाल रहे हैं। जिस समय यथोचित क्रिया करने वाले ब्रह्मा जी इस प्रकार देव के विषय में विचार कर रहे थे उसी समय अकस्मात् उनके शरीर के दो भाग हो गये। ''क'' ब्रह्माजी का नाम है, उन्हीं से विभक्त होने के कारण शरीर को ''काय'' कहते हैं। उन दोनों विभागों से स्त्री–पुरूष का जोड़ा प्रकट हुआ।

उनमें जो पुरूष था, वह सार्वभौम सम्राट स्वायम्भुव मनु हुए और जो स्त्री थी, वह उनकी महारानी शतरूपा हुई।

यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट्र।
स्त्री याऽऽसीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः।।

पितामह ब्रह्माजी के एक भाग से नर हुआ और दूसरे भाग से नारी। ब्रह्माजी उनको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। नर की ओर देखकर उन्होंने कहा मेरे मन के अनुरूप होने के कारण तुम्हारा नाम ''मनु'' होगा ओर मुझे स्वयम्भू के पुत्र होने से तुम

"स्वायम्भुव" नाम से विख्यात होगें। तुम्हारे पास में अपने शत्–शत् रूपों से मन को आकृष्ट करने वाली जो सुन्दरी खड़ी है, यह शतरूपा नाम से प्रसिद्ध होगी। तुम पति और यह तुम्हारी पत्नि होगी। मेरे आधे अंग से बनने के कारण यह तुम्हारी अर्द्धांग्नि होगी। तुम्हारे मध्य धर्म स्थिति है, इसे साक्षी देकर तुम इसे सहधर्मिणी बना लो। तुम्हारे वंशज मनुष्य कहलायेंगे।

स्वायम्भुव मनु ने अपने पिता ब्रह्माजी के सामने हाथ जोड़कर अत्यन्त विनयपूर्वक कहा– भगवन! एक मात्र आप ही सम्पूर्ण प्राणियों के जीवनदाता है और आप ही सबको जीविका प्रदान करने वाले पिता हैं। हम ऐसा कौन सा उत्तम कार्य करें, जिससे आप सन्तुष्ट हों और लोक में हमारे यश का विस्तार हो।

स्वायम्भुव, मनु की विनय को सुनकर ब्रह्माजी ने कहा–

1. **प्रीतस्तुम्यमहं तात स्वस्ति स्ताद्वां क्षितीस्वर।**
   यन्निर्व्यलोकेन हृदा शाधि मेध्यात्मनार्पितम्।।

तात, पृथ्वीपते तुम दोनों का कल्याण हो। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, क्योंकि तुमने निष्कपट भाव से "मुझे आज्ञा दीजिये यों कहकर मुझे आत्मसमर्पण किया है।

वीर ! पुत्रों को अपने पिता की इसी रूप में पूजा करनी चाहिये। उन्हें उचित है कि दूसरों के प्रति ईर्श्या का भाव न रखकर जहाँ तक हो सके उनकी आज्ञा का पालन करें। तुम अपनी इस भार्या से अपने ही समान गुणवती सन्नति उत्पन्न करके धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करों राजन्! प्रजापालन से मेरी बड़ी सेवा होगी और तुम्हें प्रजापालन करते देखकर भगवान श्री हरि भी तुमसे प्रसन्न होंगे। जिन पर यज्ञपूर्ति जनार्दन भगवान प्रसन्न नहीं होते, उनका सारा श्रम व्यर्थ ही होता है, क्योंकि वे तो एक प्रकार से अपनी आत्मा का ही अनादर करते हैं। मनु ने कहा–

2. **आदेशेऽहं भगवतो वर्तेयामीवसूदन।**
   स्थानं त्विहानुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो।।
   यदोकः सर्वसत्वानां मही भग्नां महाम्मामि।
   अस्या उद्धरणे यत्नो देव देव्या विधीयताम्।।

पाप का नाश करने वाले पिताजी, मैं आपकी आज्ञा का पालन अवश्य करूंगा, किन्तु आप इस जगत में मेरे और भावी प्रजा के रहने के लिये स्थान बतलाइये। देव !

सब जीवों का निवास–स्थान पृथ्वी इस समय प्रलय के जल में डूबी हुई है। आप इस देवी का उद्धार का प्रयत्न कीजिए।

पृथ्वी को इस प्रकार अथाह जल में डूबी हुई देखकर ब्रह्माजी बहुत देर तक मन में यह सोचते रहे कि "इसको कैसे निकालूँ" जिस समय मैं लोक रचना में लगा हुआ था, उस समय पृथ्वी जल में डूब जाने से रसातल को चली गयी। हम लोग सृष्टिकार्य में नियुक्त हैं, अतः इसके लिये हमें क्या करना चाहिये। अब तो जिनके संकल्प मात्र से मेरा जन्म हुआ है, वे सर्वशक्तिमान श्री भगवान् विष्णु ही मेरा यह कार्य पूरा करें।

1. **इत्यभिध्यायतो नासेविपरात्सहसानघ।**
वराहोतको निरगादड, गुष्ट परिमाणकः।।

ब्रह्माजी इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि उनके नाशाछिद्र से अकस्मात् अंगूठे के बराबर आकार का एक बराह–शिशु निकला।

बड़े आश्चर्य की बात तो यही हुई की, आकाश में खड़ा हुआ वह वराह शिशु ब्रह्माजी के देखते–देखते ही क्षण भर में हाथी के बराबर हो गये। उस विशाल वराह मूर्ति को देखकर मरीचि, सनकादि और स्वायम्भुव मनु सहित ब्रह्माजी अनेक प्रकार से विचार कर रहे थे। अहो ! शूकर के रूप में यह कौन दिव्य प्राणी प्रकट हुआ है ? अभी–अभी मेरी नाक से अंगूठे के पौर बराबर निकला था, किन्तु एक क्षण में ही यह इस प्रकार पहले हाथी के बराबर फिर एक क्षण में ही पर्वताकार हो गया है। अवश्य ही भगवान अपनी माया के रूप में हम लोगों के मन को मोहित कर रहे हैं।

यह सोच ही रहे थे कि भगवान यज्ञपुरूष पर्वताकार होते ही गरजने लगे, वह गरजने की आवाज सभी दिशाओं में प्रतिध्वनित होने लगी। जिससे ब्रह्मा, मरीचि, सनकादि और श्रेष्ठ ब्राह्मण गण हर्ष से भर गये। मायामय वराह भगवान् की घुरघुराहट को सुनकर वे जनलोक, तपलोक और सत्यलोक निवासी मुनिगण तीनों वेदों के पवित्र मंत्रों से उनकी स्तुति करने लगे। स्तुति सुनकर वराह भगवान बड़े प्रसन्न हुए एक बार फिर गजराज की सी लीला करते हुए जल में घुस गये। उनका शरीर बड़ा कठोर था और नेत्रों से तेज निकल रहा था, त्वचा पर कड़े–कड़े बाल थे, दाड़े सफेद थी। भगवान् स्वयं यज्ञ पुरूष हैं, तथापि शूकररूप धारण करने के कारण अपनी नाक से सूंघ–सूंघकर पृथ्वी का पता लगा रहे थे।

बज्रमय पर्वत के तुल्य अत्यन्त कठोर और विशाल वराह भगवान के कूंदते ही महासागर में ऊंची–ऊंची लहरें उठने लगी। समुद्र जैसे व्याकुल होकर आकाश की ओर जाने लगा। वराह भगवान बड़े वेग से जल को चीरते हुए रसातल में पहुंचे। वहां उन्होंने सम्पूर्ण प्राणियों की आश्रयभूता पृथ्वी को देखा। प्रभु को सम्मुख उपस्थित देखकर पृथ्वी ने प्रसन्न होकर उनकी अनेक प्रकार की स्तुति की। शंख, चक्र गदा एवं पद्म धरण करने वाले कमलनयन प्रभो, आपको नमस्कार है। आज आप इस पाताल से मेरा उद्धार कीजिये। पूर्णकाल में आपसे ही मैं उत्पन्न हुई थी। प्रभो ! आपका जो पर तत्व है, उसे तो कोई भी नहीं जानता अतः आपका जो रूप अवतारों में प्रकट होता है, उसी की देवगण पूजा करते हैं। मन में जो कुछ संकल्प किया जाता है, चक्षु आदि इन्द्रियों से जो कुछ विषय रूप में ग्रहण करने योग्य है, बुद्धि द्वारा जो अनुमान होता है, वह सब आपका ही रूप है। हे पुरूषोत्तम! हे परमेश्वर मूर्त–अमूर्त, दृश्य, अदृश्य तथा जो कुछ इस प्रसंग में मैंने कहा है वह सब आप ही है। अतः आपको नमस्कार है।

पृथ्वी की स्तुति सुनकर भगवान वाराह ने घर्र–घर्र शब्द से गर्जना की और फिर विकसित कमल के समान नेत्रों वाले उन वराह भगवान ने अपनी दाढ़ों से पृथ्वी को उठा लिया और वे कमल–दल के समान श्याम और नीलांचल के सदृश विशालकाय भगवान रसातल से बाहर निकल।

वरूण देवता ने जब हिरण्याक्ष को कह दिया कि युद्ध में तुमको भगवान हरि की सन्तुष्ट कर सकेंगे। हिरण्याक्ष भगवान हरि का पता लगाने के लिये नारदजी के पास पहुंचा और नारदजी से कहा–मुझको भगवान हरि से युद्ध करने की प्रबल इच्छा हो रही है। आप उनका पता बतलाइये। वे इस समय कहां मिलेंगे।

नारदजी ने कहा– श्री हरि ने अभी–अभी श्वेत वराह के रूप में समुद्र में प्रवेश किया है। यदि शीघ्रता करो तो उन्हें पा सकोगे।

हिरण्याक्ष तत्काल ही रसातल की ओर दौड़ा और वहां पहुंच गया। वहां उसकी दृष्टि अपनी विशाल दाढ़ों की नोंक पर पृथ्वी को ऊपर की ओर ले जाते हुए वराह भगवान पर पड़ी।

हिरण्याक्ष ने कहा– अरे सूकर रूपधारी सुराधाम ! ठहर मेरी शक्ति के सामने तुम्हारी योगमाया नहीं चल सकती। मेरे देखते हुए तू इस पृथ्वी को लेकर कहीं भाग सकेगा। निर्लज्ज कहीं का यह क्या कर रहा है ?

वराह भगवान पृथ्वी को अपनी दाढ़ों पर रखे हुए, हिरण्याक्ष के दुर्वचनों का उत्तर नहीं दे रहे थे। क्योंकि वे भयभीत पृथ्वी को पहले उचित स्थान पर स्थापित करना चाहते थे। कुपित होकर हिरण्याक्ष ने पुनः कहा– सत्य है, तेरे जैसे व्यक्ति ही ऐसे नहीं करने वाले कृत्य कर डालते हैं।

वराह भगवान ने पृथ्वी को जल से ऊपर लाकर व्यवहार योग्य स्थल पर स्थापित कर उसमें अपनी आधार शक्ति का संचार किया। उस समय हिरण्याक्ष के सामने ही भगवान पर देवताओं ने पुष्पवृष्टि की और ब्रह्माजी उनकी स्तुति करने लगे।

उस समय ही हिरण्याक्ष अपने हाथ में गदा लिये हुए अनर्गल प्रलाप करता हुआ दौड़कर वहां आया। तब वराह भगवान ने कज्जल के पहाड़ सदृष हिरण्याक्ष से कहा– मैं तो तेरे सामने कुछ भी कुछ भी नहीं, किन्तु अब तूं अपनी इच्छानुसार प्रहार करो। हिरण्याक्ष ने भगवान वराह पर गदा चलाई, भगवान वराह ऊपर उछलकर प्रहार बचा गये और हिरण्याक्ष में भयानक संग्राम हुआ। दोनों के वज्र तुल्य शरीर गदा के चोट से रक्तरंजित हो गये। इस युद्ध को देखने के लिये ब्रह्माजी, देवता, ऋषिगण वहां आ पहुंचे। उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की प्रभो ! आप शीघ्र इसका वध कर डालिये।

हिरण्याक्ष ने अनेक प्रकार क छल–छद्म और अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग किया किन्तु वराह भगवान पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता देखकर हिरण्याक्ष श्रीहत होने लगा। अन्त में भगवान् वराह ने हिरण्याक्ष के कनपटी पर एक हस्त प्रहार किया उसी की चोट से हिरण्याक्ष के नेत्र बाहर निकल गये। वह पृथ्वी पर घूमता हुआ कटे वृक्ष की तरह धराशायी हो गया और उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

ब्रह्मादि देवताओं ने हिरण्याक्ष के भाग्य की प्रशंसा करते हुए कहा–मिथ्या उपाधि से मुक्ति प्राप्त करने के लिये योगीन्द्र–मुनीन्द्र जिस महामहिम परमेश्वर का ध्यान करते हैं, उन्हें भी ऐसी मृत्यु प्राप्त नहीं होती हैं। भगवान के चरण प्रहार से उनका मुख देखते हुए इस दैत्यराज ने प्राण त्याग होता, यह धन्य है।

इसके साथ ही सुरसमुदाय ने वराह भगवान की स्तुति की–

जितं जितं तेजजित यज्ञभावन,
त्रयीं तनु स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु निलित्युरधवरा,
स्तस्मै नमः कारणशू करायते।।

भगवन!अजित! आपकी जय हो! जय हो, यज्ञपते। अपने वेदन्तयी रूप शरीर को फटकारने वाले आपको नमन है। आपके रोमकूपों में समस्त वैदिक यज्ञ छिपे हैं। पृथ्वी के उद्धार के लिये सूकर रूप धारण करने वाले आपको नमस्कार है।

इसके पश्चात वराह भगवान कोकोमुख स्थान पर (जो नेपाल राज्य की कोसी नदी के किनारे धवलगिरि शिखर पर वराह क्षेत्र हैं) चले गये और वहां वराह रूप त्याग कर अपना चतुर्भुज रूप धारण किया। इस स्थान पर कोकोमुख नाम से तीर्थ हैं।

वेदों के अनुसार–

मत्स्य तथा कूर्म की भांति वराह भी अत्यन्त लोकप्रिय देवता थे। वराह अवतार की पौराणिक कथा की रक्षा करता है। तैत्ररीय आरण्यक से ज्ञात होता है कि एमूष ने पृथ्वी को ऊपर उठाया और पृथ्वी का पति है इस ग्रन्थ के अनुसार देवताओं ने वराह के द्वारा पृथ्वी को असुरों से प्राप्त किया। अथर्ववेद में वराह का सम्बन्ध पृथ्वी के उद्धार से मिलता है–

मल्वं विम्रती गुरु मृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षः।

वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय। अथर्ववेद(12.1.480)

तैत्ररीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण इत्यादि परवर्ती वैदिक साहित्य में प्रजापति (ब्रह्मा) के वराहावतार धारण कर जल से पृथ्वी के उद्धार के विवरण हैं। रामायण में भी प्रजापति के वराह रूप में इस कर्म का उल्लेख है किन्तु कालान्तर में वैष्णव सम्प्रदाय वराहरूप में विष्णु अवतार मान लिया। ''अग्निपुराण'' में यह उल्लेख किया गया है कि वराह का रूप धारण कर विष्णु ने पृथ्वी की रक्षा करने से पूर्व हिरण्याक्ष नामक राक्षस का वध किया था।

श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार विष्णु ने प्रलयकाल में जल में समाहित पृथ्वी का उद्धार करने के लिये सकल यज्ञमय वराह शरीर ग्रहण किया था। जल के भीतर ही आदि दैत्य हिरण्याक्ष उनके सम्मुख युद्ध के लिये आ गया, किन्तु वराह भगवान ने अपनी दाढ़ों से उसके टुकड़े–टुकड़े उसी प्रकार कर दिये जैसे इन्द्र ने अपने बज्र से पर्वतों के पंख काट दिये थे। वराह की उत्पत्ति और उसके द्वारा पृथ्वी का उद्धार, हिरण्याक्ष के साथ उसके युद्ध और अन्ततः हिरण्याक्ष का वध की विस्तृत कथा भागवत् पुराण में मिलती है। विष्णु, लिङ तथा गरूड़ पुराणों में प्रलय–जल से पृथ्वी के उद्धार करने का कार्य ब्रह्मा द्वारा सम्पादित हुआ बताया गया है।

–::वराह अवतार का स्वरूप ::–

स्वरूप सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुसार पृथ्वी के उद्धार करने में संलग्न वाहवतार का स्वरूप वराह विग्रह में अथवा नर–वराह–विग्रह (जिसमें मस्तक, वराह और शेष शरीर नर का हो) में बन सकती है। वराह विग्रह की मूर्ति कोक साधारण वराह और मिश्रित विग्रह की मूर्ति को नृवराह की संज्ञा प्रदान की गई है। "नृवराह के दूसरे नाम आदि वराह, भूववराह आदि भी हैं। "शिल्परत्न" में भी उल्लेख है कि वराहवतार की पूर्ति नृवाह अथवा वराह रूप में बन सकती है।

वराह स्वरूप में आकृति का पूरा शरीर वराह का होता है। वह तीक्ष्ण दाढ़ो, चौड़े स्कन्ध तथा ऊर्ध्व रोमों से युक्त महाकाय सूकर की भांति निर्मित होनी चाहिए। "अपराजित पृच्छा" में वराह पूर्ति का विस्तृत विवरण है, जहां वराह के दाढ़ के अग्रभाग में लक्ष्मी (पृथ्वी के स्थान पर लक्ष्मी का नाम आया है) के होने का प्रमाण है।

वैखानस आगम के अनुसार– आदिवराह का स्वरूप का मस्तक वराह का और शेष शरीर मनुष्य का हो, इसके चार हाथ हों जिनमें दो शंख और चक्र से युक्त हों। कुछ झुका हुआ दक्षिण पाद सपत्नीक बैठे नगेन्द्र के मणियुक्त फण पर स्थिति हो, शेष बायें हाथ भू–देवी के चरणों का आधार हो, जो देवता के दक्षिण पाद पर बैठी हों और दायें देवी के कोटि के चारों ओर हों। देवता का उठा हुआ वराह मुख देवी के वक्षस्थल के इतने निकट हो जिससे वे देवी के सुगन्ध लेने में व्यस्त प्रतीत हों। देवी का वर्ण श्याम हो, वे पुष्पाम्बर तथा सभी आभूषणों से अलंकृत हों। उनके हाथ अंजलि मुद्रा में प्रदर्शित हो और लज्जा मिश्रित हर्ष से युक्त उनका मुख देवता की ओर हो।

मत्स्य पुराण के अनुसार– मत्स्य पुराण में इस स्वरूप का विवरण इस प्रकार है– महावराह के हाथों में गदा और पद्म हों, उनका एक चरण कूर्म पर और दूसरा आदिशेष पर स्थित हों, सहमी हुई किन्तु प्रसन्न पृथ्वी और उनकी दाढ़ के अग्र भाग पर अथवा बांई कुहनी पर स्थित हो जिनका एक हाथ नीलोत्पल युक्त और दूसरा कट्यवलाम्बित हो। "नृवराह" का यही विवरण अन्यत्र भी वर्णित है–

महावराहं वक्ष्यामि पद्महस्तं गदाधरम्।
तीक्ष्णदंष्ट्राग्रं घोणास्यं मेदिनीवामकर्पूरम।।
दंष्ट्रग्रेणोद्धतांदान्तां धरणींमुत्पलान्वितम्।
दक्षिणं कटिसंस्थं तु करंतस्या प्रकल्पयेत।
कूर्मापरि तथा पादमेकं नागेन्द्रमूर्धनि।। *(मत्स्य पुराण 28–30)*

अग्नि पुराण के अनुसार– नृवराह के दांये हाथ में शंख हो और बाएं हाथ में पद्म अथवा उनकी कुहनी पर लक्ष्मी स्थित हों। देवता के चरणों के पास भूमि तथा आदिशेष को स्थिति प्रदर्शित किया जाये।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार– विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वर्णित नृवराह का विवरण अग्निपुराण के सदृश्य ही है, किन्तु इनमें कुछ अन्य तत्वों का भी उल्लेख हुआ है। आदिशेष के वर्ण 'ण' में यह बताया गया है कि शेष के चार भुजाओं, रत्नमय फणों और आश्चर्य से विस्फारित नेत्रों से, जो देवी को देखने में तत्पर हो निर्मित करना चाहिए। उसके दो हाथों में हल और मूसल हों और दो हाथ अंजलि मुद्रा में जुड़े हों और उसके पृष्ठ पर आलीढ़ मुद्रा में देवता स्थित हों। देवता की बॉयी कुहनी पर स्त्री रूप में द्विभुजी वसुन्धरा स्थित हो। जिनके हाथ अंजलिबद्ध मुद्रा में जुड़े हों। जिस पर भुजा में वसुन्धरा हो, उसी में शंख हो और अन्य हाथ पद्म, चक्र और गदाधारी हो अथवा हिरण्याक्ष का सिर काटने के लिये हाथ में चक्र लेकर हिरण्याक्ष के सम्मुख दृष्टिगोचर होने चाहिए।

नृवराहोऽथ वा कार्यः शेषो परिगतः प्रभुः।
शेषश्चचतुर्भुजः कार्यश्चारूरत्न फणान्वितः।।
आश्चर्योत्फुल्लनयनो देवी वीक्ष्ण तत्परः।
कर्तव्यो सीरमुसलो करयोस्तस्य यादव।।
सर्पभूष च कर्तव्यस्तथैव रचितान्जलिः।
अलीद स्थान संस्थानस्ततपृष्ठे भगवान्भवेत्।।
यस्मिनभुजे धरादेवी तत्र शंखेः करे भवेत्।
अन्य तस्य कराः कार्याः पद्मचक्रगदाधरः।।
हिरण्याक्ष शिरश्च छेदश्च क्रोधतकरोऽथवा।।

(वि०ध०पु० नं० 9, 2–7)

वैखानस आगम में वराह स्वरूपों को तीन भागों में बॉटा गया है–

(1) भू–वराह (2) यज्ञ–वराह (3) प्रलय–वराह

(1) भू–वराह : भूवराह का स्वरूप चतुर्भुज होता है। उसका मुख वराह के समान तथा शरीर मनुष्य जैसा निर्मित किया जाता है। उनके दो हाथों में शंख तथा चक्र दिखाये जाते हैं, तीसरा हाथ मुड़े हुए घुटने की ओर चौथा हाथ पृथ्वी के कोटि को लपेटता हुआ

प्रदर्शित किय है। पृथ्वी के हाथ अंजलि मुद्रा में होते हैं। उनके चेहरे पर लज्जा और प्रसन्नता का भाव दर्शाया जाता है।

(2) **यज्ञ–वराह** : इसमें चार भुजाऐं प्रदर्शित की जाती हैं। वे सिंहासन पर बैठे हुए दिखाये जाते हैं और उनके दाहिनी ओर लक्ष्मी आसीन होती है। लक्ष्मी के हाथ कमल होता है तथा दूसरी ओर भू–देवी नीलोत्पल लिये होती है, इस प्रतिमा में वराह के हाथों में शंख और चक्र प्रदर्शित किये जाते हैं।

(3) **प्रलय–वराह** : इसमें देवता को सिंहासन पर बैठाये हुए दिखाया जाता है उनके दो हाथों में शंख और चक्र, तीसरा अभय मुद्रा में और चौथा जंघा पर स्थित होता है। सिंहासन के दाहिनी ओर कमल धारणी भू–देवी आसीन होती है।

1. **चतुर्दशं नारसिंह विभ्रदैत्येन्द्रमूर्जितम्।**
   ददार करजैवक्षस्येरकां कटकृरयथा।।

–:: नृसिंह अवतार ::–

नृसिंह एक स्वतंत्र देवता प्रतीत होते हैं, जिनकी एकता विष्णु के साथ की गई है। विष्णु के दशावतारों में चौथा नरसिंह अवतार है। इस अवतार की कथा विभिन्न पुराणों में मिलती है। नरसिंह का एक विशेषण है, "स्थौण" (स्थूण अर्थात स्तम्भ से बना) है।

भागवत पुराण से ज्ञात होता है कि नरसिंह भगवान उस स्तम्भ से प्रकट हुए थे, जिस पर उनके प्रबल विरोधी दैत्य हिरण्यकशिपु ने क्रोध से धक्का दिया था। इस दैत्य पुत्र प्रह्लाद हरि का अनन्य भक्त था। पिता के बहुत समझाने और फिर कष्ट देने पर भी जब भगवान हरि के प्रति प्रह्लाद की भक्ति कम न हुई तो दैत्य ने खींझकर प्रह्लाद से पूंछा– तुम्हारे भगवान कहां है ? प्रह्लाद ने उत्तर दिया वे सर्वत्र हैं, यहां तक कि सम्मुख स्थित में भी। हिरण्यकशिपु द्वारा उस स्तम्भ पर धक्का देते ही भगवान विचित्र रूप धारण प्रकट हो गये– वह रूप न पूर्णतया सिंह का था और न मनुष्य का ही था। इसे नरसिंह रूप में उन्होंने हिरण्यकश्यप को अपनी जंघाओं पर रखकर, उसके छटपटाते रहने पर भी अपने तीक्ष्ण नखों से उसका उदर विदीर्ण कर डाला।

अथर्ववेद में "स्कम्भ" देव के आधार पर नृसिंह का विकास तथा सम्बन्ध भी कल्पित किया जाता है।

नरसिंह अवतार का स्वरूप का निर्धारण–

मुख्यतया नरसिंह के स्वरूप 3 प्रकार के बताये गये हैं–

1. गिरिज– नरसिंह अथवा केवल नरसिंह 2. स्थौण नरसिंह 3. यानक नरसिंह

1. गिरिज– नरसिंह– इसमें नरसिंह, पद्मासन पर उत्कूटिकासन में अथवा सिंहासन पर ललितासन में अकेले बैठे हुए दिखाये जाते हैं। उनके पैर योगपट्ट से बंधे होते हैं। इनमें दो या चार भुजाएं प्रदर्शित की जाती है, जिसमें दो भुजाएं प्रदर्शित की जाती हैं, जिसमें दो भुजाओं में शंख, चक्र और घुटने तक फैले होते हैं। " केवल नृसिंह पद्मपीठोपरिष्यद् दौ पादौ विन्यस्योपरित्कुटिकासने– नासयित्वोरू मध्ये वस्त्रेणावध्य चतुर्भुजं शंख चक्रधं अन्यहस्ताम्यां जानुदयोपरिष्ठात् प्रसारित नियुक्तं वा संस्थापयेत।।

2. स्थौण नरसिंह– स्थौण–नरसिह स्वरूप का विवरण विभिन्न शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

---

1. श्रीमद्भागवत 9/3/18

1. <u>वैखानस आगम के अनुसार</u>– वैखानस आगम के अनुसार यह स्वरूप त्रिभंग, स्थानक मुद्रा में और बारह अथवा सोलह भुजाओं से युक्त हों। इसमें नरसिंह की बाई–जंघा पर हिरण्यकश्यप स्थित हों, उसका उदर नरसिंह अपने दो हाथों द्वारा विदारित कर रहे हों। नरसिंह का दाहिना एक हाथ अभय मुद्रा में हो और दूसरा खड्गधारी हो। वे बाएं एक हाथ से हिरण्यकश्यप कर मुकुट पकड़े हों और दूसरे को उठाकर दैत्य पर प्रहार करने को उद्यत हों। दाहिने एक हाथ से दैत्य के पैरों को पड़े हों और दूसरे को उठाकर दैत्य पर प्रहार करने को उद्यत हों। दाहिने एक हाथ से दैत्य के पैरों को पकड़े हों और अन्य दो हाथों में, एक बांया और एक दाहिना कानों तक उठे हों, जिनमें दैत्य के पेट से निकाली गई अति पुष्पमाला की भांति लिए हों।

2. <u>विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अनुसार</u>– नरसिंह का मुख सिंह का और शरीर मनुष्य का हो। वे पीन स्कन्ध, कटि तथा ग्रीवा और क्षीण, मध्य तथा उदर से युक्त हों, वे नीला वस्त्र धारण किये हों और सभी आभूषणों से समलंकृत होते हैं। उनके सिर के पीछे प्रभामण्डल हो, वे आलढ़ के मुद्रा में खड़े रहते हैं।

उनकी जॉच पर नील कमल की कान्ति वाला हिरण्यकश्यप पड़ा हो, जिसके वक्षः स्थल को वे अपने तीक्षण नखों से विदारित करते हुए प्रदर्शित कर रहे हैं।

पीनस्कन्ध कटिग्रीवः कृशमध्यः कृशोदरः।
सिंहासने नृदेहस्तु नीलवास प्रभान्वितः।
आलीढ़ स्थान संस्थानः सर्वा भरण भूषण :।
ज्वाला माला कुल मुखौ ज्वाला केशर मण्डलः ।
हिरण्य कशिपोर्वक्ष पाटयन्नखरैः खरैः।
नीलोत्पलाभ कर्तव्यो देवजानुगतस्तथा। *वि०ध०पु० (78, 2–1–5)*

3. <u>मत्स्य पुराण के अनुसार</u>– नरसिंह को आठ भुजाओं तथा विस्फरित मुख एवं नेत्रों से युक्त स्वरूप वाला होना चाहिये। उनके द्वारा विदारित हिरण्यकश्यप के विषय में इस पुराण में वर्णन है कि उसके पेट में ऑते बाहर निकल आई हों मुख से रूधिर बह रहा हो और उसका मुख तथा भृकुटी विकराल हो। साथ ही यह भी उल्लेख है कि कभी–कभी देवता को दैत्य से युद्ध करते हुए भी प्रदर्शित होना चाहिए, इस युद्ध में परस्पर दोनों पैर जुड़े हो।

नारसिंह तु कर्तव्यं भुजाष्टक समान्वितम्।

रूद्र सिंहासननं तद्द्विदारितमुखै क्षणम्।।
स्तब्धषीण सटाकर्णे दारयन्त दितेः सुतम।
विनिर्गतान्त्रजालं च दानवं परिकल्पयेत।
युध्यान च कर्तव्यः क्वचित्करण बन्धनैः।
परिश्रान्तेन दैत्येन तज्जयेमानो मुहुर्मुहः।
दैत्वं प्रदर्शयेत्रत्र खड्ग खेटक धारिणम्।। *मत्स्य पुराण (31–34)*

4. <u>अग्निपुराण तथा रूपमण्डन के अनुसार</u>– अग्निपुराण में नरसिंह के चार हाथ बताये गये हैं। दो में वे शंख और चक्र धारण किये हैं और दो से हिरण्यकश्यप का पेट फाड़ रहे हैं। रूपमण्डन के अनुसार नरसिंह की दो भुजाएं हों जिससे वे हिरण्यकश्यप का उदर विदिर्ण कर रहे हों।

3. <u>यानक नरसिंह</u> – इसमें नरसिंह को गरूड़ के स्कन्धों अथवा आदिशेष की कुण्डलियों पर आसीन होता है। इसमें देवता के दो या चार भुजाओं प्रदर्शित की जाती है। दो में शंख चक्र और दो घुटने तक फैले रहते हैं, देवता के मुख सिंह का और शेष शरीर मनुष्य का होता है।

कृतयुग के समय की बात है, जय–विजय नामक द्वारपालों ने वैकुण्ठलोक में भगवान विष्णु के पास जाने से सनकादि बाल ऋषियों को रोक दिया था। तब सनकादि ने तीन जन्मों तक उन्हें असुर बनकर रहने का शाप दिया था। उसी के प्रभाव से दिति के गर्भ से दोनों हिरण्यकश्यप और हिरण्याक्ष के रूप में उत्पन्न हुए। हिरण्याक्ष को तो भगवान विष्णु ने बराहबाबतार करके मार दिया। भाई के वध से दुःखी होकर हिरण्यकश्य दैत्यों और दानवों को अत्याचार करने की लिए आज्ञा और उत्साह देकर स्वयं महेन्द्राचल पर्वत पर तपस्या के लिये चला गया। उसके मन में शत्रुता की आग भभक रही थी, अतः वह विष्णु से बदला लेने के विचार से कठिन व घोर तपस्या में लग गये।

इन्द्र ने देखा कि दैत्यों के अधिपति हिरण्यकशिपु तपस्या में लग गये हैं, उनके राज्य को सम्भालने वाला कोई योग्य दैत्य नहीं है। इन्द्र ने दैत्यों पर चढ़ाई कर दी, दैत्यगण युद्ध में परास्त होकर अनाथों की भाँति भाग–भागकर रसातल में चले गये। इन्द्र ने हिरण्यकशिपु के रक्षारहित राजमहल में प्रवेश करके राजरानी कयाधू को बन्दी बना लिया। उस समय वह गर्भवती थी, इसलिये उसको वे अपनी नगरी अमरावती की ओर ले जा रहे थे। मार्ग में देवर्षि नारद जी से भेंट हो गई।

नारद जी ने पूछा – देवेन्द्र इसको कहाँ ले जा रहे हो। इन्द्र ने निवेदन किया देवर्षि इसके गर्भ में हिरण्यकशिपु का अंश है, उसको मार कर इसे मैं छोड़ दूँगा। यह सुनकर नारदजी ने कहा, देवराज इसके गर्भ में बहुत बड़ा भगवान भक्त है, उसको मारना तुम्हारी शक्ति से बाहर है, इसलिए इसको छोड़ दो। नारद जी के कहने का गौरव मानते हुए इन्द्र ने कयाधू को छोड़ दिया और वे अमरावती को चले गये। नारद जी कयाधू को अपने आश्रम पर अपने साथ ले आये और उसको कहा–बेटी! जब तक तुम्हारा पति तपस्या से लौटकर नहीं आ जाता तुम तब तक यहाँ सुखपूर्वक निवास करो। समय–समय पर नारद जी गर्भस्था बालक को लक्ष्य करके कयाधू को अनेक प्रकार से तत्वज्ञान का उपदेश किया करते थे। यही बालक जन्म लेने पर परम भक्त प्रहलाद हुआ। जब हिरण्यकशिपु की तपस्या से त्रिलोकी संतत हो उठी और देवताओं में भी खलबली मच गई तब वे सब संगठित होकर ब्रहाजी की शरण में गये और उन्होने हिरण्यकशिपु को तप से विरत करने की प्रार्थना की। ब्रह्मा जी हंस पर आरूढ़ होकर वहाँ आये, जहाँ हिरण्यकशिपु तपस्या कर रहा था। उसके शरीर को चीटियों चाट गयी थीं, केवल हड्डियों में प्राण की अवशेष थे और बॉबी का आकार दिखाई पड़ रहा था। ब्रह्माजी ने अपने कमण्डल का जल हाथ में लेकर उस बॉबी पर छिड़का उसी समय हिरण्यकशिपु अपने असली रूप में निकल आया। तब ब्रह्माजी ने कहा–

उतिष्ठोतिष्ठ भद्रं ते तपः सिद्धोऽसि काश्यप।
वरदोऽहमनुप्राप्तों व्रियत मीप्सितो वरः।।

बेटा हिरण्यकशिपु! उठो! तुम्हारा कल्याण हो! कश्पनंदन ! अब तुम्हारी तपस्या सिद्ध हो गई। मैं तुम्हें वर देने के लिये आया हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो बेखट के माँग लो। ऐसी तपस्या तो आज तक न किसी ने की है और न आगे कोई करेगा ही। दैत्य शिरोमणे! इसी से प्रसन्न होकर मैं तुम्हें, जो कुछ तुम माँगो, दिये देता हूँ। तुम तो मरने वाले शरीरधारी हो और मैं अमर हूँ। अतः मेरा यह दर्शन विफल नहीं हो सकता।

यह सुनकर हिरण्यकशिपु ने कहा– प्रभो ! यदि आप मुझे अभीष्ट वर देना चाहते हैं तो ऐसा कर दीजिये कि आपके बनाये हुए किसी प्राणी से चाहे मनुष्य हो या पशु–पक्षी, प्रणी हो या अप्राणी, देवता हो या दैत्य अथवा नागादि किसी से भी मेरे मृत्यु न हो। भीतर–बाहर, दिन में – रात्रि में, आपके बनाये प्राणियों के अतिरिक्त और भी किसी जीव से अस्त्र–शस्त्र से पृथ्वी या आकाश में कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्ध में

कोई मेरा सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियों का एक छत्र सम्राट हो जाऊं। देवताओं में आप– जैसी महिमा मेरी भी हो और तपस्वियों एवं योगियों के समान अक्षय ऐश्वर्य मुझे भी प्राप्त हो जाये।

(ब्रह्माजी) उसकी तपस्या से प्रसन्न तो थे ही। अतः उसको मुंहमांगा वरदान देकर वहां से अर्न्तध्यान हो गये। हिरण्यकशिपु अपनी राजधानी में चला गया। कयाधू को भी नारदजी के आश्रम से राजमहल लाया गया। उसके गर्भ से भगवत् रत्न प्रह्लाद उत्पन्न हुये। हिरण्यकशिपु के चार पुत्र थे। उनमें सबसे छोटा प्रह्लाद था, अतः उन पर हिरण्यकशिपु का विशेष स्नेह था। उन्होंने अपने गुरूपुत्र, षण्ड और अमर्क को बुलावाया और शिक्षा देने के लिये प्रह्लाद को उनके साथ आश्रम में पहुंचा दिया। प्रह्लाद गुरू–गृह में शिक्षा प्राप्त करने लगे। प्रह्लाद कुशाग्रबुद्धि होने के कारण गुरू की दी हुई शिक्षा को शीघ्र ही ग्रहण कर लेते थे। साथ ही उनका भगवत् भक्ति भी बढ़ती जा रही थी। वे वहां अन्य असुर बालकों को भी भगवत् भक्ति की शिक्षा देने लगे।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने गुरू–गृह से प्रह्लाद को अपने पास बुलाया और बड़े प्रेम से अपनी गोद में बैठा कर स्नेह–दुलार करते हुए कहा–बेटा ! अपनी पढ़ी हुई अच्छी से अच्छी कोई बात सुनाओ ! प्रह्लाद ने भगवत भक्ति की सुन्दर शब्दों में अनेक प्रकार से प्रशंसा की। वह सुनते ही हिरण्यकशिपु क्रोध से आगबबूला हो गया और प्रह्लाद को अपनी गोद से उठाकर भूमि पर पटक दिया तथा असुरों से कहा इसे मार डालो। हिरण्यकशिपु की आज्ञा पाकर प्रह्लाद को मारने के लिये असुरों ने उन पर विभिन्न प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग किया, किन्तु वेक सभी निष्फल हो गये। तत्पश्चात् उन्हें हाथियों से कुचलवाया, विषधर सर्पों से डसवाया, पुरोहितों द्वारा कृत्या, राक्षसी उत्पन्न कराई। पहाड़ की चोटी पे चढ़ाकर नीचे डलवा दिया। शम्बासुर से अनेक प्रकार की माया का प्रयोग करवाया, अन्धेरी कोठरियों में बंद करवा दिया, विष पिलवाया भोजन बंद कर दिया, हिमेत्य में दहकती हुई आग में और समुद्र में डलवाया, आंधी में उड़वाया, पहाड़ों के नीचे दबवाया गया परन्तु किसी भी उपाय से प्रह्लाद का अहित नहीं हुआ।

एक दिन गुरूपुत्रों ने हिरण्यकशिपु के पास जाकर कहा कि प्रह्लाद ने पाठशाला के अन्य सहपाठियों की भी बुद्धि भगवान में स्थिर कर दी है। हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को पुनः अपने निकट बुलाया और उसको अनेक प्रकार से डराने धमकाने लगा। उसने

कहा कि रे दुष्ट ! जिसके बल पर तू ऐसी बहकी–बहकी– बातें कर रहा है। तेरा वह ईश्वर कहां है, यदि वह सर्वत्र है तो इस खम्भे में क्यों नही दिखाई देता।

तब प्रह्लाद ने कहा– मुझे तो वे प्रभु खम्भे में ही दिखाई दे रहे हैं। यह सुनकर हिरण्यकशिपु क्रोध के मारे अपने को संभाल नहीं सका, उसी समय हाथ में खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा और जोर से उस खम्बे में एक घूंसा मारा, उसी समय खम्बे से बड़ा भयंकर शब्द हुआ, ऐसा जान पड़ता था जैसे कोई ब्रह्माण्ड ही फट गया हो। उस शब्द को सुनकर हिरण्यकशिपु घबराया हुआ सा इधर–उधर देखने लगा कि शब्द करने वाला कौन है परन्तु उसे सभा के भीतर ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई दिया। इतने में वहां बड़ी अद्‌भुत अलौकिक घटना हुई–

सत्यं विधातुं निजभृत्यभावितं।
ब्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।।
अद्श्यतात्यद् भूतरूमुद्दहन्।
स्तम्भे समायो न मृगं न मानुषम्।।

इसी समय अपने सेवक प्रह्लाद और ब्रह्मा की वाणी सत्य करने और समस्त पदार्थों में अपनी व्यापकता दिखाने के लिये सभा के भीतर उसी खम्भे में बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए। वह रूप न तो पूरा–पूरा सिंह का ही था और न मनुष्य का ही।

जिस समय हिरण्यकशिपु शब्द करने वाले को खोज रहा था उसी समय उसने खम्भे के भीतर से निकलते उस अद्‌भुत प्राणी को देखा। वह सोचने लगा अहो ! यह न तो मनुष्य है न पशु, फिर यह नृसिंह के रूप में कौन सा अलौकिक जीव है। जिस समय हिरण्यकशिपु इस उधेड़–बुन मतें लगा हुआ था, उसी समय उसके ठीक सामने ही भगवान् नृसिंह खड़े हो गये। उनका रूप बड़ा ही भयानक था।

उनकी तपाये हुए सोने के समान पीली–पीली भयावनी आंखे थी। चमचमाते हुए गर्दन तथा मुंह के बालों ने उनका चेहरा भरा–भरा दिख रहा था, उनकी बड़ी–बड़ी दाढ़ें थी, तलवार के समान लपलपाती हुई तथा छुरे की धार के सदृश्य उनकी तीखी जीभ थी। टेढी भोंह के कारण उनका मुख और भी भीषण था, उनके कान निश्चल एवं ऊपर की ओर उठे हुए थे,

उनकी फूली हुई नासिका और खुला हुआ मुख पर्वत की गुफा के समान अद्भुत जान पड़ता था, फटे हुए जबड़ों के कारण उनकी भीषणता बहुत बढ़ गई थी। उनका विशला शरीर स्वर्ग का स्पर्श कर रहा था, गर्दन कुछ नाटी तथा मोटी थी, छाती चौड़ी और कमर पतली थी, चन्द्रमा की किरणों के समान सफेद रोएं, सारे शरीर पर चमक रहे थे, चारों ओर सैकड़ों भुजाएं फैली हुई थी, जिनके बड़े–बड़े नख आयुध का काम कर रहे थे। भय के मारे भगवान् नृसिंह के निकट जाने का साहस किसी को नहीं होता था। भगवान् ने अपने चक्र आदि आयुधों द्वारा सारे दैत्य–दानवों को खदेड़ दिया।

तत्पश्चात् हिरण्यकशिपु सिंहनाद करता हुआ हाथ में गदा लेकर नृसिंह भगवान पर टूट पड़ा। तब भगवान ने भी उसके साथ कुछ देर तक युद्ध लीला करते रहे। अंत में उन्होंने बड़ा भय दिखाने वाला अट्‌ठास किया, जिससे हिरण्यकशिपु की आंखे बंद हो गई। तब भगवान ने उसे उसी प्रकार से झपटकर दबोच लिया जैसे सर्प चूहे को पकड़ लेता है। फिर उसको सभा भवन के दरवाजे पर ले जाकर अपनी जांघों पर आड़ा गिरा लिया और खेल–खेल में ही अपने तीक्ष्ण नखों से कलेजे को फाड़ दिया। उस उनकी क्रोधभरी आंखों की ओर देखा भी नहीं जा सकता था। वे अपनी लपलपाती हुई जीभ से दोनों जबड़ों को चाट रहे थे। उनके मुख और गर्दन के बालों पर खून के छींटे दिखाई दे रहे थे–

नखाग्ड रौत्पाटितहत्स रोरूहं,

विसृज्य तस्यानुचशनुदायुधान्।

अहन् समन्ताना खशस्त्रपार्णिभिः

दोर्दण्डयूथोऽनु पथान सहस्तम्भः।।

उन्होंने अपने नखों से हिरण्याकशिपु का कलेजा फाड़ कर उसे जमीन पर पटक दिया। उस हजारों दैत्य–दानव हाथों में शस्त्र लेकर भगवान पर प्रहार करने के लिये आये। पर भगवान ने अपनी भुजारूपी सेना से, लातों से और नखरूपी शस्त्रों से चारों ओर खदेड़–खदेड़ कर उन्हें मार डाला।

उस समय भगवान नृसिंह के गरदन के बालों के फटके से बादल भी तितर–बितर हो रहे थे। उनके नेत्रों की ज्वाला से सूर्यादि ग्रहों का तेज भी फीका पड़ गया। उनके श्वास के धक्कों से समुद्र तक क्षुब्ध हो उठे थे। उनके सिंहनाथ से भयभीत होकर दिग्गज चिघाड़ने लगे। उनकी गरदन के बालों से टकराकर देवताओं के विमान

अस्त–व्यस्त हो गये। स्वर्गलोक डगमगा गया। पैरों के धमाके से भूकम्प आ गया। पर्वत भी उड़ने लगा। उनके तेज की चकाचौंध से दिशाओं का ज्ञान होना बंद हो गया। उनका क्रोध बढ़ता जा रहा था। वे हिरण्यकशिपु के राजभवन के सर्वोच्च सिंहासन पर विराजमान हो गये। उनकी क्रोधपूर्ण मुखाकृति को देखकर किसी का भी साहस नहीं जो उनके निकट जाकर उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करे।

जब स्वर्ग में देवनांगनाओं को यह समाचार मिला कि नृसिंह रूपधारी भगवान के हाथों हिरण्यकशिपु की जीवन–लीला समाप्त हो गई, तब वे आनंद से खिल उठी और नृसिंह भगवान पर बारम्बार पुष्पों की वर्षा करने लगीं। इस समय ब्रह्मा, इन्द्र, शंकर आदि देवगण, ऋषि, पितर, सिद्ध विद्याधर, महानाग, मनु, प्रजापति, गन्धर्व, अप्सराएं, चारण,यक्ष, किम्पुरूष, बेताल, किन्नर और भगवान् के सभी पार्षद उनके पास आये और थोड़ी दूर पर स्थित होकर सभी ने अंन्जलि बांधकर अलग–अलग नृसिंह भगवान की स्तुति की। इस प्रकार स्तवन करने पर भी भगवान् का क्रोध शांत नहीं हुआ, तब देवताओं ने लक्ष्मीजी को उनके निकट भेजा, परन्तु भगवान के उस उग्ररूप को देखकर वे भी भयभीत हो गयीं और उनके पास न जा सकीं।

प्रह्लादं प्रेषयामास ब्रह्मावस्थितमन्तिके।

तात् प्रशमयोपेहि स्वापित्रे कुपितं प्रभुम।।

तब ब्रह्माजी ने अपने पास ही खड़े प्रह्लाद को यह कह भेजा कि बेटा तुम्हारे पिता पर ही भगवान कुपित थे। अब तुम ही उनके पास जाकर उन्हें शान्त करो।

प्रह्लाद जो आज्ञा कहकर भगवान के निकट गया और हाथ जोड़ पृथ्वी पर साष्टांग लेट गये। अपने चरणों में एक नन्हें बालक को पड़ा देखकर भगवान का हृदय दया से भर आया। उन्होंनें प्रह्लाद को उठाकर उनके सिर पर अपना कर–कमल रख दिया। फिर तो प्रह्लाद के बचे–खुचे सभी अशुभ संस्कार नष्ट हो गये। उसी समय उनको परमत्व का साक्षात्कार हो गया। उन्होंने भावपूर्ण हृदय निर्मिमेष नयनों से भगवान् को निहारते हुए प्रेम गदगद वाणी द्वारा स्तुति की।

प्रह्लाद द्वारा स्तुति करने से नृसिंह भगवान् सन्तुष्ट हो गये और उनका क्रोध जाता रहा, तब वे प्रेम और प्रसन्नता से बोले– भक्त प्रह्लाद ! तुम्हारा कल्याण हो ! असुरोत्तम् ! मैं तुम पर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम्हारी जो अभिलाषा हो, मांग लो, मैं मनुष्यों की कामना पूर्ण करने वाला हूँ। आयुष्मान् ! जो मुझे प्रसन्न नहीं कर लेता, उसके लिये

मेरा दर्शन दुर्लभ है। जब मेरे दर्शन हो जाते हैं, तब प्राणी के हृदय में किसी भी प्रकार की जलन नहीं रह जाती। मैं समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाला हूँ। इसलिए सभी कल्याणकारी भाग्यवान साधुजन जितेन्द्रिय होकर अपनी समस्त कृतियों से मुझे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

प्रह्लाद ने कहा– मेरे वरदाशिरोमणि स्वामी ! यदि आप मुझे मुंह मांगा वरदान देना चाहते हैं तो ऐसी कृपा कर दीजिये कि मेरे हृदय कभी किसी कामना का बीज अंकुरित ही नहीं हो।

यह सुनकर नृसिंह भगवान ने कहा– वत्स प्रह्लाद ! तुम्हारे जैसे प्रेमीभक्त को यद्यपि किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं रहती तथापि तुम केवल एक मन्वन्तर तक मेरी प्रसन्नता के लिये इस लोक में दैत्याधिपतियों के समस्त भोग स्वीकार कर लो। यज्ञभोक्ता ईश्वर के रूप में मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय में विराजमान हूँ। अतः तुम मुझे अपने हृदय में देखते रहना और मेरी लीला कथाएं सुनते रहना। समस्त कर्मों के द्वारा मेरी ही आराधना करके अपने प्रारब्ध कर्म का क्षय कर देना। भोग के द्वारा पुण्य कर्मों का फल और निष्काम कर्मों के द्वारा पाप नाश करते हुए समय पर शरीर का त्याग करते हुए समस्त बंधनों से मुक्त होकर तुम मेरे पास आ जाओगे। देवलोक में भी लोग तुम्हारे विशुद्ध कीर्ति का मान करेंगे। इतना ही नहीं जो भी हमारा और तुम्हारा स्मरण करेगा वह समस्त बन्धनों से मुक्त हो जायेगा।

इसके पश्चात प्रह्लाद ने कहा दीन बन्धों ! मेरी एक प्रार्थना यह है कि मेरे पिता ने आपको भ्रातृहन्ता समझकर आपसे और आपका भक्त जानकर मुझसे जो द्रोह किया है, उस दुस्तर दोष से उनको आप कृपा करके मुक्त कर दें तब नृसिंह भगवान से हिरण्यकशिपु की पवित्रता को प्रमाणित करते हुए प्रह्लाद को उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करने की आज्ञा दी आर स्वयं ब्रह्मा द्वारा की गयी स्तुति को सुनकर उन्हें वैसा वर देने से मना करते हुए वहीं अन्तर्धान हो गये।

भगवान विष्णु के मत्स्य स्वरूप

1. **रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसम्प्लवे,**
   नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्।।

2. **नूनं त्वं भगवान् साक्षाद्वारिनीरायणोऽव्ययः।**
   अनुग्रहाह भूतानां धरसे रूपं जलोकसाम्।।
   नमस्ते पुरूषश्रेष्ठ स्थित्युत्पत्यप्ययेश्वर।
   भक्तानां न प्रपन्नानां मुख्यो इजात्मगतिर्विभो।।

आप अवश्य ही साक्षात् सर्वशक्तिमान सर्वान्तर्यामी अविनाशी श्रीहरि हैं। जीवों पर अनुग्रह करने के लिये ही आपने जलचर का रूप धारण किया है। पुरूषोत्तम, आप जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के स्वामी हैं। आपको मैं नमस्कार करता हूँ। प्रभो ! हम शरणागत भक्तों के लिये आप ही आत्मा और आश्रय हैं।

कृतयुग के आरम्भ में एक (सत्यव्रत) नामक विख्यात राजर्षि थे। ये ही वर्तमान महाकल्प में श्राद्धदेव नाम से प्रसिद्ध विवस्वान् के पुत्र हुए, उनको भगवान ने वैवस्वत मनु बना दिया था। राजा सत्यव्रत बड़े क्षमाशील, समस्त श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न और सुख–दुःख को समान समझने वाले वीर पुरूष थे। ये अपने पुत्र को राज्य भार सौंपकर तपस्या के लिये वन में चले गये और मय पर्वत के शिखर पर उत्तम योग का आश्रय ग्रहण कर महान कठिन तपस्या में लग गये। घोर तपस्या के दस हजार वर्ष व्यतीत होने पर चतुर्मुख ब्रह्माजी राजा के समक्ष प्रकट हुए और कहा, "मैं तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हूँ, वर मांगो !" मैं आपसे केवल एक ही उत्तम वर प्राप्त करना चाहता हूँ। प्रलयकाल उपस्थित होने पर मैं चराचर समस्त भूत समुदाय की रक्षा करने में समर्थ हो सकूँ। यह सुनकर विश्वात्मा ब्रह्मा "एवमस्तु" यह वर देकर अन्तर्धान हो गये। देवताओं ने राजा पर पुष्पवृष्टि की।

एक दिन राजर्षि सत्यव्रत नदी में स्नान करके तर्पण कर रहे थे। इतने में ही जल के साथ उनकी अंजलि में एक छोटी सी मछली आ गयी। राजा ने जल के साथ उसे फिर नदी में डाल दिया। तब उस मछली ने बड़ी करूणा के साथ राजा से कहा आप बड़े दयालु हैं। आप जानते हैं कि बड़े–बड़े जल–जन्तु अपनी जाति वाले छोटे–छोटे जन्तुओं को खा जाते हैं, फिर आप मुझे इस नदी के जल में क्यों छोड़ रहे हैं।

---

1. *श्रीमद्भागवत 9/3/15*

राजा सत्यव्रत मछली की यह दीनतापूर्ण वाणी सुनकर उसे अपने कमण्डल में रखकर आश्रम पर ले आये। एक ही रात्रि में वह मछली इस प्रकार बढ़ गई कि कमण्डल में नहीं समा सकी और राजा से बोली– राजन् ! अब इस कमण्डल में मेरा निर्वाह नहीं हो सकता, अतः मेरे लिये कोई बड़ा स्थान नियत कीजिए।

राजर्षि सत्यव्रत ने उसको कमण्डल से निकालकर एक अत्यन्त बड़े पानी के मटके में रख दिया, थोड़ी देर में उसमें भी नहीं समाई औरा राजा से पुनः बोली "यह स्थान भी मेरे लिये पर्याप्त नहीं है, मुझे रहने के लिये दूसरा बड़ा स्थान दीजिये। राजा सत्यव्रत ने उस मछली को उठाकर एक बड़े सरोवर में डाल दिया। परन्तु थोड़े ही समय में उस सरोवर के जल को भी घेर लिया और कहा राजन मेरे सुखपूर्वक रहने के लिए पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार राजा उसे अन्यान्य अगाध जलराशि वाले सरोवरों में छोड़ते गये और वह उन्हें अपने शरीर–वृद्धि से परिव्याप्त करती रही। तब राजा ने उसे समुद्र में डाल दिया। समुद्र में छोड़े जाते समय उस लीलारूपधारी मत्स्य ने पुनः कहा– वीरवर नरेश ! समुद्र में बहुत से बड़े शरीरधारी मगरमच्छ रहते हैं, वे मुझे निगल जायेंगे, अतः आप मुझे समुद्र में मत डालिये।

मत्स्य भगवान की यह मधुरवाणी सुनकर राजा सत्यव्रत की बुद्धि मोहाद्दना हो गयी और उन्होंने विनम्र वाणी में कहा– हमें इस मत्स्य रूप से मोहित करने वाले आप कौन देवता हैं। आपने कुछ ही समय में एक सौ योजन विस्तार वाले सरोवरों को आच्छादित कर लिया। ऐसा पराक्रमी जलन्तु तो हमने कहीं न देखा न सुना ही था। आप निश्चय ही साक्षात सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी अविनाशी श्रीहरि हैं। जीवों पर अनुग्रह करने के लिये ही आपने यह जलचर रूप धारण किया है। पुरूष श्रेष्ठ, आप जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं, आपको नमस्कार है ! विभो ! हम शरणागत् भक्तों के आप ही आत्मा और आश्रय हैं। यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियों अभ्युदय के लिये ही होते हैं, तथापि मैं जानना चाहता हूँ कि आपने यह मत्स्य रूप किस उद्देश्य से धारण किया है।

राजा सत्यव्रत के पूंछने पर मत्स्य भगवान ने कहा– शत्रुसूदन ! आज से सातवें दिन भूलोक आदि तीनों लोक प्रलयपयोधि में निमग्न हो जायेंगे। उस समय प्रलयकाल की जलराशि में त्रिलोकी के डूब जाने पर मेरी प्रेरणा से एक विशाल नौका तुम्हारे पास आयेगी। तब तुम समस्त औषधियों, छोटे–बड़े समस्त प्रकार के पृथ्वी पर उत्पन्न होने

वाले फल–फूल अन्नादि को, बीजों और प्राणियों के सूक्ष्म शरीर को लेकर सप्तर्षियों के साथ उसी बड़ी नाव पर चढ़ जाना और निश्चिंत होकर उस एकार्णव जल में विचरण करना, उस समय प्रकाश नहीं, रहेगा, केवल ऋषियों के दिव्य ज्योत का ही सहारा रहेगा। जब झंझावत के प्रचण्ड वेग से नाव डगमागने लगेगी, उस समय मैं इसी रूप में तुम्हारे पास उपस्थित हो जाऊंगा। तब तुम वासुकि नाग द्वारा उस नाव को मेरे सींग से बांध देना। इस प्रकार जब तक ब्रह्मी निशा रहेगी, तब तक मैं तुम्हारे तथा ऋषियों के द्वारा अधिष्ठित उस नाव को प्रलय सागर से खींचता हुआ विचरण करूंगा। उस समय तुम्हारे प्रश्न करने पर मैं उनका उत्तर दूंगा। जिनसे मेरी महिमा, जो परब्रह्म नाम से विख्यात है, तुम्हारे ह्रदय में प्रस्फुटित हो जायेगी। राजर्षि सत्यव्रत को इस प्रकार कहकर मत्स्य भगवान् वहां से आन्तर्हित हो गये।

राजा सत्यव्रत भगवान के बतलाये हुये उस काल की प्रतीक्षा करने लगे। वे कुशों को बिछाकर उस पर ईशांन कोण की ओर मुख करके बैठ गये और मतस्यरूपधारी श्री हरि के चरणों का चिन्तन करने लगे। इतने में ही राजा ने देखा कि समुद्र अपनी मर्यादा भंग करके चारों ओर से पृथ्वी को डूबता हुआ बढ़ रहा है और भयंकर मेघ वर्षा कर रहे हैं। तब वह भगवान की आज्ञा का ध्यान किया और रेखा की नाव आ गयी है। उसी समय महाराज सत्यव्रत औषधि, समस्त प्रकार के बीजों और सप्तर्षियों को साथ लेकर उस नाव पर सवार हो गये। तब सप्तर्षियों ने प्रसन्न होकर कहा राजन् ! केशव भगवान का ध्यान कीजिए। वे ही इस समय हम लोगों की संकट से रक्षा करके कल्याण करेंगे।

राजा सत्यव्रत के ध्यान करते ही श्रीहरि मत्स्यरूपधारण करके उस प्रलयकाल में प्रकट हुए। उस समय उनका शरीर स्वर्ण के समान दैदीप्यमान तथा चार लाख कोस के विस्तार वाला हो रहा था। उनके एक सींग भी था। राजा ने भगवान के पूर्व कथानुसार उस नाव को वासुकि नाग द्वारा मत्स्य भगवान के सींग में बांध दिया और स्वयं प्रसन्न होकर मधुसूदन भगवान की स्तुति करने लगे। राजा सत्यव्रत के स्तवन कर चुकने पर मत्स्यरूपधारी भगवान ने प्रलयपयोधि में बिहार करते हुए उन्हें तत्वज्ञान का उपदेश किया, जो "मत्स्यपुराण" नाम से प्रसिद्ध है।

1. **प्रलयपयसि धातुः सुतशक्रेकर्मुखेभ्यः, श्रुतिगणमपनीत प्रत्युपादत हत्वा।**
   दितिजमकथयद यो ब्रह्मसत्यव्रतानां, तमहमखिलहेतुं जिह्ममीनं नतोस्मि।।

प्रलयकालीन समुद्र में जब ब्रह्माजी सो गये थे, उनकी सृष्टि शक्ति लुप्त हो चुकी थी, उस समय उनके मुखों से निकली हुई, श्रुतियों को चुराकर हयग्रीव दैत्य पाताल में ले गया था। भगवान ने उसे मारकर वे श्रुतियां ब्रह्माजी को लौटा दी एवं राजर्षि सत्यव्रत तथा सप्तर्षियों को ब्रह्मतत्व में उपदेश किया। उन समस्त जगत के परम कारण लीलामत्स्य भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

भगवान की कृपा से राजा सत्यव्रत ज्ञान–विज्ञान से सम्पन्न होकर इस कल्प में वैवस्वत् मनु हुए।

प्रायः सभी परम्पराओं के अनुसार प्राचीनतम अवतार मत्स्य हैं। स्वतन्त्र रूप से मत्स्य पूजा के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।

मत्स्यावतार के प्रारम्भिक उल्लेखों में मत्स्य का वरूणदेव के साथ सम्बन्ध है। वह उनका वाहन है, किन्तु बाद में उसेक प्रजापति ब्रह्मा से सम्बन्धित किया गया।

शतपथ ब्राह्मण में जलप्लावन की कथा सबसे पहले मिलती है। सृष्टि के प्रलय के बाद एक मात्र मत्स्य बचा जिसने मनु के द्वारा सृष्टि को आगे चलाया। वह मत्स्य वहां प्रजापति का रूप कहा गया है। महाभारत, मनुस्मृति इत्यादि में जहां कथा का पुनः वर्णन है, अनेक श्लोकों में मत्स्य को प्रजापति कहा गया है।

मूलतः मत्स्यावतार ब्रह्मा, प्रजापति से ही सम्बन्धित था, किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय के विकास के साथ इस अवतार का सम्बन्ध विष्णु से स्थापित हो गया।

श्रीमद्भागवत पुराण में विष्णु द्वारा मत्स्यावतार ग्रहण करने की कथा उपलब्ध होती है, जहां यह उल्लेख है कि पिछले कल्प में अंत में ब्रह्मा के सो जाने के कारण ब्राह्म नामक नैमित्रिक प्रलय हुआ, जिसमें भू–लोक सहित सारे लोक समुद्र में डूब गये। प्रलय काल आ जाने के कारण जब ब्रह्मा निद्धित हो रहे थे, वेद उनके मुख से निकल पड़े और उनके पास ही रहने वाले हयग्रीव नामक बली दैत्य ने उन्हें योगबल से चुरा लिया। भगवान हरि ने हयग्रीव की यह चेष्टा जान ली। अतएव उन्होंने मत्स्यावतार ग्रहण किया और हयग्रीव को मारकर वेदों का उद्धार किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि विष्णु द्वारा मत्स्यावतार ग्रहण करने का प्रमुख ध्येय वेदों का उद्धार करना था। इस अवतार की कथा, महाभारत, मत्स्य तथा अन्यपुराणों में वर्णित है।

मत्स्यावतार का स्वरूप : भगवान विष्णु के मत्स्यावतर के स्वरूप दो प्रकार से निर्धारित की जाती थी। (1) मत्स्यविग्रह में (साधारण मत्स्य के सदृश) (2)

नरमत्स्य मिश्रित विग्रह में "ऊर्ध्वभागः नराकृत अधः भागश्च मत्स्याकृत।" मिश्रित–विग्रह में उनके सामान्यतः चार हाथ होते हैं, दो क्रमशः वरद एवं अभय मुद्रा में तथा दो शंख और चक्र से युक्त। ऊर्ध्व भाग किरीट–मुकुट तथा सभी आभूषणों से अलंकृत होता है।

मत्स्यावतार का प्राचीनतम चित्रण सारनाथ एवं मथुरा से प्राप्त होता है। सारनाथ के एक स्तम्भ पर मत्स्यावतार का चित्रण किया गया है। मथुरा से प्राप्त चित्रण में नरमत्स्य मिश्रित विग्रह में चित्रण किया गया है।

भगवान विष्णु का कच्छप-अवतार

सुरासुराणामुदधिं मथ्नतां मन्दराचलम्।
दध्ने कमठरूपेण पृष्ण एकादशे विभुः।।

एक समय की बात है, भगवान शंकर के अवतार श्री दुर्वासा जी पृथ्वी पर घूम रहे थे। घूमते–घूमते उन्होंने एक विद्याधरी हाथों में सन्तातक पुष्पों की एक दिव्य माला देखी। उस माला की उत्तम गंध, से वह क्षेत्र सुवासित हो रहा था। दुर्वासा जी ने वह उत्तम, सुन्दरमाला विद्याधर सुन्दरी से मांग ली। विद्याधरी ने प्रणाम करके आदरपूर्वक वह माला दुर्वासा जी को दे दी।

दुर्वासा जी ने वह माला अपने मस्तक पर डाल ली और वे पृथ्वी पर विचरने लगी। इसी समय उन्होंने उन्मन्त ऐरावत हाथी पर चढ़े हुए देवराज इन्द्र को देवताओं सहित आते हुए देखा। दुर्वासाजी ने वह माला अपने सिर पर से उतार कर देवराज इन्द्र के ऊपर फेंक दी। देवराज ने उसको लेकर ऐरावत के मस्तक पर डाल दी, उस मदोन्मत हाथी ने उसकी गन्ध से आकर्षित हो उसे सूंड से सूंघकर पृथ्वी पर फेंक दी। यह देखकर मुनिश्रेष्ठ दुर्वासी अत्यन्त क्रोधित हो गये और कहा–

"अरे ऐश्वर्य के मद से दूषित चित्त इन्द्र ! तू बड़ा ढ़ीठ है, तूने मेरी दी हुई माला को पृथ्वी पर फेंका है इसलिये तेरा यह त्रिभुवन भी शीघ्र ही श्रीहीन हो जायेगा। तब तो इन्द्र घबराये और तुरन्त ही ऐरावत हाथी से उतरकर श्री दुर्वासामुनि के चरणों में गिरकर अनेक प्रकार से अनुनय–विनय करने लगे, किन्तु श्रेष्ठ दुर्वासा जी ने इस प्रकार कहा– अरे ! आज त्रिलोकी में ऐसा कौन है जो मेरे प्रज्वलित जयकलाप और टेढ़ी भृकुटि को देखकर भयभीत न हो जाये ? तू मुझसे बारम्बार अनुनय–विनय का ढोंग क्यों करता है ? इससे क्या होगा ? मैं तुझे क्षमा नहीं कर सकता।

इस प्रकार कहकर महामुनि दुर्वासा वहां से चले गये और इन्द्र भी ऐरावत पर चढ़कर अपनी अमरावती को चले गये। तभी से इन्द्र के तीनों लोक, वृक्ष, लता आदि क्षीण हो जाने से श्रीहीन और सब तत्व शून्य, सामर्थ्यहीन हो गये। श्रीहीनों में सत्व कहां हो सकता है ? बिना सत्व के गुण कैसे ठहर सकते हैं ? बिना गुणों के पुरूष में बल, शौर्य आदि सभी का अभाव हो जाता है और निर्बल तथा आशक्त पुरूष से अपमानित होता है। अपमानित होने पर प्रतिष्ठित पुरूष की बुद्धि बिगड़ जाती है।

इस प्रकार त्रिलोकी के श्रीहीन और सत्व रहित हो जाने पर दैत्य और दानवों ने देवताओं पर चढ़ाई कर दी और दैत्यों द्वारा देवता परास्त हो गये। तब इन्द्रादि समस्त देवता अग्निदेव को आगे कर पितामह ब्रह्माजी के पास गये। देवताओं ने प्रणाम कर ब्रह्माजी को समस्त वृतान्त कर सुनाया।

ब्रह्माजी ने देवताओं से कहा देवताओ ! तुम दैत्य दलन परम परावरेश्वर भगवान् विष्णु की शरण में जाओ जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण हैं जो चराचर के ईश्वर, प्रजापतियों के स्वामी, सर्वव्यापक अनन्त और अजेय हैं तथा जो अजन्मा एवं शरणागतनसत्य हैं। उनकी शरण में जाने पर वे तुम्हारा मंगल करेंगे। समस्त देवताओं से इस प्रकार कहकर पितामह ब्रह्माजी भी उनके साथ क्षीर सागर में उत्तरी तट पर गये। वहां पहुंचकर ब्रह्माजी ने समस्त देवताओं के साथ श्री विष्णु भगवान की अति मंगलमय वाक्यों द्वारा स्तुति की–

1. **नमोस्तु तस्मा उपशन्त शक्तये स्वाराज्य लाभप्रति पूरितात्मने।**
   गुणेषु मायारचितेषु वृत्ति मिर्न सज्जमानाय नमस्वदूयते।।
   सत्वं नो दर्शयात्मामामस्यत्करण गोचरम्।
   प्रपलानां दिहक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम।।

जो माया निमित्त गुणों में दर्शनादि वृत्तियों के द्वारा आसक्त नहीं होता, जो वायु के समान सदा–सर्वदा असंग रहते हैं, जिनमें समस्त शक्तियां शान्त हो गईं उन अपने आत्मान्द के लाभ से परिपूर्णा आत्मस्वरूप भगवान को हमारा नमस्कार है। प्रभो ! हम आपके शरणागत हैं और चाहते हैं कि मन्द–मन्द मुस्कान से युक्त आपका मुखकमल अपने इन्हीं नेत्रों से देखें। आप कृपा करके हमें उसका दर्शन कराइये। देवताओं के स्तवन से सन्तुष्ट होकर अमित तेजस्वी मंगलधाम एवं नयनानन्द दाता भगवान विष्णु मंद–मंद मुकुराते हुए उन्हीं के बीच प्रकट हो गये देवताओं ने पुनः दयामय सर्व समर्थ प्रभु की स्तुति करते हुए अपना अभीष्ट निवेदन किया।

2. **स्वामातीः शरणं विष्णो प्रयाता दैत्यनिर्जिताः।**
   वयं प्रसीद सर्वात्मंस्तेजसाप्यासययस्व नः।।

विष्णों ! दैत्यों द्वारा परास्त हुए हम लोग आतुर होकर आपकी शरण में आये हैं सर्वस्वरूप ! आप हम पर प्रसन्न होइये और अपने तेज से हमें सशक्त कीजिये।

मेघ के समान गम्भीर वाणी द्वारा जगतपति भगवान् विष्णु ने देवताओं से कहा– पुनः सशक्त होने के लिये तुम्हें जरा–मृत्यु–निवारिणी सुधा अपेक्षित है। यह अमृत–मंथन से प्राप्त होगा। यह काम अकेले तुम देवताओं से नहीं हो सकेगा। इसके लिये तुम लोग साम नीति का अवलम्बन कर असुरी से संधि कर ली। अमृत–पान के प्रश्न पर वे भी सहमत हो जायेंगे। समुद्र में सारी औषधियां लाकर डाल दी।

इसके उपरान्त मन्दरगिरि को मथानी एवं नागराज वासुकि को नेति बनाकर मेरी सहायता से समुद्र–मंथन करो। तुम्हें निश्चय ही सुफल प्राप्त होगा। पर आलस्य और प्रमाद त्याग कर शीघ्र ही अमृत प्राप्ति के लिये प्रयत्न करो।

भगवान विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। इन्द्र देवताओं को साथ लेकर दैत्यराज बलि के पास गये। बुद्धि प्रवीण इन्द्र ने उनकी अपने बन्धुत्व की बातें कहीं और भगवान् की आज्ञानुसार बलि की अमृत प्राप्ति के लिये समुद्र–मंथन की बात कही। अमृत प्राप्त होने पर देवता और दैत्यों का समान भाग होगा। इस लाभ के लोभ सेक दैत्येश्वर बलि ने इन्द्र के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उस समय दैत्यराज के सेनापति शम्बर, अरिष्टनेमि तथा मंत्रिगण जो वहां उपस्थित थे, सभी दैत्यों ने इसका समर्थन किया।

समस्त पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली उत्तम–उत्तम औषधियां तरूण, लता, क्षुम, वृक्षादि लाकर क्षीरसागर में डाल दिये गये। देवताओं और दैत्यों ने अपना भेद–भाव त्यागकर मंदराचल पर्वत को उखाड़ कर क्षीरसागर की ओर ले चले, किन्तु वे मंदाचल पर्वत को अधिक दूर नहीं ले जा सके। विवश होकर उन्होंने उसे बीच में ही पटक दिया। उस सोने के मंदरगिरि के गिरने से कितने ही देवता और दैत्य हताहत हो गये।

देवता और दैत्यों के हतोत्साह होते ही भगवान् गरूड़ पर चढ़े हुये वहां प्रकट हो गये। उनकी अमृतमयी कृपादृष्टि से मृत देवता उसी समय पुनः जीवित हो गये और उनकी शक्ति भी पूर्ववत् ही हो गयीं सर्व समर्थ भगवान् विष्णु ने एक हाथ से ही मंदराचल को उठाकर गरूड़ की पीठ पर रखा और देवता तथा दैत्यों सहित जाकर उसको क्षीर–सागर के तट पर रख दिया।

देवता और दैत्यों ने मंदराचल को समुद्र में डालकर नागराज वासुकि की नेटि बनायी। सर्वप्रथम भगवान नागराज वासुकि के मुख की ओर गये। उनको देखकर अन्य देवता भी वासुकि के मुख की ओर ही चले गये।

यह देखकर दैत्यों ने विरोध करते हुये कहा– पूंछ सर्प का अशुभ अंग है। हम इसे नहीं पकड़ेंगे। ऐसा कहकर सब दैत्य लोग दूर जाकर खड़े हो गये।

देवता बिना किसी प्रकार की आपत्ति के पूंछ की ओर आ गये। दैत्यगण उसी समय मुख की ओर जाकर उत्साह से समुद्र मंथन करने लगे, किन्तु मंदरगिरि के नीचे कोई भी ठहरने का आधार नहीं होने से वह नीचे समुद्र में डूबने लगा।

यह देखकर अचिन्त्यशक्ति– सम्पन्न श्री भगवान विशाल एवं विचित्र प्रकार का कच्छप रूप धारण कर समुद्र में मंदरगिरि के नीचे जा लगे। कच्छपावतार भगवान् की पीठ पर मंदरगिरि ऊपर उठ गया। देवता और दैत्य जोरों से समुद्र–मंथन करने लगे। भगवान आदि कच्छप की सुविस्तृत पीठ पर मंदरगिरि अत्यन्त तीव्रता से घूम रहा था और श्रीभगवान को ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे कोई उनकी पीठ खुजला रहा है।

समुद्र मंथन का कार्य सम्पन्न हो जाये इसलिये श्री भगवान विष्णु शक्ति–संवर्द्धन के लिये असुरों में असुर रूप से, देवताओं में देवरूप से और वासुकिनाग में निद्रारूप में प्रविष्ट हो गये और मंदरगिरि को ऊपर से दूसरे महान पर्वत की भांति अपने हाथों से दबाकर स्थित हो गये। श्री भगवान विष्णु की इस लीला को देखकर ब्रह्मा, भगवान् त्रिनेत्र शिव तथा इन्द्रादि देवगण स्तुति करते हुए उनके ऊपर दिव्य पुष्पों की वृष्टि करने लगे।

समुन्द्र मंथन होने से उसके भीतर से हलाहल विष प्रकट हुआ। उसको भगवान शंकर ने अपने कंठ में धारण कर लिया। इससे कण्ठ में नीला दाग पड़ जाने के कारण "नीलकण्ठ" नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके पश्चात्, वारूणी देवी प्रकट हुई, उसको असुरों ने ग्रहण किया, तत्पश्चात् उच्चैःश्रवा घोड़ा, ऐरावत हाथी, पारिजात्र वृक्ष तथा दिव्य अप्सरायें निकलीं जो इन्द्र ने प्राप्त कर लिये। गायें निकली वह वेदवादी ऋषियों को प्राप्त हो गयीं। तदनन्तर कौस्तुभमणि निकली वह भगवान विष्णु ने धारण की, तदनन्तर लक्ष्मीजी का प्रादुर्भाव हुआ, भगवान विष्णु को प्राप्त हुई। सम्पूर्ण देवताओं ने उनका दर्शन पूजन किया, इससे वे लक्ष्मीवान हो गये। तदनन्तर भगवान के अंशभूत धन्वन्तरि जो आयुर्वेद के प्रवर्तक हैं, हाथ में अमृतकलश लिये हुए प्रकट हुए। दैत्यों ने उनके हाथ से अमृत छीन लिया और उसमें से आधा देवताओं को देकर वे चलते बने। उनमें जम्भ आदि दैत्य प्रधान थे। उन्हें जाते देख भगवान विष्णु ने स्त्री का सुंदर रूप धारण किया। उस सुन्दर स्त्री का सुंदर रूप धारण किया। उस सुन्दर स्त्री को देखकर दैत्य मोहित

हो गये और कहा– सुमुखि ! तुम हमारी भार्या हो जाओ और यह अमृत लेकर हमें पिलाओ। स्त्री रूपधारी भगवान् ने उनके हाथों से अमृत ले लिया और उसे देवताओं को पिला दिया। उस समय राहु चन्द्रमा का रूप धारण करके अमृत पीने लगा। तब सूर्य और चन्द्रमा ने उसके कपट वेश को प्रकट कर दिया, यह देखकर भगवान् विष्णु ने चक्र से उसका सिर काट डाला, उसका सिर अलग हो गया और भुजाओं सहित धड़ अलग रह गया। भगवान ने दयाकर उसे अमर बना दिया। तब ग्रह स्वरूप राहु ने भगवान श्रीहरि से कहा इन सूर्य और चन्द्रमा को मेरे द्वारा अनेकों बार ग्रहण लगेगा। उस समय जो लोग दान धर्म करेगा वह अक्ष होगा। भगवान विष्णु ने तथास्तु कहकर समस्त देवताओं के साथ राहु की बात का अनुमोदन किया। इसके पश्चात भगवान ने स्त्री रूप दिया। अपनी पीठ पर मंदराचल पर्वत को रखकर कच्छापवतार करने वाले श्री भगवान को बारम्बार प्रणाम है।

भागवत पुराण एवं अन्य ग्रन्थों के अनुसार यह भू–लोक कूर्म के ऊपर अधिष्ठित है। उसके अनुसार कूर्म ने अपनी पीठ पर पृथ्वी को उठा लिया। भारत में भी कूर्म द्वशरा पृथ्वी को उठाने की अनुश्रुति है।

"समुद्र मंथन के समय विष्णु ने कूर्म रूप धारण कर मंदराचल पर्वत को धारण किया।"

शुक्ल यजुर्वेद में कूर्म को जल का स्वामी कहा गया है।

अथर्ववेद में "कश्यप" नाम के प्रजापति से अभिन्न बताते हुए स्वयंभू विशेषण के रूप में उसका कथन है।

शतपथ ब्राह्मण में उसे जल का स्वामी तथा वरूण का सहायक बताया गया है और कहा गया है कि सृष्टि के समय प्रजापति ने कूर्म का रूप धारण किया था।

कालः प्रजाः असृजत कालो अग्र प्रजापतिम।

स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत।।

मत्स्यावतार के सदृश कूर्मावतार भी मूलतः ब्रह्मा, प्रजापति से सम्बन्धित था किन्तु बाद में इसका सम्बन्ध विष्णु से स्थापित हो गया और पुराणों में आगे चलकर कूर्म को विष्णु का अवतार मान लिया।

श्रीमदभागवत पुराण में उल्लेख है कि अमृत प्राप्ति के लिये देवों और दानवों ने मिलकर सागर–मंथन करते समय भगवान विष्णु ने कच्छप रूप में अपनी पीठ पर मन्दराचल पर्वत धारण किया था।

मत्स्यावतार के समान कूर्मावतार की प्रतिमा भी दो प्रकार से निर्मित होती है। (1) कूर्म विग्रह में (साधारण कूर्म के सदृश) और (2) नरकूर्म मिश्रित विग्रह में (ऊपरी आधा भाग नर और शेष आधा भाग कूर्म के सदृश्य) मिश्रित विग्रह की पूर्ति में चार हाथ होते हैं– दो क्रमशः वरद और अभय मुद्रा में तथा दो शंख और चक्र से युक्त। ऐसी प्रतिमा किरीट–मुकुट तथा सभी आभूषणों से अलंकृत होती है।

खजुराहो में कूर्मावतार की दो स्वतंत्र प्रतिमाएं दृष्टिगोचर होती हैं। इसमें से एक प्रतिमा में विष्णु को योगासन मुद्र में प्रदर्शित किया गया है, उनके पद्मासन स्थित पादों के नीचे कूर्म की आकृति है। दूसरी पृथक मूर्ति में पद्म–पत्र के ऊपर एक साधारण कूर्म स्थित है जिसके गले में इकहरी मुक्तामाला है। सागर मंथन का यह एक सुन्दर चित्रण है।

भगवान विष्णु का कपिल मुनि के रूप में अंशावतार

1. **पंचमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविरलुतम्।**
   प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम्।।

2. **सत्वां गताहं शरणं शरण्यं।**
   स्वमृत्यसंसारतयेः कुठारम।।
   जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पुरूषस्थ।
   नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम्।।

आप अपने भक्तों के संसाररूप वृक्ष के लिये कुठार के समान हैं, मैं प्रकृति और पुरूष का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से आप शरणागत वत्सल के शरण में हूँ। आप भागवत धर्म जानने वालों में सबसे श्रेष्ठ हैं, आपको प्रणाम हैं।

सृष्टि के प्रारम्भिक स्वायम्भुव मन्वन्तर काल में पितामह ब्रह्माजी को सृष्टि संवर्धन की प्रबल इच्छा हो रही थी। उन्होंने मनु को शतरूपा से विवाह करने की प्रेरणा दी। इसके पश्चात ब्रह्माजी ने अपने मानस पुत्र महर्षि कर्दम को भी प्रजा वृद्धि का आदेश दिया। महर्षि कर्दम ने पिता की आज्ञा स्वीकार कर बिन्दुसर तीर्थ पर जाकर तप करने लगे। नियमानुसार धारण–ध्यान से ऊपर समाधि में लगे रहते हुए श्रीहरि के भुवन मोहन सौन्दर्य का दर्शन लाभ ले रहे थे। दस हजार वर्षो तक इसी प्रकार चलता रहा, एक दिन अचानक महर्षि के हृदंय से वह प्राण प्रिय ध्यान पूर्ति अदृश्य हो गयी। व्याकुलता से उनकी आंखें खुली तो वह धन्य हो गये। महर्षि कर्दम की वह ध्यान पूर्ति उनके परम ध्येय नीलकमल के समान रंग की मोहनी पूर्ति पीताम्बरा धारण किये हुए श्री हरि उनके सम्मुख प्रत्यक्ष खड़े मंद–मंद मुस्कुरा रहे थे। महर्षि कर्दम प्रभु के चरणों में लेट गये और फिर हाथ जोड़कर प्रेमपूर्ण हृदय से अत्यन्त मधुरवाणी से स्तुति करने लगे– प्रभो आप कल्पवृक्ष है। आपके चरण समस्त मनोरथों को पूर्ण करने वाले हैं। मेरा हृदय काम कलुषित है। मैं भी अपने अनुरूप स्वभाव वाली और गृहस्थ धर्म के पालन में सहायक शीलवती कन्या से विवाह करने के लिये आपके चरण–कमलों की शरण में आया हूँ। आप स्वरूप से निष्क्रिय होने पर भी माया के द्वारा सारे संसार का व्यवहार चलाने वाले हैं। आपके चरण–कमल वन्दनीय है, मैं आपको बार–बार प्रणाम करता हूं।

भगवान श्रीहरि ने मुस्कुराते हुए कर्दमजी से कहा– मुने ! जिस कार्य के लिये तुम दीघ्रकाल से मेरी आराधना कर रहे हो,

वह अवश्य पूर्ण होगी। सात द्वीप पृथ्वी के सम्राट स्वायम्भुव मनु ब्रह्मावर्त में रहकर अपना शासन कर रहे हैं, वे परसों अपनी यप यौवन व गुण–शील सम्पन्ना देवहुति नामक कन्या को लेकर अपनी साध्वी पत्नि शतरूपा के साथ यहां आयेंगे। वह सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं। स्वायम्भुव मनु महाराज उसको तुम्हें विधि सहित अर्पण कर देंगे। उस आदर्श देवी की कोख से नौ कन्यायें उत्पन्न होगी। वे कन्यायें मरीच्यादि ऋषियों से विवाहित होकर स्रष्टा की इच्छानुसार सृष्टि बढ़ाने में सहायक होगी। 3

इसके पश्चात सर्वान्र्तयामी भगवान हरि ने कहा–

"तुम मेरी आज्ञा का भली प्रकार पालन करने से शुद्धचित्त हो अपने सब कर्मों का फल मुझे अर्पण कर मुझको ही प्राप्त होगें। महामुने ! मैं अपने अंश कलारूप से तुम्हारे वीर्य द्वारा तुम्हारी पत्नि देवहुति के गर्भ से अवतीर्ण होकर सांख्यशास्त्र की रचना करुंगा।

इतना कहकर श्रीहरि गरूड़ पर चढ़कर अपने धाम को पधार गये। महर्षि कर्दम वहां ही बिन्दुसार पर महाराज स्वायम्भुव मनु की प्रतीक्षा करने लगे। उस समय वहां के वृक्ष, फल पुष्पों के भार से लदे हुए अपनी अद्भुत शोभा फैला रहे थे। उन वृक्षों पर अनेक प्रकार की सुन्दर पक्षी प्रसन्नता से कलरव कर रहे थे।

अपने नित्यकर्म, अग्निहोत्र आदि कर्म से निवृत्त हो, तपाये हुए स्वर्ण के समान शरीर वाले, जय–जूर मण्डित, तपस्या की साक्षात् मूर्ति आश्रम के चबूतरे पर आकर बैठे। उसी समय आदिराज महाराज मनु अपनी भाग्य शालिनी पुत्री देवहुति के साथ उस परम पावन तीर्थ पर कर्दम जी महाराज के आश्रम पर पहुंचे। कर्दमजी महामुनि को देखते ही महाराज मनु आनन्द विहोर हो गये। उन्होंने महामुनि के चरणों में प्रणाम किया। महर्षि ने उनको आशीर्वाद दिया और उनसे आश्रम में आने का कारण जानना चाहा।

महाराज मनु ने कहा, महामुने ! प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो बन्धुओं की बहन मेरी प्रिय पुत्री देवहुति हैं। इसने देवर्षि नारद के मुख से आपके रूप, आयु, विद्या, शील, तप आदि का वर्णन सुनकर आपको पतिरूप में प्राप्त करने का निश्चय कर लिया। मैं अत्यन्त आदर एवं श्रृद्धा के साथ इसे आपके कर–कमलों में समर्पित करने आया हूॅ।

महर्षि कर्दम जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा– मैं परम प्रतापी महाराज स्वायम्भुव मनु की परम लावष्यमयी, सर्वसदगुणसम्पन्न पवित्र कन्या का पाणिग्रहण अवश्य करुंगा।

संतान होने के पश्चात् परमपिता को प्रसन्न करने के लिए तपस्या करने हेतु वन मे चला जाऊँगा। इसे आप भली प्रकार से समझ लें।

स्वायम्भुव मनु तथा शतरूपा ने महर्षि कर्दम जी की बात सुनने के पश्चात् अपनी पुत्री देवहुति की प्रसन्नता का अनुभव करके वहीं विधिपूर्वक विवाह कर दिया और वस्त्राभूंषण तथा पात्र आदि अनेक वस्तु अत्याधिक मात्रा में दिये।

पुत्री को वहां हीं छोड़कर जाते समय मनु और शतरूपा के नेत्रों से जल बरसने लगा किन्तु महर्षि कदमजी के आश्वासन से धैर्य धारण कर वे रथ पर चढ़कर और पुण्यप्रदा सरस्वती के दोनों तटों पर ऋषि–मुनियों की तपस्या और उनके आश्रमों की शोभा देखते हुए अपनी राजधानी बर्हिष्मती पुरी मे पहुंच गये।

श्री भगवान हरि की प्रेरणा से महर्षि कर्दम जी के मन में कामना का अंकुर पैदा हुआ, नहीं तो परम तपस्या परायण कर्दम जी सर्वथा निःस्पृह थे। स्वेच्छानुकूल पत्नी के लिये उन्होनें बहुत समय तक तप किया, किन्तु विवाह में भी उनकी किन्चित् भोग बुद्धि नहीं थी। विवाह होने पश्चात् तत्काल ही महर्षि पुनः तपस्या में लग गये, किन्तु सुकुमारी राज पुत्री देवहुति, राजघराने के सुख–सुविधाओं में पली परम साध्वी ने अपना तन, मन और प्राण सब कुछ पति की सेवा में लगा दिये। वे अपनी पतिदेव की छोटी–बड़ी सब सुविधाओं का निरन्तर ध्यान रखकर सेवा में लगी रहती। समिधाऐं कुश, पुष्प, फल तथा जल, वन में दूर–दूर तक जाकर उत्तम–उत्तम ढूंढकर लाती थी। आश्रम का झाड़–बुहार एवं गोमय से लीप–पोतकर साफ–सुन्दर तथा पंक्ति बनाये रखती। इस प्रकार कठिन परिश्रम, पति की सेवा हेतु करके अपना सुन्दर तथा सुकोमल शरीर सुखाकर काला कर लिया उनके सुन्दर सुकोमल चिकने नागिन जैसे लम्बे बाल जटाओं के रूप मे बदल गये। वह वस्त्र धारण कर स्वयं भी तपस्विनी बन गयी।

एक दिन नित्यकर्म तपश्चर्यादि से निवृत्त हो देवहुति को अपनी सेवा में लगे हुए देखकर महर्षि कर्दम जी बोले–राजकुमारी! मेरी सहधर्मिणी मैं तेरी सेवा से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुमने मेरी सेवा के लिये अपना सर्वस्य अर्पण कर दिया, अब मै तुमको इसका प्रतिफल देना चाहता हूँ।

महर्षि के योग–प्रभाव से तत्क्षण ही एक अत्यन्त अद्भुत दिव्य विमान वहाॅ प्रकट हो गया। उसमें सभी उपकरण स्वर्णं एवं बहुमूल्य रत्नों के थे, उसमें सरोवर, वन–उपवन, शयन–कक्ष, विश्रामकक्ष, क्रीडा–कक्ष, स्नान, श्रृगांर कक्ष, भोजनालय आदि अलौकिक

साधन विद्धमान थे। सहस्त्रों अलौकिक वस्त्राभूषण गंधयुक्त अंगरागादि के भरे हुए अनेक मन्जूषाओं युक्त कक्ष भी उस विमान में थे। उसी समय अनेक दासियां विमान से बाहर आयी और राजकुमारी देवहुति को विमान में लिवा ले गयी। दासियों ने विमान के स्नानकक्ष में देवहुति को दिव्य गन्धयुक्त अंगराग लगाकर दिव्य गंधयुक्त औषधियों से मिश्रित जल से स्नान कराया। दुर्लभ–दिव्य चमत्कृत नाना प्रकार वस्त्रालंकार से सुसज्जित किया। विमान के विविध सुख आनन्द प्रदान करने वाले सुन्दर सुसज्जित कक्ष में जहां महामुनि कर्दम जी विराजमान थे, दासियों ने देवहुति को प्रवेश कराया। देवहुति अपने परम तपोधन पति कर्दम जी पास जाकर बैठी। उस विमान में लोकोत्तर सब ही ऐश्वर्य विद्यमान थे।

ऐसे अद्‌भुत विमान पर निवास कर दुर्लभ सुखों का उपयोग करते हुए महर्षि ने मेरू पर्वत की घाटियों मे विहार किया जो लोकपालों की विहार भूमि है। इस परम तेजोमय विमान पर महर्षि अपनी सती धर्मपत्नी देवहुति के साथ सुरसन, नंदन, पुष्पभद्र और चैतरथ आदि अनेक देवों पवनों मानसरोवर तथा सभी लोकों में विचरत हुए विहार करते रहे, इस प्रकार अपने प्राणप्रिया देवहुति को समस्त वसुन्धरा का परिभ्रमण कराकर महर्षि कर्दम अपने आश्रम लौट आये। देवहुति के नौ कन्याएं उत्पन्न हुई, वे कन्याएं अनन्य सुन्दरी थीं और उनके प्रत्येक अंग से लाल कमल की सुगन्ध निकल रही थी।

एक दिन महिर्षि कर्दम जी ने अपनी सहधर्मिणी देवहुति से कहा, 'अब मै आपके कथनानुसार त्यागपूर्ण जीवन एवं तपश्चर्या के लिये वन में जाऊँगा। तुम्हारे पिताजी के सम्मुख यह पहले ही निश्चय हो गया था'।

महर्षि की बात सुनकर देवहुति अधीर हो गयी। नेत्रों में आशु भर आये किन्तु उनके मनोभावों को मन मे रखकर मुस्कुराते हुए अत्यन्त प्रेमपूर्वक मधुर वाणी में कहा– भगवन्! आपकी वाणी अक्षरशः पूर्ण हुई, तभी मै आपके शरण में हूँ। आप मुझे निर्भय और निश्चिन्त करें। मै दुर्बल सती हूँ, इन नौ कुमारियों को सत्पात्रों के हाथों में समर्पित करना है और आपके वन–गमन के पश्चात् मेरे जीवन–मृत्यू के दुःख का निवारण करने वाला कोई भी होना चाहिये। इसके पश्चात् अत्यन्त विनयपूर्वक निवेदन किया– संसार मे जिस मनुष्यों के कर्मो से न तो कोई तीर्थ–व्रत हुआ, न किसी प्रकार से भगवान की सेवा हुई, वह मनुष्य तो जीते–जी मुर्दे के समान है। मैं अवश्य ही भगवान् की माया से ठगी

गयी जो आप जैसे मुक्तिदाता पतिदेव को पाकर, भी मैंने अब तक संसार बंधन से छूटने की इच्छा नहीं की।

महर्षि कर्दमजी ने कहा – निर्दोष प्रिये देवी देवहुति! तुम्हारी यह वैराग्यमयी वाणी सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। मुझे इसी समय जगतपति भगवान श्री विष्णु के वचनों की स्मृति हो आयी। तुम सर्वथा निश्चिन्त हो जाओ। मेरा साथ व्यर्थ नहीं जायेगा। तुम्हारे अनेक प्रकार के व्रत धर्म कार्य सफल होकर रहेगें।

तुम संयम, नियम और तप करती हुई, श्री भगवान् का श्रृद्धा भक्तिपूर्वक भजन करो। प्रत्येक प्रकार से दान–धर्म का पालन करो। साक्षात् श्रीहरि तुम्हारे गर्भ से अवतीर्ण होकर मेरा–तुम्हारा और जगत का अशेष मंगल करेगें।

महर्षि कर्दमजी की यह वाणी सुनकर परम तपस्वी अपने पतिदेव के वचन पर सुदृढ विश्वास के कारण देवहुति की प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। वे मन वचन कर्मो द्वारा अखिल भुवनेश्वर श्री भगवान् पुरूषोत्तम का स्मरण, चिन्तन, भजन, कीर्तन, पूजन–आराधना एवं उपासना करने लगी।

अन्ततः परम पुनीत क्षण उपस्थित हुआ। जलाशयों एवं सरिताओं के जल निर्मल हो गये। शीतल मंद सुगन्धित समीर बहने लगा। दिशाएं स्वच्छ एवं प्रसन्न हो गई, पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र अलौकिक आनंद छा गया। आकाश से सुरगण दिव्य–पुष्पों की वर्षा करने लगी। परम सौभाग्यशालिनी माता देवहुति की गर्भ से देवाधिदेव भगवान् नारायण कपिलमुनि अवतरित हुए।

कुछ समय पश्चात महर्षि कर्दम जी ने लोकस्रष्टा ब्रह्मा जी के आदेशानुसार अपनी पवित्र कन्याओं में से कला नाम की कन्या महर्षि मरीचि को, अनुसुनिया अत्रि को, श्रृद्धा अंजिरा को, विर्भू: पुलस्त्य को, गति पुलहक को, प्रिया वृत्तु को, ख्याति भृगू को, अरून्धती वशिष्ठ को और शान्ति अथर्वा ऋषि को, सविधि विवाह द्वारा समर्पित कर दी। कन्याएं प्रसन्नतापूर्वक अपने–अपने पतियों के साथ चली गयी।

एक समय महर्षि कर्दम अपने पुत्र के रूप मे अवतरित ज्ञानावतार कपिल जी के पास पहुंच गये। उस समय भगवान कपिल एकान्त में ध्यान मग्न बैठे हुए थे। महर्षि ने उनके चरणों में आदरपूर्वक प्रणाम किया तो वे संकोच में पड़ गये। इस पर महर्षि कर्दमजी ने स्तुति करते हुए कहा–

आपका पाद–पीठ तत्वज्ञान की इच्छा से युक्त विद्वानों द्वारा सर्वदा वंदनीय है तथा आप ऐश्वर्य, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य और श्री इन छैः ऐश्वर्यों से पूर्ण है। मैं आपकी शरण में हूँ।

प्रभो! आपके अनुग्रह द्वारा मेरी कर्मराशि समाप्त हो गयी। मै देवर्षि पितृऋण से मुक्त हो गया। अब मेरा कुछ भी करना शेष नहीं रहा। आज तो मै सर्वस्त्र, त्यागकर सन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि आपका चिन्तन करता हुआ शान्तिपूर्वक जीवन का शेष श्वांस पूर्ण करूं। आपने कृपा करके मेरे यहां पुत्ररूप में अवतार ग्रहण किया है, यह आपकी दयालुता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अब आप मुझे आज्ञा प्रदान करें।

भगवान कपिलदेव ने महर्षि कर्दमजी को समुपदेश देते हुए कहा– मुने! मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम अपनी इच्छानुसार जाओ और सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हुए दुर्जय मृत्यु को जीत कर मोक्षपद प्राप्त करने के लिए भजन करो। मैं स्वयं प्रकाश और सम्पूर्ण जीवों के अन्तःकरण में मेरा साक्षात्कार कर लोगे, तब सब प्रकार के दुःखों से छूट कर निर्भय पद (मोक्ष) प्राप्त करोगें।

1. **एवं समुदित स्तेन कपिलेन प्रजापतिः।**
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगामह।
व्रतंस आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः।
निःसंगो, व्यचरत्क्षोर्णमनग्निरनिकेतनः।

भगवान कपिल के इस प्रकार कहने पर प्रजापति कर्दम जी उनकी परिक्रमा कर प्रसन्नतापूर्वक वन में चले गये वहां अंहिसामय सन्यास व्रत का पालन करते हुए वे एकमात्र भगवान की शरण में हो गये तथा अग्नि और आश्रम का त्याग करके निःसंगभाव से पृथ्वी पर विचरने लगे।

समदर्शिता एवं सर्वात्मभाव के कारण उनकी बुद्धि अन्तरमुखी और शान्त हो गयी। सर्वान्तर्यामी जगतपति भगवान् वासुदेव में चित्त स्थिर हो जाने के कारण वे सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो गये और करूणामय श्री भगवान् की भक्ति के प्रभाव से उन्होनें उनका दुर्लभ पद प्राप्त कर अपना जीवन और जन्म सफल कर दिया।

एक दिन माता देवहुति ने विचार किया कि उनके पति परमात्मा के परमपद् की प्राप्ति के लिये वन में चले गये हैं, पुत्रियां अपने–अपने पतिदेवों के आश्रय में सुखपूर्वक

रहने लग गयी है। मेरे एक मात्र पुत्र, जो साक्षात् परम पुरूष के ज्ञानावतार हैं। महर्षि कर्दम जी की धर्मपत्नि एवं भगवान कपिल की जननी होने के कारण वे आध्यात्म के सजीव मूर्ति भी हैं, अब उनके मन में भी अत्यधिक वैराग्य भर आया। अब उनको भी वृक्ष–लता, सर–सरिता के दर्शन में पशु–पक्षी सब में असारता और नरवरता के दर्शन होने लगे। देव दुर्लभ विमान के लोकोत्तर सुख एवं सहस्त्रों दास–दासियों की सेवा अनेक प्रकार के भौतिक सुख, सबको उन्होंने एक ही क्षण में त्याग दिया। पुत्र के रूप में प्रकट भगवान् कपिल मुनि बिन्दुसर के समीप लतामण्डप में ध्यानावस्थित बैठे थे। माता देवहुति उनके पास गयीं और उनके चरणों में श्रृद्धापूर्वक प्रणाम किया।

भगवान कपिल जी ने अत्यन्त सोच में पड़कर कहा– माता आप ! यह क्या कर रही हैं ? मैं आपका पुत्र हूँ, आप मुझे आज्ञा प्रदान करें। देवहुति ने कहा– प्रभो ! यह सर्वथा सत्य है कि आपने इस पृथ्वी पर मुझे ही जननी पद प्रतिष्ठित होने का गौरवपूर्ण सौभाग्य प्रदान किया है किन्तु लोक पितामह ने मुझे आपके प्राकट्य काल में ही मुझे बतला दिया था कि आप निखिल लोक पति साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर है। यह सर्वथा निर्भान्ति सत्य है। मैं विषयों की लालसाओं से घबरा गयी हूँ। इनकी कहीं कोई सीमा नहीं है। अब आप कृपा पूर्वक मेरे आज्ञानान्धकार को अपनी ज्ञानरश्मियों से नष्ट कर दें। मेरा देह गोहादि के प्रति महामोह आप दूर कर दें। मैं आपके चरणों में श्रृद्धायुक्त प्रणाम करती हूँ। मै। आपकी शरण हूँ, मुझ पर दया करके मुझे ज्ञानोपदेश कर मेरा कल्याण करो।

भगवान कपिल मुनि अपनी माता देवहुति की ऐसी परम् पवित्र वाणी सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने मन ही मन अपनी माता देवहुति की प्रशंसा की।

भगवान कपिल मुनि ने कहा– माता ! अध्यात्म योग के द्वारा ही मनुष्य अपना सुनिश्चित परम कल्याण साधन कर सकता है। वहाँ "स्व" और "पर" "राग" और द्वेष तथा दुःख और सुख ये सब समाप्त हो जाते हैं। जिस समय प्राणी अहंता और ममता से उत्पन्न होने वाले काम–क्रोधादि से मुक्त और पवित्र होता है, वह सुख दुःखादि द्वन्दों से मुक्त होकर समता की स्थिति में पहुंच जाता है। उस समय प्राणी ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति परिपूरित ह्रदय से आत्मा को प्रकृति से परे एकमात्र भेद रहित स्वयंप्रकाश, सूक्ष्म अखण्ड और उदासीन देखता है और प्रकृति को असमर्थ समझने लगता है। बुद्धिमान मुनि संग और आसक्ति को ही बन्धन का हेतु बतलाते है पर वही संग और आसक्ति

मुक्त पुरूषों में होने से मुक्ति का हेतु बन जाती है। भगवत्प्राप्ति के लिये भगवान् की भक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई सरल एवं सुगम साधन नहीं है।

योगीजन ज्ञान–वैराग्ययुक्त भक्तियोग के द्वारा शान्ति प्राप्त करने के लिये मेरे निर्भय चरण–कमलों का आश्रय लेते हैं, संसार में मनुष्य के लिये सबसे बड़ी कल्याण प्राप्ति यही है कि उसका चित्त तीव्र भक्ति योग के द्वारा मुझमें लगाकर स्थिर हो जाये।

सतयुग के प्रथम ऋषि– अवतार कपिल ने अपनी माता देवहुति को भक्ति, ज्ञान और योग का सविस्तार उपदेश दिया उन्होंने अपनी माता को पूर्ण आत्मज्ञान से सम्पन्न बना दिया और जब उसको निश्चय हो गया कि उनकी माता ने परमार्थ तत्व रहस्य को भली–भॉति समझ लिया है तब विवेक वैराग्य के सजीव मूर्तिमान विग्रह भगवान् कपिल ने त्याग का आदर्श स्थापित करने का निश्चय कर अपनी परम विरक्ता ब्रह्मवादिनी माता के चरणों में प्रणाम किया। माता देवहुति ने भी भगवान् कपिल की गुरूभाव से पूजा और परिक्रमा की तथा बार–बार उनके चरणों में प्रणाम किया।

मोह–माया रहित भगवान् कपिल ने अपनी वन्दनीय माता देवहूति को वहीं सरस्स्वती के पावन तट पर सिद्धाश्रम में छोड़ दिया और वहां से पूर्व एवं उत्तर दिशा की मध्य दिशा ईशान कोण की ओर चल दिया। ज्ञान सम्पन्न होने पर माता देवहूति पुत्र के विछोह से अधीर हो गयीं उनके नेत्रों से स्नेहाश्रु बहने लगे। उस समय उनके मन की स्थिति जैसी हो रही थी, उसका दर्शन नहीं किया जा सकता है।

भगवान कपिल के चले जाने पर उनकी माता देवहूति ने उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान से अपने चित्त को एकाग्र कर लिया। उन्होंने थोड़े दिनों में ही सिद्धि प्राप्त कर ली। अब उनको अपने शरीर का ज्ञान नहीं रहा। कुछ दिनों तक उनके शरीर की रक्षा भी औरों ने ही की। आत्मस्वरूप नित्यमुक्त परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त परम विरक्ता माता देवहूति का शरीर कब द्रवित होकर परम पुण्यमयी स्वच्छ सलिलपूरिता सरिता के रूप में परिणत होकर बहने लगा, वे स्वयं भी नहीं जान सकीं। माता देवहूति ने जिस स्थल पर सिद्धि प्राप्त की वह "सिद्धपुर" (मातृगया) के नाम से विख्यात है। शास्त्रों में इस क्षेत्र का नाम पवित्र धर्मारण्य कहा गया है।

धर्मारण्यं हि तत्पुण्यमादयं च भरतर्षम।
यत्र प्रविष्ट मात्रो वै सर्व पापैः प्रमुच्यते।।
अर्चयित्वा पितृन् देवान नियतो नियताशनः।
सर्वकाय समृद्धस्य यज्ञस्य फलमश्नुते।।

भरतश्रेष्ठ ! वह धर्मारण्य पुष्यमय आदि तीर्थ हैं। जहां व्यक्ति प्रवेश करते ही सभी पापों से मुक्त हो जाता है। यहां मितभोगी पुरूष नियमापूर्वक रहता हुआ देवता–पितरों की पूजा करके सर्वमनोरथप्रद यज्ञ का फल प्राप्त कर लेता है।

भगवान कपिल ने अपनी माता से विदा ली और पुण्यप्रदा गंगाजी के तट पर पहुंचे। फिर उनके तट पर सौन्दर्य देखते–देखते जहां गंगा–भागीरथी समुद्र में जाकर मिली हैं। जिसको गंगासागर कहते है, उस स्थान पर पहुंचने पर समुद्र ने शरीर धारण कर कपिल मुनि के चरणों में प्रणाम किया और सविधि पूजा की। आकाश से देवता तथा सिद्धगणों ने पुष्पवर्षा और स्तवन किया। भगवान कपिल ने उस स्थान पर निवास करने की इच्छा प्रकट की, जिसको जानकार समुद्र असीम प्रसन्न हुआ और अपना परम सौभाग्य समझा। भगवान कपिल उसी स्थान पर समुद्र के भीतर रहकर तपस्चरण करते हैं। प्रतिवर्ष एक दिन मकर संक्रान्ति के दिन समुद्र ने वहां से हट जाने का वचन दिया था, जिससे उस दिन वहां जाकर दर्शन करने वाले अक्षय पुण्यलाभ कर सकें।

भगवान कपिल मुनि सांख्य – दर्शन – शास्त्र के प्रवर्तक हैं तथा भागवत् धर्म के मुख्य बारह आचार्यों में से एक हैं। प्रतिवर्ष अब भी मकर संक्रान्ति के अवसर पर गंगासागर संगम स्थान पर हजारों स्त्री–पुरूष भगवान कपिल मुनि तथा उनके पुनीत आश्रम के दर्शन पूजन हेतु जाते हैं।

भगवान व्यास के रूप में अंशावतार

1. **द्वापरे समनु प्राप्ते तृतीये युगपर्यये।**
   जातः पराशराद्योगी वासव्यां कलया हरेः।।
2. **ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात्।**
   चक्रे वेदतरो शाखा दृष्वा पुसोल्पमेधरनः।।

इस वर्तमान चतुर्युगी के तीसरे युग द्वापर में महर्षि पाराशर के द्वारा वसुकन्या सत्यवती के गर्भ से भगवान् के कलावतार योगीराज व्यासजी का जन्म हुआ।

इनका जन्म यमुनाजी के द्वीप स्थान में हुआ था। इसलिये उनको पाराशर्य और द्वैपायन भी कहते हैं। उनका वर्ण नील था। अतएव कृष्णद्वैपायन नाम से प्रख्यात हैं। बदरी वन रहने के कारण वे वादरायण भी कहे जाते हैं। उन्हें ग्रन्थों और इतिहासों

सहित सम्पूर्ण वेद और परमात्म तत्व का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो गया था। जिसको दूसरे व्रत उपवास निरत यज्ञ, तप और वेदाध्ययन से भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

पृथ्वी पर पदार्पण करते ही अचिन्तय, शक्तिशाली व्यास ने अपनी जननी से कहा– आवश्यकता पड़ने पर तुम जब भी मुझे स्मरण करोगी, मैं अवश्य तुम्हारा दर्शन करूंगा और वे माता की आज्ञा से तत्पश्चरण में लग गये।

प्रारम्भ में वेद एक ही था। ऋषिवर अंगिरा ने उसमें से सरल तथा भौतिक उपयोग के छन्दों के पीछे से संगृहीत किया। वह संग्रह "अथर्वागिंरस या अथर्ववेद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परम् पुण्यमय सत्यवतीनंदन ने मनुष्यों की आयु और शक्ति अत्यन्त क्षीण होते देखकर वेदों का व्यास (विभाग) किया, इसलिए वे वेदव्यास नाम से प्रसिद्ध हुए।

फिर वेदार्थ दर्शन की शक्ति के साथ अनादि पुराण को लुप्त होते देखकर भगवान् कृष्ण, द्वैपायन व्यास ने पुराणों का प्रणयन किया। उन पुराणों में निष्ठा के अनुरूप आराध्य की प्रतिष्ठा कर उन्होने वेदार्थ चारों वर्णों के लिये सहज–सुलभ कर दिया। अष्टादश पुराणों के अतिरिक्त बहुत से उपपुराण तथा अन्य भी भगवान व्यासदेव द्वारा ही निर्मित है।

पुराण ग्रन्थों के अत्यन्त विस्तृत वर्ण प्राप्त हैं। कल्पभेद से उनमें चरित्र–भेद भी पाये जाते हैं। समस्त चरित्र इस कल्प के अनुरूप हों तथा समस्त धर्म–अर्थ–काम और मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त भी उनमें एकत्र हो जाये। इस निश्चय से वेदव्यास जी ने महान ग्रन्थ महाभारत की रचना की। महाभारत को पंचम वेद और कार्ष्णवेद भी कहा जाता है। श्रुतियों का सारांश भगवान व्यासजी ने महाभारत में एकत्र कर दिया है। इस महान ग्रन्थ–रत्न को भगवान व्यासजी अपने मुख से बोलते जाते थे और उसको साक्षात् आदि आराध्य भगवान गणेशजी अपनी कलम द्वारा लिखते गये हैं।

जब व्यास जी ने महाभारत लिखने के लिये भगवान गणेश जी से प्रार्थना की तब गणेश जी ने कहा –लिखते समय यदि मेरी लेखनी क्षणभर भी न रूके तो मै। यह कार्य कर सकता हूँ।

जीवमात्र के परम हितैषी व्यासजी ने कहा– मुझे यह स्वीकार है, किन्तु आप भी बिना समझे एक अक्षर भी न लिखें।

कहा जाता है कि भगवान व्यासजी ने आठ हजार आठ सौ ऐसे श्लोकों की रचना की, जिनका ठीक–ठीक अर्थ वे और उनके पुत्र श्री शुकदेव जी ही समझते हैं। जब गणेशजी ऐसे श्लोकों का अर्थ समझने के लिये कुछ देर रूक जाते थे, तब तक व्यास जी कितने ही श्लोकों की रचना कर डालते थे। इस प्रकार यह पंचम वेद लिखा गया।

भगवान द्वैपायन ने ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्ववेदन का अध्ययन क्रमशः अपने शिष्यों पैल, जैमिनि, वैशम्पायन और सुमन्तु को और महाभारत का अध्ययन रोमहर्षण सूत को कराया था।

सर्वश्रेष्ठ वरदायक, महान पुण्यमय यशस्वी वेद व्यास जी राजा जनमेजय के सर्पयज्ञ की दीक्षा लेने का संवाद पार वेद–वेदान्तों के पारंगत महा विद्वान शिष्यों के साथ उनके यज्ञ मण्डप में पहुंचे। उनको देखकर राजा जनमेजय अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक परासरनंदन व्यासजी को सुवर्णमय सिंहासन पर बैठाया, फिर उन्होंने पाद्य, अर्ध्य, आचमनीय द्वारा उनकी विधिवत् पूजा की।

राजाजनमेजय के अनुरोध से महर्षि व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन को वहां महाभारत सुनाने की आज्ञा दी। अतएव विप्रवर वैशम्पायन ने वेद–वेत्ताओं में श्रेष्ठ, त्रिकालदर्शी, परम पवित्र गुरूदेव व्यासजी के चरणों में प्रणाम किया और उन्होंने राजा जनमेजय, सभासद्गण तथा अन्य उपस्थित नरेशों के सम्मुख विस्तारपूर्वक व्यास–विरचित कौरव–पाण्डवों का सुविस्तृत इतिहास महाभारत सुनाया।

धृतराष्ट्र के पुत्रों द्वारा अधर्म पूर्वक पाण्डवों को राज्य से बहिष्कृत कर दिये जाने पर सर्वज्ञ व्यासजी वन में उनके पास पहुंचे। वहां उन्होंने कुन्ती सहित पाण्डवों को धैर्य बंधाया और उनकी एकचक्रा नगरी के समीप एक ब्राह्मण के घर में रहने की व्यवस्था कर दी। फिर उनको एक मास तक वहीं प्रतीक्षा करने का आदेश देकर वे लौट गये।

सत्यव्रत परायण व्यासजी एक माह के बाद पुनः पाण्डवों के पास पहुँचे। उनसे उनका कुशल संवाद पूंछकर धर्म सम्बन्धी और अर्थ–विषयक चर्चा की। फिर उन्होंने महाराज पृषत की पौत्री सती साध्वी कृष्णा के पूर्व जन्म का वृतान्त सुनाकर पाण्डवों को उसके स्वयंवर में पान्चाल नगर जाने की प्रेरणा दी। व्यासजी ने पाण्डवों से कहा कि पुत्री द्रौपती तुम्हीं लोगों की पत्नि नियत की गई है।

पाण्डव पान्चाल नगर पहुँचे और अर्जुन ने स्वयंवर में लक्ष्य भेदकर सती द्रौपती की जयमाला प्राप्त की किन्तु जब माता कुन्ती के आदेशानुसार युधिष्ठिर आदि पांचों

भाईयों ने द्रौपती के साथ, एक साथ विवाह करना चाहा, तब महाराज द्रुपद ने इसे अनुचित एवं अधर्म समझकर आपत्ति की। उसी समय निग्रहानुग्रह समर्थ व्यासजी वहॉ पहुॅच गये, वहॉ उन्होंने महाराजा द्रुपद को पाण्डवों एवं द्रौपदी के इस जीवन के पूर्व का विवरण ही नहीं बतलाया, उनको दिव्य दृष्टि प्रदान कर उनके परम् तेजस्वी स्वरूप का दर्शन भी करा दिया। फिर तो महाराज द्रुपद ने प्रसन्नतापूर्वक द्रौपदी का विवाह युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवों के साथ कर दिया। फिर जब महाराज युधिष्ठिर ने भगवान्, श्रीकृष्ण के सत्परामर्श से राजसूर्य यज्ञ की दीक्षा ली, तब परब्रह्म के ज्ञाता कृष्ण द्वैपायन व्यास जी परम् वेदज्ञ कृत्विजों के साथ वहां पहुंचे। उक्त यज्ञ में स्वयं उन्होंने ब्रह्मा का काम सम्भाला और यज्ञ सम्पन्न होने पर देवर्षि नारद, देवल और असित मुनि को आगे करके महाराज युधिष्ठिर का अभिषेक किया।

अपने पौत्र युधिष्ठिर से विदा होते समय व्यासजी ने अन्य बातों के अतिरिक्त उनसे कहा– राजन् आज से तेरह वर्ष बाद दुर्योधन के पातक तथा भीम और अर्जुन के पराक्रम से क्षत्रिय कुल का महासंहार होगा और उसके निमित्त तुम बनोगे, किन्तु इसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि काल सबके लिये अजेय है।

इतनी बात कहकर ज्ञानमूर्ति व्यासजी ने अपने वेदज्ञ शिष्यों सहित कैलाश पर्वत के लिये प्रस्थान किया।

शुद्धात्मा व्यासजी विपत्तिग्रस्त, सरल एवं निश्छल पाण्डवों की समय–समय पर पूरी तरह सहायता करते रहे। जब दुरात्मा दुर्योधन ने छलपूर्वक पाण्डवों का सर्वस्व अपहरण कर उन्हें बारह वर्षों तक के लिये वन भेज दिया तब उसे प्रसन्नता हुई, किन्तु उसे इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उसने कर्ण, दुश्शासन और शकुनि के परामर्श से अरण्यवासी पाण्डवों को मार डालने का निश्चय कर लिया तािि शस्त्रसज्ज हो वे रथ पर बैठे ही थे कि दिव्य दृष्टि सम्पन्न व्यास जी तत्काल वहां पहुंच गये और दुर्योधन को समझाकर उसे इस भयानक अपकर्म से विरत किया। इसके बाद वे तुरन्त महाराज धृतराष्ट्र के पास पहुंचे और उनसे कहा– वत्स् ! जैसे पाण्डु मेरे पुत्र हैं, वैसे तुम भी मेरे पुत्र हो, उसी प्रकार ज्ञान सम्पन्न विदुर जी भी हैं। मैं स्नेहवश ही तुम्हारे और सम्पूर्ण कौरवों के हित की बात करता हूॅ। तुम्हारा दुष्ट पुत्र दुर्योधन क्रूर ही नहीं अत्यन्त मूढ़ भी है। तनिक सोचो, छलपूर्वक राज्यलक्ष्मी वे वंचित पाण्डवों के मन में तेरह वर्षों तक अरण्यवास की यातना सहते–सहते तुम्हारे पुत्रों के प्रति कितना भयानक विष भर

भूतपूर्व कीट ने दयामय व्यासजी के अनुग्रह से अत्यन्त दुर्लभ सनातन ब्रह्मपद कर लिया।

महर्षि व्यास की शक्ति अलौकिक थी। एक बार जब वे वन में धृतराष्ट्र और गान्धारी से मिलने गये तब सपरिवार युधिष्ठिर भी वहीं उपस्थित थे। धृतराष्ट्र और गान्धारी पुत्र शोक से दुःखी थे। धृतराष्ट्र ने अपने कुटुम्बी और स्वजनों को देखने की इच्छा व्यक्त की। रात्रि में महर्षि व्यासजी के आदेशानुसार धृतराष्ट्र आदि गंगा तट पर पहुंचे। व्यासजी ने गंगा जल में प्रवेश किया और दिवंगत योद्धाओं को पुकारा। फिर तो जल में युद्ध काल का जैसा कोलाहल सुनायी देने लगा। साथ ही पाण्डव और कौरव दोनों पक्षों के योद्धा और राजकुमार, भीष्म और द्रोण के पीछे निकल आये। सबकी वेशभूषा, शस्त्र सज्जा, वाहन और ध्वजाएं पूर्ववत् थी। सभी ईर्ष्या–द्वेषशून्य दिव्य देहधारी दीख रहे थे। वे रात्रि में अपने स्नेही सम्बन्धियों से मिले और सूर्योदय के पूर्व भगवती भागीरथी में प्रवेश कर अपने–अपने लोकों के लिये चले गये।

जो स्त्रियां पतिलोक में जाना चाहती हों, इस समय गंगाजी डुबकी लगा लें। व्यासजी के ये वचन सुन जिन वीरगति प्राप्त युद्धाओं की पत्नियों ने गंगाजी में प्रवेश किया, वे दिव्य वस्त्र, आभूषणों से सुसज्जित होकर विमान में बैठकर और सबके देखते ही देखते अभीष्ट लोक के लिये प्रयाण कर गयीं।

नागयज्ञ की समाप्ति पर जब यह कथा परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने महर्षि वैशम्पायन से सुनी, तब उन्हें इस अद्‌भुत घटना पर सहसा विश्वास न हुआ और उन्होंने इस पर शंका की। वैशम्पायन ने उसका बड़ा ही युक्तियुक्त आध्यात्मिक समाधान किया। पर वे इस पर भी नहीं माने और कहा कि भगवान् व्यास यदि मेरे पिताजी को भी उसी क्यों रूप में ला दें तो में विश्वास कर सकता हूँ।

भगवान व्यास ने जो उस समय वहीं उपस्थित थे, जनमेजय पर पूर्ण कृपा की। फलतः श्रृंगी, शमीक एवं मंत्री आदि के साथ राजा परीक्षित वहां उसी रूप वय में प्रकट हो गये। अवमृथ यज्ञान्त स्नान में सब सम्मिलित भी हुए और वहीं अन्तर्हित हो गये। महर्षि व्यास मूर्तिमान धर्म थे। हिन्दू जाति तो उनकी चिर ऋणी रहेगी।

दया–धर्म–ज्ञान एवं तप की परमोज्जवल मूर्ति उन महामहिम व्यास जी महाराज के चरण–मलों में बार–बार प्रणाम करता हूँ।

भूतपूर्व कीट ने दयामय व्यासजी के अनुग्रह से अत्यन्त दुर्लभ सनातन ब्रह्मपद कर लिया।

महर्षि व्यास की शक्ति अलौकिक थी। एक बार जब वे वन में धृतराष्ट्र और गान्धारी से मिलने गये तब सपरिवार युधिष्ठिर भी वहीं उपस्थित थे। धृतराष्ट्र और गान्धारी पुत्र शोक से दुःखी थे। धृतराष्ट्र ने अपने कुटुम्बी और स्वजनों को देखने की इच्छा व्यक्त की। रात्रि में महर्षि व्यासजी के आदेशानुसार धृतराष्ट्र आदि गंगा तट पर पहुंचे। व्यासजी ने गंगा जल में प्रवेश किया और दिवंगत योद्धाओं को पुकारा। फिर तो जल में युद्ध काल का जैसा कोलाहल सुनायी देने लगा। साथ ही पाण्डव और कौरव दोनों पक्षों के योद्धा और राजकुमार, भीष्म और द्रोण के पीछे निकल आये। सबकी वेशभूषा, शस्त्र सज्जा, वाहन और ध्वजाएं पूर्ववत् थी। सभी ईर्ष्या–द्वेषशून्य दिव्य देहधारी दीख रहे थे। वे रात्रि में अपने स्नेही सम्बन्धियों से मिले और सूर्योदय के पूर्व भगवती भागीरथी में प्रवेश कर अपने–अपने लोकों के लिये चले गये।

जो स्त्रियां पतिलोक में जाना चाहती हों, इस समय गंगाजी डुबकी लगा लें। व्यासजी के ये वचन सुन जिन वीरगति प्राप्त युद्धाओं की पत्नियों ने गंगाजी में प्रवेश किया, वे दिव्य वस्त्र, आभूषणों से सुसज्जित होकर विमान में बैठकर और सबके देखते ही देखते अभीष्ट लोक के लिये प्रयाण कर गयीं।

नागयज्ञ की समाप्ति पर जब यह कथा परीक्षित के पुत्र जन्मेजय ने महर्षि वैशम्पायन से सुनी, तब उन्हें इस अद्भुत घटना पर सहसा विश्वास न हुआ और उन्होंने इस पर शंका की। वैशम्पायन ने उसका बड़ा ही युक्तियुक्त आध्यात्मिक समाधान किया। पर वे इस पर भी नहीं माने और कहा कि भगवान् व्यास यदि मेरे पिताजी को भी उसी क्यों रूप में ला दें तो में विश्वास कर सकता हूँ।

भगवान व्यास ने जो उस समय वहीं उपस्थित थे, जनमेजय पर पूर्ण कृपा की। फलतः श्रंगी, शमीक एवं मंत्री आदि के साथ राजा परीक्षित वहां उसी रूप वय में प्रकट हो गये। अवमृथ यज्ञान्त स्नान में सब सम्मिलित भी हुए और वहीं अन्तर्हित हो गये। महर्षि व्यास मूर्तिमान धर्म थे। हिन्दू जाति तो उनकी चिर ऋणी रहेगी।

दया–धर्म–ज्ञान एवं तप की परमोज्जवल मूर्ति उन महामहिम व्यास जी महाराज के चरण–मलों में बार–बार प्रणाम करता हूँ।

परशुराम के रूप में अंशावतार

1. **अवतारे षाकषमे पश्यन् ब्रह्मक्रुहो नृपान।**

   त्रिः सप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम्।।

महाराज रेणु की पुत्री, महर्षि जमदग्नि की पतिपरायण पत्नि के गर्भ से वसुमान् वसुषेण, वसु, विश्वावसु व सबसे छोटे परशुराम, ये पॉच पुत्र उत्पन्न हुए। परशुराम निखिल सृष्टि के नायक भगवान विष्णु के आवेशावतार हैं। परशुराम प्रकट होते ही भगवान् शंकर की आराधना के लिये कैलाश पर्वत को चले गये।

परशुराम की तत्पश्चर्या की भक्ति से देवाधिदेव महादेव अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उन्होंने वर मांगने के लिये कहा। परशुराम जी ने कहा– प्रभो आप कृपा करके मुझे कभी कुण्ठित नहीं होने वाला अमोघ अस्त्र प्रदान कीजिये।

भगवान शंकर ने उंनको अनेक अस्त्र–शस्त्रों सहित दिव्य परशु भगवान् शंकर के उसी महातेज से निर्मित हुआ था जिससे श्री विष्णु का सुदर्शन चन्द्र और देवराज इन्द्र का वज्र बना था। अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला अमोघ परशु धारण करने कारण भगवान राम का परशु सहित नाम परशुराम हो गया।

परशुराम जी बाल्यकाल से ही अत्यन्त वीर,पराक्रमी, अस्त्र–शस्त्र विद्या के प्रेमी त्यागी तपस्वी एवं सुन्दर थे। धनुर्वेद की विधिवत् शिक्षा उन्होंने अपने पिता से ही प्राप्त की थी। ये "रूरू" नामक मृग की चर्म धारण करते थे। कंधे पर धनुषवाण एवं हाथ में दिव्य परशु लेकर समय ये वीर–रस की सजीव पूर्ति प्रतीत होते थे। पिता के चरणों में इनकी अनन्य भक्ति थी।

एक समय की बात है, संध्या का समय था, परशुराम जी की माता रेणुका अपने आश्रम से जल लेने यमुनातट पर गयीं। संयोग वश उसी समय वहां गन्धर्वराज चित्ररथ अप्सराओं सहित आकर जल–क्रीड़ा करने लगा। रेणुका का भाव दूषित हो गया। यह बात महर्षि जामदग्नि को ज्ञात हो गई। माता रेणुका जल लेकर आश्रम पर लौटी तो क्रुद्ध महर्षि ने अपने उपस्थित चारों पुत्रों से कहा– इस पापिनी का वध कर दो। चारों पुत्र मातृ स्नेह के कारण चुपचाप खड़े रहे।

जब परशुराम जी वन से लौटकर आये, क्रुद्ध हुए महर्षि जमदग्नि ने आज्ञा दी, पुत्र तुम अपने दुष्टामाता और इन चारों भाइयों का सिर काट दो। परशुराम अपने पिता

के तपोबल से परिचित थे। उन्होंने तुरन्त फरसा उठाया और माता सहित चारों भाइयों का मस्तक काटकर अलग कर दिया।

महर्षि जमदग्नि का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने परशुरामजी जी से कहा धर्मज्ञ राम ! मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। तुम इच्छित वर मांग लो। परशुराम जी ने हाथ जोडकर कहा– पिताजी ! मेरी माता जीवित हो जायें, और उन्हें मेरे द्वारा मारे जाने की स्मृति न रहे। इनका वह मानस पाप भी समाप्त हो जाये। मेरे चारों भाई जीवित हो जायें। युद्ध में मेरा कोई सामना न कर सके और मैं दीर्घायु प्राप्त करूँ। महर्षि जमदग्नि ने प्रसन्न होकर कहा– ऐसा ही होगा, इन सबके सिर धड़ से सटा दो।

एक समय हैहयवशीय महाराज कृतवीर्य के परम पराक्रमी पुत्र महिष्मती पुरी के नरेश वीरवर सहस्त्रार्जुन महर्षि जमदग्नि के आश्रम में उपस्थित हुए। महर्षि ने अपनी कामधेनु के द्वारा सेना सहित राजा को अद्भुत स्वागत–सत्कार किया। वीर शिरोमणि सहस्त्रार्जुन ने महर्षि से कहा– यह कामधेनु मुझे दे दीजिये।

महर्षि जमदग्नि ने कहा– राजन् ! वह कामधेनु तो मेरे समस्त धर्म–कर्मों की जननी है। यज्ञिय सामग्री, देवता, पितर और अतिथियों का सत्कार ही नहीं इसी गौ के द्वारा मेरे सारे इहलौकिक तथा पारलौकिक कर्म सम्पन्न होते हैं। मैं इसको देने का विचार भी कैसे कर सकता हूँ।

राज्य शक्ति सम्पन्न नरेश सहस्त्रार्जुन ने बलपूर्वक कामधेनु को छीन लिया और सेना सहित अपनी महिष्मती पुरी की ओर चलते बने। सवत्सा कामधेनु ऋषि की ओर देख–देखकर रंभाती जा रही थी। दुष्ट क्षत्रिय लोग उसको दण्ड प्रहार करते हुए हॉके जा रहे थे।

परम वीतराग, क्षमा की साक्षात् मूर्ति ब्राह्मण ऋषि के नेत्रों में आंसू आ गये, किन्तु वह कुछ न बोल सका। चुपचाप भगवान् के श्री चरणों में बैठ गये।

समिधा लिये वन से लौटकर तपस्या की मूर्ति और परम तेजस्वी परशुराम जी ने अपनी माता के मुख से गौ हरण का संवाद सुना तो क्रोध से कम्पित हो उठे, और अपनी माता से कहा– मॉ ! मैं उस कृतघ्न को और उस दुष्ट को यथोचित दण्ड देकर कामधेनु को लेकर आऊँगा, तब ही पूज्य पिताजी के चरणों में प्रणाम निवेदन करूंगा।

माता रेणुका कुछ बोल भी न सकी कि उग्रता की प्रचण्ड मूर्ति परशुराम अत्यन्त शीघ्रता से धनुष अक्षय तुणीर और फरसा ले सहस्त्रार्जुन के पीछे दौड़े। तपस्या से दीप्त,

गोर वर्ण, बिखरी हुई काली जटायें, कटि में रूरू मृग का चर्म, कंधे पर धनुष, पीठ पर अक्षय तूणीर दाहिने हाथ में विद्युत समान चमचमाता दिव्य अमोघ परशु, हृदय में क्रोध की ज्वाला लिये और लाल नेत्रों से अंगार बरसाते, वायु वेग से दौड़ते हुए परशुराम जैसे महाकाल की प्रचण्ड मूर्ति सहस्त्रार्जुन को निगल जाने के लिए दौड़ रही हो।

उद्धत कार्तवीर्य अपनी महिष्मतीपुरी में प्रविष्ट भी नहीं हो पाया था कि पितृभक्त, परम तेजस्वी ऋषि कुमार परशुराम की गर्जना सुनकर सहम गया। अपने पीछे प्रज्जलित अग्नि तुल्य परशुराम को युद्ध के लिये आता हुआ देखकर उसने अत्यन्त उपेक्षा भाव अपने सैनिकों से कहा– ब्राह्मण कामधेनु लेने आया है, इसे मार डालो।

किन्तु जब उसके लक्षाधिक सशस्त्र वीर सैनिक कुछ ही क्षणों में परशुराम जी के प्रचण्ड परशु की भेंट हो गये तब उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, कार्तवीर्य एक साथ पाँच सौ धनुषों से पाँच सौ तीक्ष्ण शरों की वर्षा परशुरामजी पर की, परन्तु उनके एक ही धनुष के साथ छूटे हुए सहस्त्र, शरों की वर्षा से कार्तवीर्य के शर बीच में ही नष्ट हो गये और उनके अंग–प्रत्यंग से रक्त की धाराएं निकलने लगी। परमधीर सहस्त्रार्जुन घबड़ा गया। धनुर्बाण की सफलता की आशा न देख वह परशुराम जी को पर्वत के नीचे दबाकर मार डालने के लिये पर्वत ही उखाड़ना चाहता था कि मूषक पर विलाव की भाँति सहस्त्रार्जुन पर परशुराम जी चढ़ बैठे। उन्होंने उसकी सहस्त्र भुजाओं को काट कर पृथ्वी पर फेंक दिया और उसका सिर धड़ से अलग करके वे क्रोध के प्रज्वलित विग्रह की भाँति चारों ओर शत्रुओं की प्रतीक्षा करने लगे। सहस्त्रार्जुन के दस हजार पुत्र युद्धभूमि से भाग गये।

परशुरामजी ने एक ओर अत्यन्त भयभीत और चकित हुई कामधेनु को देखा तो जैसे पाषाण द्रवित हो गया हो, परशुराम जी के नेत्रों से दो बूंदे टपक पड़ी। उन्होंने तत्काल ही गाय के गलेक में अपनी लम्बी बाहें डाल दी तथा उस पर हाथ फेरकर स्नेहपूर्वक लेकर चल पड़े।

वत्स सहित कामधेनु को लेकर परशुराम जी आश्रम में पहुंचे और महर्षि जमदग्नि के चरणों में प्रणाम किया।

क्षमामूर्ति महर्षि जमदग्नि ने अशांत चित्त से परशुराम जी को कहा, "ब्राह्मण का सर्वोपरि धर्म क्षमा है।" सार्वभौम नृपति का वध ब्रह्म हत्या के समान पाप है, तुम्हारे लिए प्रायश्चित आवश्यक है।

परशुराम जी ने सिर झुकाकर शान्तिपूर्वक कहा– पिताजी ! स्वागत करने वाले तपस्वी ब्राह्मण की गायें बलपूर्वक छीन ले जाने वाले नराधम और परम पातकी का वध नहीं किन्तु आपके आदेशानुसार मैं प्रायश्चित अवश्य करूंगा। आपकी प्रत्येक आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।

महर्षि जमदग्नि के आदेशानुसार निस्पृह तपस्वी परशुराम ने अपने ह्रदय में भुवनमोहन परम प्रभु की मंगलमयी छवि का ध्यान एवं मुख से उनके सुमधुर नामों का धीरे–धीरे कीर्तन करते हुए तीर्थयात्रा के लिये प्रस्थान किया। परशुराम जी एक वर्ष के लिये सम्पूर्ण तीर्थों का पयर्टन करके अपने आश्रम में लौटे, तब उन्होंने माता–पिता के चरणों में अत्यन्त भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और उन्होंने भी अपने निष्पाप तपस्वी पहुत्र को अत्यन्त प्रसन्न होकर शुभाशीर्वाद प्रदान किया।

वीर सहस्त्रार्जुन के कायर पुत्र परशुराम जी के सम्मुख तो नहीं ठहर सके, प्राणभय से भाग गये, किन्तु वे पिता के वध का बदला लेने के लिये सर्वदा अवसर देखते रहते थे। एक बार जब उन्हें ज्ञात हुआ कि इस समय अपने चारों भाइयों सहित परशुराम वन में दूर चले गये हैं तब वे नर–राक्षस महर्षि जमदग्नि के आश्रम पर पहुंचे और चोरी से ध्यानरत महर्षि का मस्तक उतार लिया और उसको अपने साथ लेकर आश्रम को उजाड़ते हुए भाग गये।

हे राम ! हे राम! मंाता की इस प्रकार का करूण–क्रन्द को सुनकर परशुराम जी भागते हुए आश्रम पर पहॅुचे। उन्होंने अपने परम पूज्य पिता की हत्या देखी तो वे अपना अक्षय तूणीर सहित धनुष और परशु लेकर उनके पीछे दौड़े। महिष्मतीपुरी में पहुंचते ही वे सहस्त्रार्जुन के सहस्त्र पुत्रों को अपने अमोघ परशु से काटने लगे। साक्षात् काल की भॉति वे दुष्ट क्षत्रियों को काट रहे थे। महिष्मतीपुरी जैसे रक्त में डूब गयी। सहस्त्रार्जुन के पांच पुत्र जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और उर्जित किसी प्रकार छिपकर प्राण बचाकर भागने में सफल हो गये, परन्तु अत्युग्र परशुराम जी क्रूरकर्मी और पातवी क्षत्रियासें का संहार करने लगे। उन्होंने पृथ्वी क्षत्रिय शून्य समझकर अपने पिता के सिर कोक जोड़कर उनका विधिवत् संस्कार किया। महर्षि जामदग्नि को स्मृतिरूप संकल्पमय शरीर तथा सप्तऋषियों में सातवां स्थान मिला।

भगवान परशुराम जी ने पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियों से हीन कर दिया। वे क्षत्रियों को ढूंढ–ढूंढकर एक करते हुए और कुरुक्षेत्र में ले जाकर उनका वध कर

डालते। इस प्रकार परशुराम जी ने क्षत्रियों के रक्त से पॉच सरोवरों भर गये, वह स्थान "समन्त पंचक" नाम से प्रसिद्ध है।

उन सरोवरों के रक्तरूपी जल से भगवान् परशुराम ने अपने पितरों को तर्पण किया। परशुराम जी के कृचीक आदि पितृगण प्रसन्न होकर उनके समीप आये और उन्हें इच्छित वर मांगने के लियें कहा। अपने पितृों के चरणों में प्रणाम कर तपस्वी परशुराम जी ने प्रार्थना की–

1. **यदि में पितर प्रीता यद्यनुग्राह्जता मयि।**
   यच्च रोषभिभूतेन क्षत्रमुत्सदितं मया।।
   अतश्च पापान्मुच्येऽमे मे प्रार्थितो वरः।
   ह्रदाश्च तीर्थभूता मे भवेयुर्मुवि विश्रुताः।।

यदि आप सब हमारे पितर मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे अपना अनुग्रह पात्र समझते हैं तो मैनें जो क्रोधवश क्षत्रिय वंश का विध्वंश किया है, इस कुकर्म के पाप से मैं मुक्त हो जाऊँ। ये मेरे बनाये हुए सरोवर पृथ्वी में प्रसिद्ध तीर्थ हो जाये। यही वर मैं आप लोगों से चाहता हूँ। पितरों ने परशुराम जी से कहा– ऐसा ही होगा, किन्तु अब शेष क्षत्रिय वंश का संहार मत करना। उन्हें क्षमा कर देना।

अपने पूज्य पितरों द्वारा वरदान एवं आदेश प्राप्त कर जमदग्नि नंदन शान्त हो गये। उस समय सम्पूर्ण वसुन्धरा परशुराम जी के अधीन हो गये। उनका विरोध करने का साहस किसी में भी नहीं था। उन्हें राज्य सुख एवं वैभव की कोई कामना नहीं थी। फलतः उन्होंने सारी पृथ्वी कश्यप जी को दान कर दी।

जब श्री भगवान के आवेशावतार, परशुराम जी ने समूची पृथ्वी को तृण–तुल्य समझकर दान कर दिया। तब महर्षि कश्यप जी ने उनसे कहा– अब तुम मेरे लिए पृथ्वी छोड़ दो और अपने लिए समुद्र में स्थान मांग लो। परशुराम तुरन्त वहां से महैन्द्र पर्वत पर चले गये। उस समय महर्षि भारद्वाज के यशस्वी पुत्र द्रोण, धनुर्वेद, दिव्यास्त्रों एवं नीतिशास्त्र के ज्ञान के लिए भगवान परशुराम के पास महैन्द्र पर्वत पर पहुंचे।

द्रोण के परशुराम ज़ी को प्रणाम करते हुए अपना परिचय दिया – मैं आंदिरस कुल में उत्पन्न महर्षि भारद्वाज का अयोनिज पुत्र द्रोण हूँ। मैं धन की इच्छा से आपके पास आया हूँ, आप मुझ पर दया करें।

परमविरक्त परशुराम ने द्रोण से कहा–

1. **शरीरमात्रमेवारय मया समवशेषितम्।**

अस्त्राणि वा शरीर वा ब्रह्मन्नेकतयं वृणु।।

ब्राह्मण ! अब तो केवल मैनें अपने शरीर को ही बचा रखा है। शरीर के सिवाय सब कुछ दान कर दिया अतः अब तुम मेरे अस्त्रों अथवा यह शरीर दोनों में से किसी एक को मांग लो।

द्रोण ने निवेदन किया– प्रभो ! आप मुझे सम्पूर्ण अस्त्र, उनके प्रयोग तथा उपसंहार की विधि प्रदान करें।

रेणुकानंदन ने अपने सब अस्त्र द्रोण को दे दिये। आचार्य द्रोण, भृगुनंदन परशुराम ने दुर्लभ ब्रह्मास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त कर पृथ्वी के अत्यधिक शक्तिशाली बन गये।

राजा युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय महातपस्वी व्यास, देवल, असित तथा महर्षियों के सथ जमदग्नि ने भी उनका अभिषेक किया था।

भीष्म पितामह ने भी इनसे अस्त्र विद्या सीखी थी। उन्होंने अपने मुखाबिन्द से कहा था– एक बार मुझसे मेरे गुरू परम तेजस्वी परशुराम जी का युद्ध हुआ। परशुराम जी के पास रथ नहीं था। तब मैनें कहा 7 ब्राह्मण ! मैं रथ पर बैठा हूँ और आप पृथ्वी पर खड़े हैं। इस कारण मैं आपसे युद्ध नहीं करूंगा। मुझसे युद्ध करने के लिये आप कवच पहनकर रथरूढ़ हो जायें। तब परशुराम जी ने मुझसे युद्धभूमि लिये आप कवच पहन कर रथारूढ़ हो जायें। तब परशुराम जी ने मुझसे युद्धभूमि में मुस्कराते हुए कहा–

2. **रथो मे मेदिनी भीष्म वाहा वेदा सदश्ववत्।**

सूतश्च मातश्वा वै कवचं वेदमातरः।।

सुसंवीतो रणे तामिर्योत्स्येऽहं कुरूनंदन।।

कुरूनन्दन भीष्म ! मेरे लिए तो पृथ्वी ही रथ है, चारों वेद ही उत्तर अश्वों के समान मेरे वाहन हैं। उत्तम अश्वों के समान मेरे वाहन हैं, वायुदेव ही सारथी है और वेदमाताएं ही कवच हैं। इन सबसे आवृत्त एवं सुरक्षित होकर मैं रणक्षेत्र में युद्ध करूंगा।

इतना कहकर पराक्रमी परशुराम जी ने मुझे अपने तीक्ष्ण शरों से घेर लिया। उसम समय मैंने देखा– परशुराम जी एक नगर तुल्य विस्तृत अद्‌भुत एवं दिव्य विमान पर बैठे हैं। उससे दिव्य अश्व जुटे थे। वह स्वर्ग निर्मित रथ प्रत्येक रीति से सजा हुआ था। उसमें सम्पूर्ण श्रेष्ठ आयुध रखे हुए थे। परशुराम जी ने सूर्य–चन्द्र–खचित कवच

धारण कर रखा था और उनके प्रिय सखा वेदवेत्ता अकृतव्रण उसके सारथी का कार्य कर रहे थे।

परम् पराक्रमी, परम तेजस्वी, परम तपस्वी, परम पितृभक्त भगवान परशुराम जी के साथ मेरा भयानक संग्राम हुआं सुदृणों को समझने से युद्ध बंद हुआ तो मैने परमर्षि परशुरामजी के समीप जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया। परशुराम जी ने मुस्कराकर मुझसे कहा–

त्वत्समो नास्ति लोकेस्मिन् क्षत्रियः पृथिवीचरः।

गम्यतां भीष्म युद्धेऽस्मिंस्तोषितोऽहं भृशं त्वया।।

भीष्म ! इस जगत में भूतल पर विचरणे वाला कोई भी, क्षत्रिय तुम्हारे समान नहीं है।

भगवान वामन के रूप में कालांशावतार

1. **पेचदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः।**

   पदत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सु।।

बहुत प्राचीन काल में देवताओं और दैत्यों में संग्राम हुआ। देवता पराजित हो गए और दैत्यों ने अपना अधिकार जमा लिया।

देवराज इन्द्र का जब स्वर्ग पर अधिकार नहीं रहा, वह सुमेरूगिरि पर्वत पर अपनी माता अदिति के सुन्दर आश्रम पर गये। माता अदिति के चरणों में प्रणाम कर अपनी समस्त करूण कहानी सुनाई, माता अदिति के आदेशानुसार वहां से इन्द्र न अन्य देवताओं सहित परम तपस्वी मरीचिनंदन कश्यपजी के पास पहुँचकर प्रणाम करके हाथ जोड़कर उनको निवेदन किया– पिताजी ! महाबलशाली दैत्यराज बलि, युद्ध में हमारे लिए अजेय हो गया है, ऐसा उपाय करें जो हम देवताओं के लिये श्रेयस्कर व पुष्टिवर्धक हो।

महर्षि कश्यप जी अपने पुत्रों के साथ लेकर ब्रह्माजी की परमोत्कृष्ट विशाल सभा में पहुंचे और सर्वकाय प्रदायिनी सभा में पद्मासन पर विराजमान ब्रह्माजी के दर्शन के उनके चरणों में प्रणाम किया। ब्रह्मा जी के चरण स्पर्श करते ही वह सब पापों से मुक्त हो गये। कश्यप जी के साथ समस्त देवताओं को आया देखकर देवेश्वर ब्रह्माजी ने उनको उत्तर दिशा में स्थित क्षीरसागर के उत्तर तट पर जाकर कठिन तप करने की आज्ञा दी।

देवताओं ने पितामह ब्रह्माजी की आज्ञा शिरोधार्य कर प्रणाम किया और वे श्वेत द्वीप में पहुंचने के लिये उत्तर दिशा की ओर चल पड़े। थोड़ी देर में वे क्षीराब्धि के तट पर पहुंच गये। फिर वहां से सातों समुद्रों सहित पर्वतों तथा अनेक पुण्यसलिला नदियों के पार करके पृथ्वी के अंत में पहुंच गये। वहॉ चारों ओर अंधकार ही अंधकार व्याप्त था, वहॉ महर्षि कश्यपजी एक निष्कण्टक स्थान पर पहुंच कर ब्रह्मचर्य एवं मौनपूर्वक वीरासन में बैठ गये और उन्होंने सहस्त्र वार्षिक दिव्य व्रत की दीक्षा ले ली, क्योंकि उनको सहस्त्रनेत्रधारी योगाधिपति भगवान् नारायण की स्तुति द्वारा प्रसन्न करना था। इसी प्रकार से सभी देवता क्रमशः तपस्या में लीन हो गये। तदन्तर महर्षि कश्यप जी ने भगवान नारायण को प्रसन्न करने के लिये वेदोक्त "परमस्तव" नामक स्तोत्र द्वारा उनकी स्तुति की।

मरीचिपुत्र द्विजवर कश्यप जी के स्तवन करने से भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने गम्भीर वाणी में कहा– देवगण ! आपका मंगल हो। आप कोई अभीष्ट वर मांग लें। मैं आप लोगों पर प्रसन्न हूँ और वर देना चाहता हूँ।

कश्यपजी ने कहा– सुरश्रेष्ठ ! यदि आप हम सब पर प्रसन्न हैं तो मैं सब देवगण की ओर से एकमत होकर याचना करता हूँ कि आप स्वयं अदिति के गर्भ से इन्द्र के छोटे भाई के रूप में उत्पन्न हों। उधर वर प्राप्ति की कामना से देवमाता अदिति ने भी वर प्रदान करने वाले भगवान के पुत्र के रूप में अवतरित होने की प्रार्थना की, सभी देवताओं ने एक साथ निवेदन किया कि महेश्वर आप ही हम सब के त्राता, दाता और आश्रय बनें।

भगवान विष्णु ने कहा– देवगण ! आप लोगों के जो शत्रु हों वे सब एक साथ मिलकर भी मेरे सामने क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकेंगे। मैं यज्ञभाग के अग्रभोजी समस्त असुरों का संहार करके सभी देवताओं को "हव्याशी" तथा पितृगण को काव्याशी बनाऊंगा। सुरश्रेष्ठ ! आप जिस मार्ग से आये हैं उसी मार्ग से लौट जायें।

भगवान विष्णु की आज्ञा सुनकर कश्यप जी सहित सब देवगण प्रसन्न हो गये और भगवान विष्णु की पूजा और उन्हें प्रणाम कर कश्यपाश्रम की ओर चल पड़े। वहां पहुंच कर उन्होंने अदिति को सब बातें समझाकर घोर तपस्या के लिये तैयार कर लिया। उस समय महर्षियों को दैत्यों के द्वारा तिरस्कृत होते देखकर अदिति के मन में महानदुख हो रहा था। वह सोचती थी कि मेरा पुत्र उत्पन्न करना ही व्यर्थ हो गया इसलिये वो इन्द्रियों को वश में करके भगवान् विष्णु के आराधना में तत्पर हो गईं। अनेक प्रकार के व्रत–नियम पालन करते हुए सर्वव्यापी भगवान की स्तुति करने लगी।

अदिति के स्तवन से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु सबसे अलक्षित रहते हुए भी अदिति के सम्मुख प्रकट हो गये और बोले–

1. **देवमातर्भवत्या मे विज्ञातं चिरांक्षितम्।**
   यत् सपत्नैक्कृतश्रीणांच्याविताना स्वाधामतः।।

देवमाओं की जननी अदिति ! तुम्हारी चिरकालीन अभिलाषा को मैं जानता हूँ। शत्रुओं ने तुम्हारे पुत्रों की सम्पत्ति छीन ली है, उन्हें उनके लोक में खदेड़ दिया है।

2. **आत्मजान्सुसमृद्धांसवं प्रत्याकृतयशः श्रियः।**
   नाकपृष्ठमधिष्ठाय क्रीडतो द्रष्टुमिच्छसि।।

अदिति ! तुम चाहती हो कि तुम्हें पुत्र धन और शक्ति से समृद्ध हो जाएं उनकी कीर्ति और ऐश्वर्य उन्हें फिर से प्राप्त हो जाये तथा वे स्वर्ग पर अधिकार जमाकर पूर्ववत् बिहार करें।

महाभागा अदिति ! धर्मज्ञे ! तुम जिन–जिन वरों को प्राप्त करने की इच्छा रखती हो, वे सभी मेरी कृपा से निसंदेह तुम्हें मिल जायेंगे। मेरा दर्शन कभी निष्फल नहीं होता।

अदिति ने कहा– भक्तवत्सल प्रभो ! यदि आप मेरी भक्ति से प्रसन्न हैं तो मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरा पुत्र इन्द्र त्रिलोकी का अधिपति हो जाये और असुरों ने जो उसका राज्य भाग और यज्ञभाग हरण कर लिया है आपकी कृपा से मेरे पुत्र को प्राप्त हो जाये। केशव ! मेरे पुत्र का राज्य चला गया इसका मुझे लेखमात्र भी दुख नहीं है। परन्तु यज्ञभाग का चला जाना मेरे ह्रदय में शूल जैसा चुभ रहा है।

यह सुनकर भगवान् विष्णु वरदान देते हुए बोले–

3. **कृतः प्रसादो हिमया तव देवि यथोसितम्।**
स्वांशेन चैव ते गर्भे सम्भविष्यामि कश्यपात्।।
तव गर्भसमुद्रभुद्भूतस्ततस्ते ये सुरारयः।
तानहं निहिनिष्यामि निवृत्ता भव नन्दिनि।।

देवी तुम्हारी कामना के अनुसार ही मैं कार्य करूँगा। मैं महर्षि कश्यप के द्वारा अपने अंश से तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करूँगा। इस प्रकार तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न होने के पश्चात् जो कोई भी देवताओं के शत्रु होंगे उन सबका मैं संहार करूंगा। नंदिनी तुम शान्ति धार करो।

अदिति से इस प्रकार कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। उस समय अदिति को यह जानकर कि स्वयं भगवान् मेरे गर्भ में जन्म लेंगे, महान् हर्ष हुआ। वह बड़े प्रेम से अपने पतिदेव कश्यप जी की सेवा में लग गयीं। कश्यपजी भी तत्वदर्शी थे। उन्होंने समाधियोग के द्वारा यह जान लिया कि भगवान् का अंश उनके अंदर प्रविष्ट हो गया है। तब जैसे वायु लकड़ी में अग्नि का आधान करती है उसी प्रकार कश्यपजी ने समाहित चित्त से अपनी तपस्या द्वारा चिरसंचित वीर्य का अदिति में आधान किया। इस प्रकार भगवान् विष्णु अदिति के गर्भ में प्रविष्ट होकर क्रमशः बढ़ने लगे।

जब ब्रह्मा जी को यह बात ज्ञात हुई कि अदिति के गर्भ से स्वयं अविनाशी भगवान् आये हैं, तब उन्होंने भगवान् के रहस्यमय नामों की स्तुति की। समय व्यतीत

होता गया। गर्भ स्थिति के दशवें मास में भगवान् के प्रकट होने का समय आया। उस समय चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र मंगलप्रद योग में स्थित थे। ऐसे शुभ समय में भगवान् अदिति के गर्भ से प्रकट हुए। उस समय उनका अलौकिक स्वरूप था।

भगवान के चार भुजाएं थीं। जिनमें शंख, गदा, कमल और चक्र सुशोभित थे। शरीर पर पीताम्बर शोभा दे रहा था। कमल के समान विशाल सुन्दर नेत्र थे। श्याम वर्ण शरीर था। कानों में मकराकृत कुण्डलों की कान्ति से मुख–कमल की शोभा उज्जवलित हो रही थी। वक्षस्थल में श्रीवत्स चिन्ह, हाथों में कंगन, भुजाओं में बाजूबन्द, मस्तक पर किरीट, कमर में करधनी, लड़ियां और पैरों में सुन्दर नूपुर शोभा दे रहे थे। कण्ठ में कौस्तुममणि और गले में वनमाला की शोभा हो रही थी। वे अपनी प्रभा से प्रजापति कश्यप जी के अन्धकार को दूर कर रहे थे।

भगवान के जन्म लेने के समय दिशाएँ निर्मल हो गयी। नदी और सरोवरों का जल स्वच्छ हो गया। प्रजा के हृदय में असीम आनन्द छा रहा था। सब ऋतुयें एक साथ अपना–अपना गुण प्रकट कर रही थी। स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी गोद्विज और पर्वत इनके हृदय में हर्ष का संचार हो गया। शीतल मंद सुगन्ध वायु चलने लगी। आकाश निर्मल हो गया। सभी प्राणियों की बुद्धि धर्म में प्रवृत्त हो गई। आकाश में ढोल,मृदंग और नगाड़े बजने लगे। मुनि, देवता, मनु, पितर और अग्नि स्तुति करने लगे। सिद्ध विद्याधर, यक्ष नागगण और देवताओं के अनुन्धर नाचने गाने लगे। अदिति अपने गर्भ से प्रकट हुए, परमपुरूष परमात्मा को देखकर आश्चर्यचकित और परमानन्दित हो गयी। प्रजापति कश्यप जी भगवान को अपनी योगमाया से शरीर धारण किये हुए देख विस्मित हो गये और जय हो ! कहने लगे।

यत् तद वपुर्भाति विभूषणायुधै।
रव्यक्त चिद व्यक्तमधारयद्धारिः।।
वभूव तैनेव स वामनो वटुः।
संपश्यतोर्दिव्यगतिर्यथा नटः।।
तं वटुं वामनं दृष्ट्या मोदमाना महर्षयः।
कर्माणि कारयामासुः पुरस्कृत प्रजापतिम्।।

भगवान स्वयं अव्यक्त एवं चित्स्वरूप हैं। उन्होंने जो परम् कान्तिमय आभूषण एवं आयुधों से युक्त वह शरीर ग्रहण किया था उसी शरीर से कश्यप और अदिति को

देखते–देखते वामन ब्रह्मचारी का रूप धारण कर लिया, ठीक उसी प्रकार जैसे नट अपना वेष बदल लेता है। क्यों न हो भगवान् की लीला तो अद्भुत है ही। भगवान् को ब्रह्मचारी के रूप में देखकर महषियों को बड़ा आनन्द हुआ। उन लोगों ने कश्यप प्रजापति को आगे करके उनके जातकर्म आदि संस्कार करवाये।

महषियों ने उनका उपनयन संस्कार करवाया। उस समय वामन वटुक को महर्षि पुलह ने यज्ञोपवीत, पुलस्त्य ने दो श्वेत वस्त्र, अगस्त्य ने मृग चर्म, भारद्वाज ने मेखला ब्रह्मपुत्र महीचि ने पलाशदण्ड, वशिष्ठ ने अक्षसूत्र, अंगिय ने कुश का बना हुआ वस्त्र, सूर्य ने छत्र, भृगु ने एक जोड़ी खड़ाऊँ और बृहस्पति ने कमण्डलु प्रदान किया। इस प्रकार उपनयन संस्कार होने के पश्चात् वामन ने अंगों सहित वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करके एक ही मास में समस्त शास्त्रों में निपुणता प्राप्त कर ली। तब उन्होंने महर्षि भारद्वाज से कहा–

ब्रह्मन् व्रजामि देहनाज्ञां कुरूक्षेत्र महोदयम्।
तत्र दैत्यपतेः पुण्यो हयमेघः प्रर्वर्तते।।

ब्रह्मन ! मैं महोदय ! कमण्डल के अन्तर्गत परम पवित्र कुरूक्षेत्र में जाना चाहता हूँ वहां दैत्यराज बलि का अश्वमेघ यज्ञ हो रहा है। उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिए। महर्षि ने कहा– आपकी जैसी इच्छा हो उसी प्रकार करें, हम आपको क्या आज्ञा दें। हम लोग भी यहां से अब शीघ्र ही बलि के यज्ञ में जायेंगे। भगवान् वामन् ब्रह्मचारी के वेष में छत्र–दण्ड–कमण्डलु आदि से सुसज्जित होकर दैत्यराज बलि के यज्ञ में पहुंचने के लिये कुरूक्षेत्र की ओर चले। देवगुरू बृहस्पति उनके आगे–आगे मार्ग दिखाते जा रहे थे। इस प्रकार वे महषियों के साथ–साथ ही आगे बढ़ रहे थे।

उधर अमित तेजस्वी राजा बलि को दैत्यगुरू शुक्राचार्य ने विधिपूर्वक अश्वमेघ यज्ञ के लिये दीक्षित कर रखा था। दैत्यराज बलि श्वेत वस्त्र, श्वेत पुष्पों की माला, श्वेत चंदन से विभूषित हो रहे थे। उनकी पीठ पर मोरपंख, चिन्हित, मृगचर्म बंधा हुआ था। हे हयग्रीव, क्षुर, मय और बाणासुर आदि सदस्यों से घिरे हुए बैठे थे। उनकी पत्नि ऋषि–कन्या विन्ध्यावली भी जो सहस्त्रों नारियों में प्रधान थी, यज्ञकर्म मतें दीक्षित थी। शुक्राचार्य ने शुभ लक्षण सम्पन्न श्वेत वर्ण वाले यज्ञिप अश्व को पृथ्वी पर चिरने के लिये छोड़ दिया और तारकाक्ष को उसकी रक्षा में नियुक्त कर दिया था। इस प्रकार यज्ञ कार्य सुचारूरूप से चल रहा था। इतने में ही पृथ्वी कॉपने लगी, समुद्र में ज्वार–भाटा उठने

लगा, दिशाएं क्षुभित हो गयी। असुरों ने यज्ञभाग ग्रहण करना छोड़ दिया। यह देख बलि ने शुक्राचार्य जी से पूंछा गुरूदेव ! सहसा ये जो उत्पात खड़े हुए हैं इसका क्या कारण है?

तब वेदज्ञ श्रेष्ठ महाबुद्धिमान शुक्राचार्य जी दीर्घकाल तक ध्यानावस्थित होने के पश्चात कहने लगे—दानव श्रेष्ठ ! जगद्योनि सनातन परमात्मा श्री विष्णु भगवान् ने वामन रूप धार कर कश्यप के घर में अवतार लिया है, और निश्चय ही वे तुम्हारे इस यज्ञ में आ रहे हैं। उनके ही पाद—प्रक्षेप से यह पृथ्वी चलायमान हो रही है, पर्वत कांप रहे हैं और सागर क्षुब्ध हो उठे है। उन जगदीश्वर को वहन करने में समर्थ नहीं। उन्होंने ही देव, असुर, गन्धर्व, यज्ञ, राक्षस सहित समूची पृथ्वी को धारण कर रखा है तथा वे ही जल, अग्नि, पवन, आकाश और समस्त देवताओं, मनुष्यों एवं असुरों को भी धारण करते हैं। जगद्धाता विष्णु की यह माया है। उन्हीं के सनिधान से देवता यज्ञभोजी हो गये हैं, इसी कारण तीनों अग्नियों असुर भाग को ग्रहण नहीं कर रही है।

शुक्राचार्य की बात सुनकर अपार प्रसन्नता के कारणबलि के शरीर में रोमांच हो गया और बलि नेक कहा— ब्रह्मन् ! मैं धन्य हो गया। मैंने पूर्व जन्म में कोई महान् पुण्य कर्म किया है, जिसके फलस्वरूप स्वयं यज्ञपति भगवान् यज्ञ में पधार रहे हैं। मुझसे बढ़कर कौन दूसरा भाग्यशाली होगा ? क्योंकि योगी लोग सर्वदा योग साधना के द्वारा भगवान् के दर्शन की अभिलाषा करते हैं। वे ही भगवान् मेरे यज्ञ में पधारेंगे इसलिये गुरूदेव अब मेरे लिये जो कर्तव्य हो, उसकी आज्ञा—प्रदान करने की कृपा करें।

शुक्राचार्य ने कहा— दैत्यराज ! वेदों के प्रमाण से देवता ही यज्ञभाग के अधिकारी हैं, किन्तु तुमने दानवों को यज्ञभाग का भोक्ता बना दिया। ये भगवान् देवताओं का कार्य सम्पन्न करना चाहते हैं। अतः जब वे देवों की उन्नति के लिये उद्यत होकर तुमसे कोई याचना करें तो तुमको यहीं कहना चाहिये कि देव मैं यह देने में समर्थ नहीं हूँ।

बलि ने कहा— ब्रह्मन, जब मैं किसी याचक को निराश नहीं करता तब संसार के पाप समूह को नष्ट करने वाला भगवान् विष्णु के कुछ मांगने पर मैं मना कैसे कर सकता हूँ। जो भगवान् अनेक प्रकार व्रत, उपवास, तपस्याओं द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, वे ही भगवान् मेरे पास आकर कुछ मांग लेवें, इससे बढ़कर मेरे और कौन—सा अहोभाग्य हो सकता है। अहो ! शौचादि गुण सम्पन्न पुरूषों द्वारा जिनकी प्रसन्नता के लिये अपने भॉति के यज्ञानुष्ठान किये जाते हैं, वे ही भगवान् मुझसे याचना करेंगे। पूर्वजन्म में मैंने

कोई पुण्यकर्म और उत्तम प्रकार की तपस्या की है तो मेरे दिये हुए दान को स्वयं भगवान श्रीहरि ग्रहरण करेंगे। गुरूदेव ! परमेश्वर के पधारने पर मैं मना कैसे कर सकता हूँ। मेरे प्राण भले ही चले जायें किन्तु मैं मना नहीं कर सकता हूँ। यदि इस यज्ञ में भगवान ने मुझसे याचना कर ली तो निश्चय ही मेरा मनोरथ सफल हो जायेगा। वे भगवान गोविन्द मुझसे मेरा मस्तक भी मांग लें तो मैं उन्हें समर्पित कर दूंगा। निश्चय ही यज्ञ में पूजित हुए श्री हरि मुझ पर प्रसन्न हैं, इसलिये निःसन्देह वे दर्शन देकर मेरा कल्याण करने के लिये ही आ रहे हैं तो भी उन अच्युत के हाथ से मारा जाना मेरे लिये उत्तम होगा। मुनिश्रेष्ठ यह जानकर भगवान् गोविन्द के यहां आने पर आपको दान देने में विघ्न नहीं करना चाहिये।

यह सुनकर महर्षि शुक्राचार्य कुपित हो गये और बलि को शाप देते हुए बोले –

दृढ़ं पण्डितमान्यज्ञः स्तब्धोऽयस्मदुपेक्षया।

मच्छासनातिगो यस्त्वमचिरादभ्रश्यसे प्रियः।।

मूर्ख ! तू है तो अज्ञानी, परन्तु स्वयं को विद्वान मानता है। तूं मेरी उपेक्षा करके गर्व कर रहा है। तूने मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है, शीघ्र ही तूं अपनी लक्ष्मी खो बैठेगा।

महर्षि शुक्राचार्य इस प्रकार से कह ही रहे थे, तब ही भगवान ने वामनरूप धारण कर देवगुरू बृहस्पति को आगे करके सुरगण के साथ यज्ञशाला में प्रवेश किया। तब बलि ने अपने गुरू, शुक्राचार्य से फिर कहा– ब्रह्मन् जो सभी प्राणियों के हृदय के साक्षी, सर्वदेवमय और अचिन्त्य हैं वे ही भगवान् जनार्दन माया से वामन रूप धारण करके मुझसे इच्छानुसार याचना करने के लिये मेरे घर पधारे हैं।

इस प्रकार वामन भगवान को यज्ञशाला में प्रविष्ट हुआ देखकर उनके प्रभाव से सभी असुरगण विक्षुब्ध हो उठे और उनके तेज से उन सबकी कान्ति फीकी पड़ गई तथा उस महायज्ञ में पधारे हुए वशिष्ठ, विश्वामित्र, गर्ग और अन्यान्य महर्षि भय से थर्रा उठे परन्तु बलि ने अपने जन्म को सफल हुआ माना। उस समय संक्षुब्ध होने के कारण कोई किसी से कुछ बोल न सका। सभी ने उन देव–देवेश्वर की पूजा–अर्चना की। तब असुरराज बलि तथा मुनिश्वरों को विनम्र हुआ देखकर देव–देवेश्वर वामन रूपधारी साक्षात् भगवान विष्णु उस यज्ञ, अग्नि, यजमान, ऋत्विज्, यज्ञकर्मधिकारी सदस्य और द्रव्य–सम्पत्ति आदि की प्रशंसा करने लगे। यह सुनकर सभी ब्राह्मणों ने साधुवाद दिया।

तत्पश्चात जिनके शरीर में अति हर्ष होने के कारण रोमान्च हो रहा था, वे राजा बलि अर्ध्य लेकर भगवान् वामन की पूजा करने लगे। उस समय महारानी विन्ध्यावली अपने हाथों में झारी लेकर जल गिरा रही थीं और बलि, भगवान वामन के पैर धो रहे थे। यह देखकर चारों ओर से बलि के भाग्य की सराहना हो रही थी। दैत्यराज बलि ने भगवान् के चरणोदक को अपने सिर पर धारण करके कहा– विप्रवर ! सुनिये ! रत्नों का ढेर, गज, महिष, स्त्रियॉ, वस्त्र अलंकार, गाऐं अन्य बहुत सी धातुऍं एवं सारी पृथ्वी पूरी इन सम्पत्तियों में जो भी आपको प्रिय लगे अथवा अभिप्सित हों, वह कृपया बताने का कष्ट करें मैं सब देने को तैयार हूँ।

दैत्यराज बलि के ऐसे प्रेमवचन सुनकर वामन रूपधारी भगवान विष्णु मंद–मंद हॅसते हुए गम्भीर वाणी में बोले–

1. **ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम्।**
   सुवर्णग्रामरजादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम्।।

राजन् ! सुवर्ण ग्राम, रत्न आदि पदार्थ उनकी याचना करने वालों को दीजिए, मुझे तो अग्निहोत्र के लिये केवल तीन पग भूमि ही प्रदान कीजिये।

बलि ने कहा मानव श्रेष्ठ– तीन पग भूमि से आपका क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, आप सहस्त्रों पग क्यों नहीं मॉग लेते !

भगवान वामन ने कहा–

2. **एतैः पदै दैत्यपते कृतकृत्योस्मि मार्गणे।**
   अन्येषामर्थिनां वित्रमिच्छया दास्यते भवान्।।

दैत्यपते ! मैं इन तीन पगों की याचना से कृत–कृत्य हूँ, आप अन्य याचकों को उनकी इच्छानुसार दान दीजियेगा।

वामन के वचन सुनकर बलि ने अपनी पत्नि विन्ध्यावली एवं अपने पुत्र वाणासुर की ओर देखकर कहा– देखो ये केवल शरीर से ही वामन नहीं है, इनको वस्तुऐं भी छोटी ही प्रिय हैं, जो मुझसे तीन पग भूमि मांग रहे हैं। पत्नि और पुत्र से इस प्रकार कहकर बलि ने पुनः भगवान से कहा– विष्णो ! हाथी, घोड़े, पृथ्वी, दासियॉ और सुवर्ण आदि जो पदार्थ और जितनी भी मात्रा में चाहो आप इच्छानुसार मांग लें। आप याचक हैं और मैं जगत्पति दाता हूँ, ऐसी दशा में तीन पग पृथ्वी देने में भी लज्जा आती है,

इसलिए आप जरा स्वस्थ चित्त होकर याचना करें। मैं रसातल–भू–लोक अथवा स्वर्गलोक इनमें से कौन–सा लोक आपको प्रदान करूँ।

भगवान वामन ने कहा–

3. **गजाश्वभूहिरण्यादि तदर्थिभ्यः प्रदीपयताम।**
एतावदेव सम्प्रार्थी देहि राजन् पदत्रयम्।।

महात्मा वामन के इस प्रकार कहने पर दैत्यराज बलि ने लोटे से जल लेकर उन्हें तीन पग भूमि दान करने का संकल्प किया। उसी समय अद्भुत घटना घटी। भगवान् वामन के हाथ में उन्होंने अपना सर्व देवमय रूप प्रकट कर दिया। अब वे अखिल ज्योति तथा परमोत्कृष्ट तप की मूर्ति थे।

भगवान वामन के उस सर्वदेवमय स्वरूप को देखकर महाबली दैत्य उसी प्रकार उनके निकट नहीं जा सके, जैसे पतिंगे अग्नि के पास नहीं जाते हैं। इसी बीच महादैत्य चिक्षु ने भगवान् के पादांगुष्ठ को दांतों से पकड़ लिया। तब भगवान हरि ने अंगुष्ठ से ही उसकी ग्रीवा पर प्रहार किया और पैरों तथा हाथों के द्वारा ही सारे असुरों को मार डाला। तद्पश्चात उन्होंने एक पग नाप से चराचर सहित पृथ्वी अपने अधिकार में कर ली, पुनः दूसरा पग ऊपर की ओर बढ़ाने पर उस महारूप के दाहिना चन्द्रमा और बांये सूर्य आ गये। इस प्रकार उन्होंने आधा पग में स्वर्ग, और तपोलोक को तथा आधे से समूचे आकाश को आच्छादित कर लिया। तीसरे पग में स्वर्ग, और तपोलोक को तथा आधे से समूचे आकाश को आच्छादित कर लिया। तीसरे पग आगे बढ़ाने पर वह ब्रह्माण्डोदर का भेदन करके निरालोक प्रदेश में जा पहुंचे। इसी समय भगवान् के पैर आगे बढ़ने से अण्डकटाह के फूट से जाने विष्णु पर से जल की बूँद झरने लगीं। इसलिये तपस्वी लोग इसे "विष्णुपदी" कहकर स्तुति करते हैं। इस प्रकार तीसरे पैर के पूर्ण न होने पर सर्वव्यापी भगवान् बलि के निकट आकर क्रोध से भरे हुए होटों को कांपते हुए बोले–

1. **ऋणे भवसि दैत्येन्द्र बन्धनं घोरदर्शनम् ।**
त्वं पूरय पदं तन्में नो चेद बन्धं प्रतीच्द में ।।

दैत्येन्द्र ! अब तो तुम ऋणी हो गये, जिसके परिणामस्वरूप घोर बंधन की प्राप्ति होती है इसलिए या तो तुम मेरा तीसरा पैर पूरा करो अन्यथा मेरे बन्धन में आ जाओ ।

इस प्रकार से भगवान के वचनों को सुनकर बलिपुत्र वाणासुर ने हँसकर देव–देवेश्वर से निवेदन किया – जगतपते ! आप तो स्वयं भुवनेश्वरों के पिता है फिर भी थोड़ी सी पृथ्वी की याचना करके मेरे पिता से इतनी विस्तृत भूमि क्यों मॉग रहे हो ? विभो ! आपने जितने पृथ्वी की चना की थी, वह समस्त ही मेरे पिता ने आपको दे दी । आप वाक् चातुर्य द्वारा उन्हें क्यों बॉध रहे हैं ।

इन दैत्यराज ने पहले जिस शक्ति से आपके सामने प्रतिज्ञा की थी, उसी शक्ति से ये अब भी पूजा करने में समर्थ हैं, इसलिए प्रभो ! इन पर कृपा कीजिए, बंधन की आज्ञा मत दीजिये । श्रुतियों में आपके ही कहे ऐसे वचन मिलते हैं कि उत्तम पात्र, पवित्र देश और काल (पुण्य) में दिया हुआ दान विशेष सुखदायक होता है । वह पूरा का पूरा आप चक्रपाणि में वर्तमान है । जैसे भूमि का दान है, वहीं सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाले अजित–आत्मा देवदेवेश्वर आप पात्र हैं और कुरुक्षेत्र जैसा पुण्य प्रदेश है । देव ! आप तो स्वयं श्रुतियों के आदिकर्ता और व्यवस्थापक हैं, ऐसी दशा में भला मुझ जैसा मंदबुद्धि व्यक्ति आपको उचित–अनुचित की शिक्षा कैसे दे सकता है । लोकनाथ ! जब आपने वामन रूप में तीन पग भूमि की याचना की है तब फिर लोकवन्दित विश्वमयरूप से उसे क्यों ग्रहण कर रहे हैं । आप कृपया उसी रूप में दान भी ग्रहण कीजिये ।

विष्णों ! ऐसी स्थिति में मेरे पिता को क्यों बॉध रहे हैं । फिर भी विभो ! जैसी आपकी इच्छा हो वैसा कीजिये ।

बलिपुत्र वाणासुर की तर्कयुक्त विनय सुनकर भगवान वामन ने कहा– "बलिनंदन" तुमने जो अभी तर्कयुक्त बातें कहीं है, उसका सारयुकत उत्तर देता हूॅ । सुनो ! मैंने पहले तुम्हारे पिता से कहा था– राजन् मुझे मेरे प्रमाण से तीन पग भूमि प्रदान कीजिये । अतः मैंने उसी का पालन किया है । क्या तुम्हारे पिता असुर राज बलि मेरे प्रमाण को नहीं जानते थे, जो उन्होंने निःसंकोच होकर मेरे शरीर के नाप के अनुसार तीन पग भूमि दान कर दी ? यदि मैं चाहूँ तो एक ही डग से भूः भुवः आदि सभी लोकों को नाप लूॅ । मैने तो बलि के हित के लिये ही इनहें दो पग में नापा है । इसलिये तुम्हारे पिता ने जो मेरे हाथ में संकल्प का जल दिया है, उसके प्रभाव से मैंने उसको एक कल्प आयु प्रदान की है ।

1. **इन्द्रसेन महाराज याहि भो भद्रमस्तुते ।**

सुतलं स्वगर्गिभिः प्रार्थ्य ज्ञातिमिः परिवारितः ।।

न त्वमनि भविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे ।

त्वच्छासनातिगान् देत्यांश्चक्रं में सूदयिष्यति ।।

रक्षिष्ते सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम् ।

सदा सन्निहितं वीर तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ।।

महाराजा इन्द्रसेन ! तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम अपने भाई–बन्धुओं के साथ उस सुतलोक में जाओ, जिसे स्वर्गवासी भी चाहते रहते हैं। बड़े–बड़े लोकपाल भी अब तुम्हें पराजित नहीं कर सकते, दूसरों की तो बात ही क्या है? मैं तुम्हारी, तुम्हारे अनुचरों की ओर भोग–सामग्री की भी सब प्रकार से रक्षा करूंगा। वीरवर! तुम मुझे वहां सदा अपने पास ही देखोगें।

सनातन पुरूष भगवान के इस प्रकार कहने पर दैत्यराज बलि के नेत्रों में ऑसू छलक आये। प्रेम के उद्वेग से उनका गला भर आया। उन्होने हाथ जोड़कर गदगद वाणी से भगवान को निवेदन किया–

1. **अहो प्रणामाय कृतः समुद्यमः**
प्रपन्न भक्तार्थ विधौ समाहितः।
यल्लोकपालैस्त्वदनुग्रहरोड मरै
रत्नबद्ध पूर्वोडपरसदेडसुरेर्पितः।।

प्रभो! मैनें तो आपको पूरा प्रणाम भी नहीं किया, केवल प्रणाम करने मात्र की चेष्टा भर की। उसी से मुझे यह फल मिला, जो आपके चरणों के शरणागत भक्तों के प्राप्त होता है। बड़े–बड़ें लोकपाल और देवताओं पर जो आपने कृपा नहीं की, वह मुझ जैसे नीच असुर को सहज ही प्राप्त हो गयी।

इत्युक्ता हरिमानम्य ब्रह्माणं संभवं ततः।
विवेश सुतलं प्रीतो बलिर्मुक्तः सहासुरेः।।

इस प्रकार निवेदन करते ही बलि वरूण के पाश (बंधनों) से मुक्त हो गया तब उन्होने भगवान ब्रह्मा जी और शंकरजी को प्रणाम किया और इसके बाद बड़ी प्रसन्नता से असुरों सहित सुतलोक क़ी यात्रा की।

इस प्रकार भगवान मधुसूदन ने बलि से स्वर्ग का राज्य लेकर इन्द्र को दे दिया, देवगण को यज्ञभाग भोगी बना दिया, अदिति की कामना पूर्ण की और स्वयं उपेन्द्र बनकर वे सारे जगत का शासन करने लगे ।

भगवान विष्णु नर - नारायण रूप

1. तुर्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी
   भूत्वाऽऽत्मोपशमोपेतमकरोद् दुश्चरं तपः ।।

2. धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्या,
   नारायणो नर ऋषिप्रवरा प्रशान्तः ।
   नैष्कर्म्य लक्षणमुवाच चचार कर्म,
   योऽद्रयापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताड़घ्रिः ।।

दक्ष प्रजापति की कन्या का नाम मूर्ति था । वह धर्म की पत्नी थी । उनका गर्भ से भगवान ने ऋषि श्रेष्ठ शान्तात्मा "नर और नारायण" के रूप में अवतार लिया । उन्होंने आत्मतत्व का साक्षात्कार कराने वाले उस भगवदाराधनरूप कर्म का उपदेश किया, जो वास्तव में कर्म बन्धन से छुड़ाने वाला और नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कराने वाला है । उन्होंने स्वयं भी वैसे ही कर्म का अनुष्ठान किया । बड़े–बड़े ऋषि–मुनि उनके चरण–कमलों की सेवा करते रहते हैं । वे आज भी बदरिकाश्रम में उसी कर्म का आचरण करते हुए विराजमान है ।

बहुत प्राचीन समय की बात है इन्द्र को उनकी घोर तपस्या करते हुए देखकर आशंका हुई कि यह अपनी तपस्या के प्रभाव से मेरा धाम छीनना चाहते हैं इसलिए, उसने स्त्री, वसन्त आदि अनेक दल–बल के साथ कामदेव को उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये भेजा । कामदेव को भगवान् की महिमा का ज्ञान न था, इसलिए वह अप्सरागण तथा वसन्त मन्द–सुगन्ध वायु के साथ बदरिकाश्रम में जाकर स्त्रियों के कयक्ष वाणों से उन्हें घायल करने की चेष्टा करने लगा । आदिदेव नारायण ने यह जानकार कि, यह इन्द्र का कुचक्र है, भय से कॉपते हुए काम आदि को हंसकर कहा – कामदेव ! मलयमारूत और देवनांगनाओं ! तुम लोग डरो मत हमारा आतिथ्य स्वीकार करो । उस समय उनके मन में किसी प्रकार का अभिमान या आश्चर्य नहीं था । जब नर–नारायण ऋषि ने उन्हें अभयदान देते हुए इस प्रकार कहा तब कामदेव आदि के सिर लज्जा से झुक गये । उन्होंने दयालु भगवान नर–नारायण से कहा– प्रभो ! आपके लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि आप माया से परे और निर्विकार हैं । बड़े–बड़े आत्माराम और धीर पुरूष निरन्तर आपके चरण कमलों में प्रणाम करते हैं ।

आपके भक्त आपकी भक्ति के प्रभाव से देवताओं की राजधानी अमरावती का उल्लंघन करके आपके परमपद को प्राप्त होते हैं इसलिए जब वे भजन करने लगते हैं, तब देवता लोग तरह–तरह से उनकी साधना में विघ्न डालते हैं किन्तु जो लोग केवल कर्मकाण्ड में लगे रहकर यज्ञादि के द्वारा देवताओं को बलि के रूप में उनका भाग दे देते हैं, उन लोगों के मार्ग में वे किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालते । किन्तु प्रभो आपके भक्तजन उनके द्वारा उपस्थित की हुई विघ्न बाधाओं से गिरते नहीं । बल्कि आपके कर–कमलों की छत्र–छाया में रहते हुए वे विघ्नों के सिर पर पैर रखकर आगे बढ़ जाते हैं, अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होते । बहुत से लोग तो ऐसे हैं जो भूख–प्यास, गर्मी–सर्दी एवं आंधी–पानी के कष्टों को तथा रसेन्द्रिय और जनेन्द्रिय के वेगों को जो अपार समुद्रों के समान हैं । सह लेते हैं – पार कर जाते हैं ।

फिर भी वे उस क्रोध के वश में हो जाते हैं, जो गाय के खुर से बने गड्ढ़े के समान हैं और जिनसे कोई लाभ नहीं है, आत्मनाशक है । प्रभो ! वे इस प्रकार अपनी तपस्या को खो बैठते हैं ।

जब कामदेव, वसन्त आदि देवताओं ने इस प्रकार स्तुति की तब सर्वशक्तिमान भगवान् से अपने योगबल से उनके सामने बहुत सी रमणियॉ प्रकट करके दिखलाई जो अद्भुत रूप–लावण्य से सम्पन्न और विचित्र वस्त्रालंकारों से सुसज्जित थी, तथा भगवान् की सेवा कर रही थी । जब देवराज इन्द्र के अनुचरों ने उन लक्ष्मी जी के समान रूपती स्त्रियों को देखा, तब उनके महान सौन्दर्य के सामने उनका चेहा फीका पड़ गया, वे श्रीहीन होकर उनके शरीर से निकलने वाली दिव्य सुगन्ध से मोहित हो गये । अब उनका सिर झुक गया । देव–देवेश भगवान नारायण हँसते हुए से उनसे बोले – तुम लोग इनमें से किसी एक स्त्री को जो तुम्हारे अनुरूप हैं, ग्रहण कर लो । वह तुम्हारे स्वर्गलोग की शोभा बढ़ाने वाली होगी । देवराज इन्द्र के अनुचरों ने जो आज्ञा कहकर भगवान के आदेश को स्वीकार किया तथा उन्हें नमस्कार किया, फिर उनके द्वारा बनाई हुई स्त्रियों में से श्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी को आगे करके वे स्वर्गलोक में गये । वहॉ पहुँचकर उन्होंने इन्द्र को नमस्कार किया तथा भरी सभा में देवताओं के सामने भगवान् नर–नारायण के बल और प्रभाव का वर्णन किया । उसे सुनकर देवराज इन्द्र अत्यन्त भयभीत और चकित हो गये ।

काम, क्रोध और मोंह आदि शत्रु तपस्या में महान विघ्न करने वाले हैं, अहंकार और क्रोध के कारण तप का नाश हो जाता है । भगवान नर–नारायण ने पुराण तथा स्वयं सर्वसमर्थ होकर भी काम, क्रोध, मोह एवं अहंकार को जीतकर तपश्चर्या में लगे रहने का आदर्श स्थापित करने के लिये अवतार ग्रहण किया और निरन्तर कठोर तपस्या में लगे रहते हैं । शास्त्रों की मान्यता है कि वे प्रभु अब भी बदरिकाश्रम में तप कर रहे हैं । अधिकारी पुरूषों को अब भी दर्शन प्राप्त हो जाते हैं ।

मोहनीरूपधारी भगवान विष्णु

अपाययत्सुरानन्यान्मोहिन्या मोहयन स्त्रिया ।

बुढ़ापा, मृत्यु को दूर कर देने वाले अमृत को प्राप्त करने के लिये देवता और राक्षसों ने मिलकर क्षीरसागर का मंथन किया । अनेक अद्‌भुत अलौकित वस्तुओं के पश्चात जब श्वेत वस्त्रधारी भगवान धन्वन्तरि अमृत कलश लिये हुए प्रकट हुए, तब अमृत पीने के लिये आतुर दैत्य उनके हाथ से अमृत घट छीनकर भाग खड़े हुए । प्रत्येक राक्षस अद्‌भुत शक्ति और अमर कर देने वाला अमृत सर्वप्रथम पीने के लिए उत्सुक हो रहा था। किसी को धैर्य नहीं, किसी को विश्वास नहीं, सभी सशंकित और चिन्तित थे कि कहीं कोई समस्त अमृत न पी जाय । अमृत घट को प्राप्त करने के लिये परस्पर छीना–झपटी और तू–तू मैं–मैं करने लगे । सबके मन में यह भय हो रहा था, कहीं परस्पर की छीना–झपटी में अमृत गिर न जाये तो क्या होगा ? किन्तु अपना स्वार्थ छोड़कर वस्तुस्थिति का विचार कौन करता । राक्षसों से धर्म और न्याय की आशा व्यर्थ थी । दुर्बल और उदास देवता लोग निराश होकर दूर खड़े हो गये । कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा था ।

1. **तऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसोहृदाः ।**
   क्षिपन्तो दस्यु धर्माणां आयान्तीं ददृशः स्त्रियम् ।।
   अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः ।
   इति ते तामनिद्रुत्य प प्रच्छुर्जातहृच्छयाः ।।

असुर आपस में सद्‌भाव और प्रेम को छोड़कर एक–दूसरे की निंदा कर रहे थे और डाकू की तरह एक–दूसरे के हाथ से अमृत कलश छीन रहे थे । इसी बीच उन्होंने देखा एक बड़ी सुन्दर स्त्री उनकी ओर चली आ रही है । वे सोचने लगे, कैसा अनुपम सौन्दर्य है । शरीर में से कितनी अद्‌भुत छटा छिटक रही है । तनिक इसकी नयी उम्र तो देखो। बस अब वे लोग सब भूलकर उसके पास दौड़ गये । उन लोगों ने काममोहित होकर उससे पूछा –

कमलनयनी ! तुम कौन हो ! कहाँ से आ रही हो ! क्या करना चाहती हो ! सुन्दरी तुम किसकी कन्या हो ! तुम्हें देखकर हमारे मन में खलबली मच गयी है । उन मोहिनीरूपधारी भगवान् को देखकर सब के सब मोहित, सब के सब मुग्ध हो रहे थे । असुरों में अदभुत छटा बिखरेती उस त्रिलोक मोहिनी से कहा – सुन्दरी, तुम उचित

निर्णय कर दो । हम सब की कश्यप के पुत्र हैं और अमृत प्राप्ति के लिये हमने समान रूप से श्रम किया है । तुम इसको हम दैत्यों और देवताओं में निष्पक्ष भाव से वितरित कर दो, जिससे हमारा यह विवाद समाप्त हो जाये ।

असुरों ने जब इस प्रकार प्रार्थना की, तब लीला से स्त्री वेष–धारण करने वाले भगवान् ने तनिक मुस्कराकर और तिरछी–चितवन से उनकी ओर देखते हुए कहा –

2. **कथं कश्यपदायादाः पुंश्चल्यां ममि सद्गताः**

विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ।

आप लोग महर्षि कश्यप के पुत्र हैं और मैं कुलटा हूँ । आप लोग मुझ पर न्याय का भार क्यों डाल रहे हैं । विवेकी पुरूष स्वेच्छाचारिणी स्त्रियों का कभी विश्वास नहीं करते ।

मोहिनी की इस प्रकार से परिहास भरी वाणी सुनकर दैत्यों के मन में और भी विश्वास हो गया । उन लोगों ने रहस्यपूर्ण भाव से हंसकर अमृत का कलश मोहिनी के हाथ में दे दिया और कहा– हमें आप पर विश्वास है ।

अत्यन्त मोहग्रस्त करने वाली मोहिनी ने कहा– मेरी वितरण – पद्धति में यदि आप लोगों को तनिक भी आपत्ति न हो तो मैं यह कार्य कर सकती हूँ, अन्यथा यह काम आप लोग स्वयं कर लें ।

मोहिनी की ऐसी मीठी वाणी सुनकर दैत्यों ने कहा – हमें कोई आपत्ति नहीं है । आप निष्पक्ष भाव से अमृत वितरण करने में स्वतंत्र है ।

देवता और दैत्य दोनों ने एक दिन उपवास कर स्नान किया । नूतन वस्त्र धारण कर अग्नि में आहुतियॉं दी । ब्राह्मणों से स्वास्त्रिपाठ कराया और पूर्वाग्र कुशों के आसनों पर पृथक–पृथक पंक्ति में सब बैठ गये ।

असीम सौन्दर्यपूर्ण मोहिनी ने अपने सुन्दर कोमल हाथों में अमृत कलश ले लिया। सोने के बने हुए घुंघरू मोहिनी के आभूषणों में लगे हुए थे। उनकी एक साथ सुमधुर झंकार ने असुरों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। देवता और राक्षसों की दृष्टि भुवन–मोहिनी की ओर लग गयी। मोहिनी ने मुस्कुराते हुए राक्षसों की ओर दृष्टिपात किया। वे सब आनन्दमय हो गये।

मोहिनी रूप धारण किये विश्वात्मा भगवान् ने दैत्यों की ओर मुस्कान भरी दृष्टि से देखते हुए, दूर पंक्ति मे बैठे हुए देवताओं को अमृत पान कराना आरम्भ किया। त्रिलोक दुर्लभ मोहिनी की रूपराशि से मोहित तथा अपने स्वयं के वचनों से आबद्ध

असुरगण चुपचाप अपने क्रम की प्रतीक्षा कर रहे थे, उनको लावण्यमयी मोहिनी की प्रेम प्राप्ति की पूर्ण आशा थी ।

छाया पुत्र राहु को अपने क्रम की प्रतीक्षा का धैर्य नहीं रहा और वह तत्काल देवताओं का वेष धारण कर सूर्य–चन्द्रमा के पास बैठ गया । उसको क्रमानुसार अमृत मिला । अमृत उसके कण्ठ के नीचे उतर भी नहीं पाया था कि सूर्य–चन्द्रमा दोनों देवताओं ने इंगित कर दिया और दूसरे ही क्षण भगवान विष्णु के अक्षम्य तीव्र चक्र द्वारा उनका मस्तक कट कर पृथ्वी पर गिर पड़ा ।

दैत्यों ने आश्चर्य चकित दृष्टि से देखा तो मोहिनी रूपधारी के स्थान पर शंख, चक्र, गदा–पद्मधारी सजल मेघ श्यामवर्ण भगवान विष्णु खड़े दिखायी दिये । असुरों का मोह भंग हुआ । उन्होंने क्रोधित होकर शस्त्र उठा लिये और भयानक देवासुर संग्राम शुरू हो गया ।

यह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान मायापति की लीला का ही विलास है । काम के वशीभूत सभी प्रभु के उस माया रूप पर लुब्ध और आकृष्ट हैं । आसुरी भाव से अमर कर देने वाला अमृत कदापि प्राप्त होना सम्भव नहीं है । वह तो दयामय भगवान की निष्काम चरण सेवा, शरण द्वारा सम्भव है –

1. **असदविषयमङ्‌घ्रि भावागम्यं प्रपन्ना।**
नमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमश्यम्।।
कपटयुवतिवेषो मोहायन्यः सुरारीं।
स्तमहामुपसृतानों कामपूरं नतोस्मि।

दुष्ट पुरूषों को भगवान के चरण कमलों की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। वे तो भक्ति भाव से युक्त पुरूष को ही प्राप्त होते है। इसी से उन्होनें स्त्री का मायामय मोहनी रूप धारण कर दैत्यों को मोहित किया और अपने चरण–कमलों के शरणागत देवताओं को समुद्र मंथन द्वारा निकले हुए अमृत का पान कराया केवल उन्हीं की बात नहीं, चाहें जो भी उनके चरणों की शरण ग्रहण करें, वे उनकी समस्त कामनाऍ पूर्ण कर देते है।

भगवान धन्वन्तरि अंशावतार

1. धान्वन्तरं द्वादशमोपस्थितिः ।

श्री भगवान विष्णु की आज्ञानुसार देवताओं सहित महाराज इन्द्र दैत्यराज बलि के पास पहुँचे, सागर मंधन द्वारा अमृत प्राप्त करने का महत्व बतलाकर देवताओं में दैत्यों को अपना मित्र बनाकर समुद्र मंथन का प्रस्ताव स्वीकार किया, तदनन्तर देवता और दैत्यों ने मिलकर अनेक प्रकार की उत्तम औषधियों को क्षीर–सागर में डाल दिया। मन्दराचल पर्वत को मथानी और वासुकि नाग को नीति बनाकर समुद्र–मंथन आरम्भ कर दिया, निराधार मन्दराचल समुद्र में डूबने लगा । उस समय भगवान् विष्णु कच्छप का रूप धारण कर मन्दराचल को अपनी पीठ पर धारण करने के लिये समुद्रतल में चले गये और मन्दराचल को अपनी पीठ पर स्थापित कर डूबने से बचा लिया । जब भगवान् ने देखा कि मन्दराचल इधर–उधर डोल रहा है, समुद्र का मंथन ठीक नहीं हो रहा है, तब स्वयं मन्दराचल को अपनी शक्ति द्वारा ऊपर से दबाकर समुद्र मंथन कार्य कराया, हलाहल विष, कामधेनु, ऐरावत हाथी, उच्चैश्रवा, अश्व, अप्सराएँ, कौस्तुम मणि, वारूणि शंख, कल्पवृक्ष, चन्द्रमा, लक्ष्मी जी और कदली वृक्ष उससे प्रकट हो चुके थे। अमृत प्राप्ति के लिए बार–बार समुद्र मंथन हो रहा था। तब अपने हाथ में अमृत कलश लिये हुए भगवान धन्वन्तरि साक्षात विष्णु के अंश से प्रकट हुए, इस कारण उनका स्वरूप भी मेघ वर्ण श्याम विष्णु के समान एवं दिव्य था। भगवान धन्वन्तरि शौर्य एवं प्रतिभासम्पन्न थे।

अमृत का वितरण हो जाने के पश्चात इन्द्र ने उनसे देवताओं का वैद्यराज पद स्वीकार कराकर अपनी अमरावती पुरी में रहने की प्रार्थना की। भगवान धन्वन्तरि इन्द्र की इस इच्छा को स्वीकार कर, वहीं रहने लग गये। कुछ समय पश्चात् पृथ्वी पर व्याधियाँ फैली, विविध प्रकार की व्याधियों द्वारा लोग कष्ट पाने लगे। उस समय इन्द्र की प्रार्थना से ही भगवान धन्वन्तरि ने काशीराज दिवोदास के रूप में पृथ्वी पर अवतार धारण किया। उनको आदिदेव, अमरवर अमृत योनि एवं अब्ज आदि नामों से सम्बोधित किया गया।

जगत–कल्याणार्थ, वृद्ध अवस्था एवं व्याधियों को नष्ट करने के लिये ही स्वयं भगवान् श्री विष्णु ने धन्वन्तरि के रूप में कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन अवतार लिया था। तब से ही आयुर्वेद प्रेमी भगवान् धन्वन्तरि के भक्तगण इसी तिथि को प्रतिवर्ष धन्वन्तरि जयन्ती महोत्सव मनाते हैं।

देवान् कृशनसुर संघ निपीडितागांन्,
दृष्ट्वा दयालुमृतं वितरीतु कामः ।
पाथोधिमन्थनविधौ प्रकटोऽभवद्यो,
धन्वन्तरिः स भगवानवतार सदा नः ।

असुरों के द्वारा पीड़ित होने से जो दुर्बल हो रहे थे, उन देवताओं को अमृत पिलाने की इच्छा से ही भगवान धन्वन्तरि समुद्र–मंथन द्वारा प्रकट हुए थे । वे हमारी सर्वदा रक्षा करें ।

मर्यादा पुरूषोत्तम श्री राम अवतार के रूप में स्वयं भगवान

1. नरदेवत्वमापत्र सुरकार्य चिकीषेया ।
   समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याव्यतः परम ।।
2. कर्मयोगेश्वरं धीरं रामं सत्यवतां वरम् ।
   रक्षितारं च धर्मस्य वन्देहं पुरूषोत्तमम् ।।
   हन्तारं भयविध्यनानां दातारं सुखसम्पदाम् ।
   त्रातारं साधुलोकानां नेतारं राममाश्रये ।।

जो कर्मयोगेश्वर धैर्य सम्पन्न सत्यवादियों में सर्वश्रेष्ठ और धर्म के रक्षक हैं, उन पुरूषोत्तम श्री राम की मैं वन्दना करता हूॅ। जो भय और विध्नों के नाश करने वाले, सुख–सम्पत्ति के दाता और साधु समाज के रक्षक हैं, उन लोकनायक श्रीराम का मैं आश्रय ग्रहण करता हूॅ।

प्राचीन काल की बात है। ब्रह्मा आदि देवताओं के प्रार्थना करने पर साक्षात लक्ष्मीपति भगवान विष्णु ही राजा दशरथ के चार पुत्रों स्वरूपों में प्रकट हुए, तत्पश्चात कुछ काल के अनन्तर मुनीश्वर विश्वामित्र अयोध्या में आये। उन्होंने आपने यज्ञ की रक्षा के लिये श्रीराम और लक्ष्मण को राजा दशरथ से मांगा। तब राजा दशरथ ने मुनि के शाप से डरकर अपने प्राणों से भी प्रिय पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण को उनको सौंप दिया। तब वे दोनों भाई मुनीश्वर विश्वामित्र के यज्ञ में जाकर उसकी रक्षा करने लगे। श्रीराम ने ताड़का सहित सुबाहू को मारकर मारीच को मानवशास्त्र से दूर फेंक दिया, फिर मुनि ने उनका बड़ा सत्कार किया। तदनन्तर विश्वामित्र जी उन्हें राजा विदेह के नगर मिथिला में ले गये। वहॉ महाराज जनक ने विश्वामित्र जी भली–भांति सत्कार करके उनसे पूछा– महर्षि! ये दोनों बालक किस क्षत्रिय कुल नरेश के पुत्र हैं। मुनिवर

विश्वामित्र जी ने राजा जनक को बतलाया कि ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण अयोध्या नरेश महाराज दशरथ के पुत्र हैं। यह सुनकर विदेहराज जनक बड़े प्रसन्न हुए फिर महर्षि विश्वामित्र जनक से बोले – इन्हें धनुष दिखलाओ जो महादेव जी की धरोहर है और सीता के स्वयंवर के तोड़ने के लिए रखा है। विश्वामित्र जी का यह वचन सुनकर राजा जनक तीन सौ सेवकों द्वारा उस धनुष को मंगवाकर आदरपूर्वक उन्हें दिखलाया। श्रीराम ने महादेव के उस धनुष को तुरन्त ही बांये हाथ से उठा लिया और प्रत्यन्चा चढ़ाकर खींचते हुए सहसा ही उसे तोड़ दिया। इससे मिथिला नरेश को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीराम और लक्ष्मण की पूजा करके उन्हें वैदिक विधि के अनुसार अपनी दोनों कन्याएं दे दी। मुनिवर विश्वामित्र से यह जानकर कि राजा दशरथ के दो पुत्र और हैं जनक ने उन पुत्रों के साथ महाराज दशरथ को बुलवाया और अपने भाई की दो पुत्रियों का उन दोनों भाईयों के साथ विवाह करवाया। तद्नन्तर मिथिला नरेश के द्वारा भली–भॉति सम्मानित हो मुनि की आज्ञा ले अपने चारों पुत्रों के साथ महाराज दशरथ अपने अयोध्यापुरी के लिये प्रस्थित हुए। मार्ग में श्रीरामचन्द्र जी के भृगुवंशी परशुराम के गर्व को शान्त करके और पिता तथा भाईयों के साथ बहुत वर्षों तक रहे।

तदनन्तर राजा दशरथ यह देखकर कि मेरे पुत्र श्रीराम जानने योग्य सभी तत्वों को जान चुके हैं, उन्हें प्रसन्नता पूर्वक उन्हें युवराज पद पर अभिसिक्त करने के लिये उद्यत हुए। यह जानकर राजा की सबसे अधिक प्रियतमा छोटी रानी कैकेयी ने हठ पूर्वक राम के राज्याभिषेक को रोका और अपने पुत्र भरत के लिये उस अभिषेक को पसन्द किया। तब माता कैकेयी की प्रसन्नता के लिए पिता की आज्ञा लेकर रामचन्द्र जी अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मण के साथ चित्रकूट पर्वत पर चले गये और वहीं मुनिवेष धारण करके उन्होंने कुछ काल तक निवास किया।

इधर भरत जी पिता के मरने का समाचार सुनकर अपने नाना के घर से अयोध्या आये। यहॉ उन्हें ज्ञात हुआ कि पिताजी हे राम ! की रट लगाते हुए परलोकवासी हुए हैं, तब भरत ने कैकेयी को धिक्कारकर श्रीरामचन्द्र जी को वन से लौटा लाने के लिए प्रस्थान किया। भरत जी के साथ माताऐ, गुरू वशिष्ठ जी, महाराज जनक जी, छोटे भाई शत्रुघन एवं सभी राज्यमंत्री भी चित्रकूट पहुँचे और धर्म के शाश्वत् स्तम्भ श्रीरामचन्द्र जी को अपने साथ अयोध्या चलने के लिये अनुरोध करते रहे, किन्तु भरत प्राणाधार श्रीराम

की प्रतिज्ञापूर्ति के दृढ़ निश्चय को समझकर उनके कुलगुरू महात्मा वशिष्ठ जी ने भरत जी को एकान्त में ले जाकर उनके सम्मुख गुप्त रहस्य बतलाते हुए कहा–

रामो नारायणः साक्षाद् ब्राह्मणः याचिता पुरा,
रावणस्य वधार्याय जातो दशरथात्मजः ।
योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी,
शेषोऽपि लक्ष्मणो जातो राममन्वेति सर्वदा ।
रावणं हन्तुकामास्ते गमिष्यनि न संशयः,
कैकय्या वरदानादि यहं युनिष्ठुरभषणम् ।
सर्वं देवकृतं नो चे देवं सभाषयत् कथम्,
तस्मात्यजा ग्रहं तात रामस्य विनिवर्तने ।

भगवान रास साक्षात नारायण है। पूर्वकाल में ब्रह्मा जी ने प्रार्थना करने पर उन्होंने रावण को मारने के लिये दशरथ के यहॉ पुत्ररूप में जन्म लिया है । शेष जी लक्ष्मण रूप से उत्पन्न होकर सदा उनका अनुगमन कर रहे हैं। वे रावण को मारना चाहते हैं, इसलिए निःसंदेह वन को जायेंगे। कैकयी को जो कुछ भी वरदान मांगना और निष्ठुर कार्य आदि हैं वे सब देवताओं की प्रेरणा से ही हुए हैं, नहीं तो वह ऐसे वचन कैसे बोल सकती थी। इसलिए हे तात राम को लौटाने का आग्रह छोड़ दो।

अन्ततः भरत जी राम की आज्ञा को मानकर, श्रीराम जी के चरण पादुका राज्य सिंहासन पर स्थापित कर राज्य चलाने की अनुमति पाकर अयोध्या को लौट आये।

श्रीराम क्रमशः अत्रि, सुतीक्ष्ण तथा अगस्त्य के आश्रमों पर गये। इन सब स्थानों में बारह वर्ष बिताकर श्री रघुनाथ जी भाई लक्ष्मण और पत्नी के साथ पंचवटी में गये और वहॉ रहने लगे। जनस्थान में शूर्पणखा नाम की राक्षसी रहती थी।

एक दिन श्रीराम, लक्ष्मण और सीता सहित पुण्यतोया गोदवरी में स्नान कर लौटे और पूर्वाह्न काल में होम, पूजा आदि का कार्य पूर्णकर अपनी पर्णशाला में बैठे ही थे । उसी समय लंका अधिपति रावण की दुराचारिणी बहिन शूर्पणखा दण्डकारण्य में घूमती हुई वहॉ आ पहुॅची । उसने श्रीराम के लोकोत्तर सौन्दर्य को देखा तो चकित हो गयी । कामासक्त होकर निर्लज्ज शूर्पणखा ने श्रीराम से उनकी पत्नी बनने का प्रस्ताव किया । श्रीराम ने उसे सुमित्रानंनदन, लक्ष्मण कुमार के पास भेज दिया किन्तु मूर्खा शूर्पणखा को व्यंग्यपूर्वक श्री लक्ष्मण ने पुनः प्रभु श्रीराम के पास भेजा । भैरववादिनी विकराल शूर्पणखा

साक्षात मृत्यु भॉति सुकुमारी सीता को खाने के लिये दौड़ी । भगवान श्रीराम ने हुंकार से उसे रोककर क्रोधपूर्वक लक्ष्मण से कहा–

1. **क्रूरैरनार्ये सौमित्र, परिहासः कथंचनः ।**
   न कार्यः पश्य वैदेही कयंचित सौम्य जीवतीत् ।।

सुमित्रानंदन ! क्रूर कर्म करने वाले अनार्यों से किसी प्रकार का परिहास भी नहीं करना चाहिये । सौम्य ! देखो न इस समय सीता के प्राण किसी प्रकार बड़ी कठिनता से बचे हैं ।

श्रीराम के वचन सुनकर लक्ष्मण अत्यन्त कुद्ध हो गये, और उन्होंने तलवार से शूर्पणखा के नाक–कान काटकर उसे विकृत बना दिया ।

तब उस राक्षसी से प्रेरित होकर युद्ध के लिये आये हुए चौदह हजार राक्षसों सहित खर, दूषण और त्रिशरा को श्रीरामचन्द्र जी ने नष्ट कर दिया । यह समाचार सुनकर राक्षसों का राजा रावण वहॉ आया । उसने मारीच को सुवर्णमय मृग में दिखाकर उसके पीछे दोनों भाईयों राम–लक्ष्मण को आश्रम से दूर हटाकर सीता को हर लिया । उस समय जटायु ने उसका मार्ग रोका परन्तु उसको मारकर सीता को लंका में ले गया। दोनों भाई जब आश्रम में लौटे तो सीता का हरण हो चुका था और वे सब ओर उसकी खोज करने लगे । मार्ग में जटायु को पड़ा देखा । उसके मरने पर दोनों भाईयों ने उसका दाह–संस्कार किया । फिर कबन्ध को मारकर शबरी पर कृपा की, वहॉ से ऋष्यमूक पर्वत पर आये । तत्पश्चात हनुमान जी के कहने से अपने मित्र वानरराज सुग्रीव के शत्रु बालि का वध करके श्रीराम ने सुग्रीव को वानरों का राजा बना दिया, फिर सुग्रीव की आज्ञा से सीता की खोज के लिये सब ओर वानर गये । हनुमान आदि वानर सीता को ढूँढते हुए दक्षिण समुद्र तट पर गये । वहॉ सम्पाती के कहने से उन्हें यह निश्चय हो गया कि सीता जी लंका में है ।

तदन्तर अकेले हनुमान जी दूसरे तट पर बसी हुई लंकापुरी में गये और वहॉ रामप्रिया सती सीता को उन्होंने देखा तथा रामचन्द्र जी की अंगूठी उन्हें देकर अपने प्रति उनके मन में विश्वास उत्पन्न किया, फिर उन दोनों भाइयों का कुशल समाचार सुनाकर उनसे चूढ़ामणि प्राप्त की । तदन्तर अशोक वाटिका को उजाड़कर सेना सहित अक्षय कुमार को मारा और मेघनाद के बंधन में आकर रावण से वार्तालाप किया और सीता की आज्ञा ले समुद्र लॉघकर श्री रामचन्द्र जी से उनका समाचार निवेदन किया ।

सीता राक्षसराज रावण के निवास स्थान में रहती है– यह सुनकर श्री रामचन्द्र जी वानर सेना के साथ समुद्र तट पर पहुँचे । फिर समुद्र की अनुमति लेकर उन्होंने महासागर पर पर्वतीय शिलाखण्डों से पुल बांधा और उसके द्वारा दूसरे तट पर पहुँचकर छावनी डाली ।

तदन्तर अपने अनुज़ विभीषण के समझाने पर भी रावण को यह बात नहीं रूचि कि सीता अपने पति को दे दी जाये । रावण ने विभीषण को पैर से मारा और विभीषण राम की शरण में चले गये तब श्री रामचन्द्र जी ने लंका को चारों ओर से घेर लिया । तदन्तर रावण ने क्रमशः अपने मन्त्रियों, अमात्यों, पुत्रों और सेवकों को युद्ध के लिये भेजा, किन्तु वे सब श्रीराम–लक्ष्मण तथा कपीश्वरों द्वारा नष्ट कर दिये गये । लक्ष्मण ने इन्द्र विजयी मेघनाद को तीखे वाणों से मार डाला । धर्ममूर्ति श्रीराम के साथ युद्ध में सभी बडे–बडे वीर और बन्धु–बान्धवगण मार डाले गये, तब निराश होकर उसने भाई कुम्भकर्ण को जगाया और उसके सम्मुख अपनी समस्त संकटापन्न स्थिति स्पष्ट की तथा उससे ऋण दिलाने की बात कही। रावण की बात सुनकर कुम्भकर्ण बहुत जोर हंसा और कहा–राजन ! आपने जब पहले सबसे सलाह ली थी तब उस मैंने जो बात आप से कही थी, वही पाप का फल आज उपस्थित हो गया है। मैंने तो आप से पहले ही कहा था कि श्रीराम साक्षात परमब्रह्म नारायण हैं और सीता योगमाया है किन्तु आप समझाने पर भी नहीं समझ रहे थे।

कुम्भकर्ण ने अत्यन्त आदर प्रीति के साथ रावण को श्रीराम की भक्ति की प्रेरणा दी। उनका भजनकर जीवन सफल बनाने का सदुपदेश देते हुए अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक कहा–

अवताराः सुबह्वोः विष्णुलीलानुकरिणः
तेषा सहस्त्रदृशो रामो ज्ञानमयः शिवः
राम भजन्ति निपुणा मनसा वचसानिशम्
अनायासेन संसारं तीर्त्वी यान्ति हरेः पदम् ।

भगवान विष्णु के अनेक अवतार हुए हैं, उन सभी ने भगवान विष्णु की लीलाओं के अनुसार ही लीला की थी, किन्तु यह शिव ज्ञानमय रामावतार वैसे एक सहस्त्र अवतारों के समान हैं । जो चतुर लोग रात–दिन मन और वचन से राम को भजन करते हैं, वे बिना प्रयास ही संसार को पार कर श्रीहरि के धाम को जाते हैं ।

रावण ने अत्यन्त कुपित होकर कुम्भकर्ण से कहा – मैंने तुम्हें ज्ञानोपदेश के लिये जगाकर नहीं बुलाया है या तो मेरी मानकर युद्ध करो अन्यथा जाकर सोओ ।

रावण को रूष्ट जानकर उसी का पक्ष लेकर महाकाय कुम्भकर्ण युद्ध के लिये चला गया और वहॉ भगवान श्रीराम से घोर युद्ध करते हुए, श्रीराम के द्वारा युद्ध में मारा गया । जब कुम्भकर्ण के मरने का समाचार मिला तो रावण अपने शेष समस्त दल–बल सहित युद्ध करने आया। वह भी भगवान श्रीराम के वाण द्वारा मारा गया ।

भगवान श्रीकृष्ण,

नमस्ते वासुदेवाय, नमः संकार्षणाय च ।
प्रदयुम्नायानिरूद्धाय, सात्वतां पतये नमः ।।

अपने भक्त वैष्णवजन तथा यदुवंश के स्वामी, वासुदेव, संकर्षण, बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरूद्ध के रूप में चतुर्व्युह रूप से प्रकट होने वाले, हे प्रभो । मैं आपको प्रणाम करता हूँ ।

द्वापर युग के समय की बात है । दैत्यों के अत्याचारों से पीड़ित पृथ्वी दुःख से अत्यन्त व्याकुल होकर गौ का रूप धारण कर रोती हुई ब्रह्माजी के पास पहुँची और अत्यन्त करूण वाणी में निवेदन किया – पितामह ! पूर्वकाल में देवासुर संग्राम के समय जो दैत्य और असुर मारे गये थे, वे अब सभी कंस आदि के रूप में उत्पन्न हुए हैं । देव! उनके क्रूरकर्मों के भार से मैं अत्यन्त दुःखी हूँ । मेरे इस कष्ट को दूर करने का आप उपाय करें ।

पृथ्वी को आश्वस्त करते हुए पितामह भगवान शंकर एवं अन्य देवताओं को साथ लेकर क्षीरसागर के तट पर पहुँचे और लोकस्रष्टा ब्रह्मा जी ने अपनी भक्ति के प्रभाव द्वारा शयन करते हुए भगवान विष्णु को जगाया, और अत्यन्त श्रद्धा भक्ति से उनकी पूजा की तथा हाथ जोड़कर उनकी स्तुति की ।

1. नमामि देवं नरनाथमच्युतं नारायणं लोकगुरूं सनातनम् ।
अनादिमव्यक्तमाचिल्यमव्यं वेदान्तवेद्यं पुरूषोत्तमं हरिम् ।।
आनन्दरूप परमं परात्परं चिदात्मक ज्ञानवतां परां गतिम् ।
हत्वासुशन् पति युगे–युगे सुरान स्वधर्मसंस्थान् भुवि संस्थितो हरि,
करोति सृष्टिं जगतः क्षयं यस्तं वासुदेवं प्रणतोस्मि केशवत् ।।

मैं सम्पूर्ण जीवों का स्वामी भगवान् अच्युत को सनातन लोक गुरू भगवान

---

1. नरसिंह पुराण 53/11–12, 16

नारायण को नमस्कार करता हूँ, जो अनादि अव्यक्त, अचिन्त्य और अविनाशी है, उन वेदान्त वेद्‌य पुरूषोत्तम श्रीहरि को प्रणाम करता हूँ । जो भगवान् प्रत्येक युग में पृथ्वी परा अवतार लेते हैं और देवद्रोही दानवों का वध करके अपने धर्म में स्थित देवताओं की रक्षा करते हैं तथा जो जगत की सृष्टि एवं संहार करते हैं, उन सर्वान्तर्यामी भगवान केशव ! को प्रणाम करता हूँ ।

भगवान विष्णों ! जिस प्रकार (पूर्व काल में) वराह, नृसिंह आदि रूपों मे देवताओं का हित किया है, उसी प्रकार आज भी प्रसन्न होकर पृथ्वी का भार दूर करें । देव ! आपको साद्‌र नमस्कार है ।

परमयोनि की उपर्युक्त स्तुति से प्रसन्न होकर शंख, चक्र, गदा और परम धाण किये नवनीदवपु सर्वेश्वर भगवान् विष्णु प्रकट हो गये और उन्होंने कहा, पितामह ! देवताओं, मैं तुम्हारी इस स्तुति से बहुत ही प्रसन्न हूँ । देवगण ! यह स्तोत्र पाठ करने वाले के समग्र पापों को नष्ट कर देने का सामर्थ्य रखता है । यद्यपि मैं श्रीहरि के रूप में प्रत्यक्ष प्रकट हो गया हूँ । आप लोग अपना मनोरथ कहें ।

ब्रह्माजी ने कहा – करूणा सिन्धु ! पुरूषोत्तम ! पृथ्वी असुरों के अत्याचार से अत्यन्त पीड़ित और भयभीत है । आप वसन्धुरा का भारत उतार कर इस कष्ट से दूर करें। हमारे सबके उपस्थित होने का यही कारण है ।

भगवान ने कहा – आप सब लोग अपने – अपने स्थान को लौट जाइये । मेरे गौर और श्याम दो शक्तियॉ वसुदेव की पत्नी देवी के गर्भ से अवतरित होकर दैत्यों को निर्मूल कर पृथ्वी पर धर्म की स्थापना करेगी । पृथ्वी का यह कष्ट दूर हो जायेगा ।

श्री भगवान् के आश्वासन द्वारा प्रसन्न होकर सब देवताओं ने प्रणाम किया और अपने–अपने स्थान को लौट गये ।

देवमीढ़ यदुवंशी के श्रेष्ठ धर्मज्ञ पुत्र वसुदेव का विवाह कंस के पिता उग्रसेन के छोटे भाई देवक की परम् सुन्दरी पुत्री देवकी के साथ हुआ । विवाह के बाद अपनी चचेरे बहन देवकी के साथ शूरवीर कंस अत्यन्त स्नेशवश रथ को स्वयं हांककर विदा करने जा रहे थे । उसी समय आकाशवाणी हुई – कंश ! जिस देवकी को तुम परम् उत्साह से विदा कर रहे हो । इसी के गर्भ से उत्पन्न आठवें पुत्र के हाथ से तुम्हारी मृत्यु होगी । आकाशवाणी सुनकर मृत्यु के भय से डरकर उसी समय देवकी को मार

डालने को उद्यत हो गया । कंस को ऐसे क्रूर कर्म करने में कभी लज्जा नहीं आती थी।

देवमीढ़ के यशस्वी कुमार वसुदेव ने कहा – आप इस बात से ही क्यों भयभीत हो रहे हैं । इसके जो भी सन्तान होगी उसे उत्पन्न होते ही, मैं आपको दे दूँगा । आप विवाह जैसे सुमांगलिक अवसर पर स्त्री जाति अपनी बहन की हत्या करके अत्यन्त पाप एवं कलंक की बात न करे । आप मुझ पर विश्वास करें ।

कंस ने वसुदेव जी की सत्यता पर विश्वास किया । वसुदेव जी के कहने पर देवकी के मारने का विचार छोड़ दिया, किन्तु उसने वसुदेव और देवकी को विदा नहीं किया और अपने ही महलों में सुविधायुक्त प्रबन्ध के साथ रहने की व्यवस्था की । कुछ समय पश्चात उनको हथकड़ी–बेड़ी लगाकर बंदीगृह में रख दिया । बंदीगृह में उत्पन्न छह पुत्रों को उनके उत्पन्न होते ही कंस ने लेकर मार डाला । सातवॉ गर्भ अनन्त के अंश से प्रकट हुआ । उसके कुछ दिन गर्भ में रहने पर ही भगवती योगमाया ने उसको देवकी के गर्भ से खींचकर रोहणी के उदर में स्थापित कर दिया । गर्भ का सकर्षण होने से (खीचने से) उस बालक का जन्म हुआ, इसलिए वह "सकर्षण" नाम से विख्यात हुआ।

महाभागा देवकी के आठवें गर्भ में साक्षात् श्रीहरि पधारे । देवकी के अंग–प्रत्यंग में अलौकिक तेज प्रकट होने लगा । उसे देखकर कंस अत्यन्त भयभीत और सावधान होकर भगवान के जन्म की प्रतीक्षा करने लगा । प्राणु के और मृत्यु के भय से वह पागलों की सी चेष्टा करने लगा ।

1. **आसीनः संविरास्तिठन् भुन्जानः पर्यटन् महीम् ।**
   चिन्तयानो हृषीकेशमपश्चत् तन्मयं जगत् ।।

वह कंस उठते–बैठते, खाते–पीते, सोते–जागते और चलते–फिरते सर्वदा ही श्रीकृष्ण के चिन्तन में लगा रहता । जहॉ भी उसकी दृष्टि जाती, वहॉ उसे कृष्ण ही दीख पड़ते । इस प्रकार उसको सारा जगत ही कृष्णमय दिखाई देने लगा ।

धीरे–धीरे श्री भगवान हरि के प्रकट होने की अत्यन्त शुभवेला आयी । साक्षात ब्रह्माजी और नारद जी सुर–समुदाय के साथ बंदीगृह में पहुँचे और परम् प्रभु के स्तवन कर विदा हो गये ।

भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तिथि, रोहिणी नक्षत्र, अर्द्धरात्रि की मनोरम

---

1. श्रीमद् भागवत 10/2/24

बेला आकाश में सजल घन्न मंद–मंद गर्जन करते हुये हर्ष व्यक्त कर रहे थे । अत्यन्त सुखद सुन्दर मंद समीर बह रहा था और पृथ्वी का परम पुण्य और भाग्य उदय हुआ । निखिल सृष्टि के स्वामी गौ ब्राह्मण एवं सन्तों के प्रतिपालक धर्मप्राण जगतपति चतुर्भुज रूप में वसुदेव–देवकी के सम्मुख प्रकट हुए । बंदीगृह धन्यातिधन्य होता हुआ उद्भासित हो उठा । वसुदेव–देवकी के समस्त दुख उनकी सब कठिनता एवं यातनाएँ सर्वदा के लिये दूर हो गई । वसुदेव जी के पुत्र होने से वे सनातन "वासुदेव" कहलाये ।

वसुदेव जी ने गद्गद् कंठ से श्री भगवान् हरि की स्तुति करके कहा–

2. **जातोऽसि देवदेवश शंखचक्रगदाधरम्,**
दिव्यरूपमिदं देव प्रसादेनेपसंहर ।
अद्यैव देव कंसोऽयं कुरूत्रे मम घातनम्,
अवतीर्ण इति ज्ञात्वत्वमस्मिन्यम मन्दिरे ।।

देवदेवेश्वर ! यद्यपि आप (साक्षात् परमेश्वर) प्रकट हुए हैं, तथापि देव ! कृपापर्वक अब अपने इस शंख, चक्र एवं गदाधारी दिव्य रूप का उपसंहार कीजिये । देव ! यह पता लगते ही कि आप मेरे इस गृह में अवतीर्ण हुए हैं, कंस इसी समय मेरा वध कर देगा ।

महाभागा देवकी ने भी विश्वात्मा प्रभु की स्तुति की, किन्तु कंस से भयभीत होने के कारण उन्होंने भी निवेदन किया ।

3. **उपसंहार विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ।**
शंख चक्रगदापदमाश्रिया जुष्टै चतुर्भुजम् ।।

विश्वात्मन ! आपका यह रूप अलौकिक है। आप शंख, चक्र, गदा और पदम की शोभा से युक्त अपना यह चतुर्भुज रूप छिपा लीजिये ।

श्री भगवान ने माता देवकी से कहा – माता ! स्वायम्भुव मन्वन्तर की बात है, तुम लोगों ने मुझमें मन लगातार देवताओं के बारह हजार वर्षों तक कठोर तप किया और मेरा दर्शन होने पर मुझ जैसे पुत्र की कामना की। फलस्वरूप मैं पृश्नगर्भ के नाम से तुम दोनों का पुत्र हुआ। दूसरे जन्म में तुम अदिति और वसुदेव जी कश्यप हुए। उस समय मैं उपेन्द्र नामक तुम लोगों का पुत्र हुआ। शरीर छोटा होने से मुझे वामन भी कहते थे। तीसरे जन्म में अब मैं तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ। अब वात्सल्य युक्त चिन्तन से तुम दोनों को मेरे परमपद की प्राप्ति होगी।

---

2. विष्णु पुराण 5/3/10–11   3. श्रीमद् भागवत 10/3 30

इतना कहकर सनातन पुरूष भगवान उसी समय द्विभुज रूप धारण कर नवजात शिशु बन गये। समस्त पहरेदार भगवान की माया से मोहित होकर और नशे में हो रहे की भाँति सो गये। यह सुअवसर देखकर वसुदेव जी भगवान की प्रेरणा से अपने नवजात शिशु को एक टोकरी में सुलाकर अपने मस्तक पर रखकर बंदीगृह से बाहर निकल पड़े। बाहर चलने लगे। अगाध जल से उफन रही यमुना जी का जल, वसुदेव जी के जल में पैर रखते ही इतना कम हो गया कि वसुदेव जी सानन्द यमुना पार कर गोकुल ग्राम पहुँच गये। वहाँ योगमाया की कृपा से कभी लोग प्रगाढ़ निन्द्रा में सोये हुए थे। वसुदेव जी ने अपने पुत्र को नन्द की पत्नी यशोदा के पास में सुला दिया। कुछ ही समय पूर्व उन्हें एक कन्या उत्पन्न हुई थी, किन्तु माया से मोहित एवं तमोगुण से आच्छादित हुई वे प्रगाढ़ निन्द्रा में सोई हुई थी। वसुदेव जी उनकी कन्या जो यशोदा के पास सोई हुई थी, को लेकर लौट आये, और वे बंदीगृह में प्रवेश कर अपने हाथ–पैरों में बेड़ी–हथकड़ी डालकर पूर्ववत् बंदी हो गये।

नवजात शिशु का रूदन सुनकर पहरेदार कंस के पास पहुँचे। बालक होने का समाचार सुनते ही कंस दौड़ा उसने प्रसुति गृह में पहुँचकर कन्या को देवकी के हाथों में छीन लिया। उस नवजात कन्या को पत्थर की शिला पर पटकने के लिये घुमाया, उसी समय कंस के हाथों से छूटकर वह कन्या आकाश में अष्टभुजा का रूप लेकर खड़ी दिखलाई दी। उसने कहा मूर्ख ! मुझे मारने वाला तेरा शत्रु प्रकट हो चुका है। देवताओं के सर्वस्व वे हरि ही तुम्हारे पूर्वजन्म में काल थे, इसी प्रकार से समझकर तू शीघ्र अपने कल्याण का उपाय कर।

वे प्रकाश स्वरूपा अष्टभुजाधारी भवती सम्पूर्ण आकाश मण्डल को प्रकाशित करती हुई अन्तर्धान हो गयीं। खिन्नचित कंस ने लौटकर वासुदेव और देवकी को बन्धन मुक्त कर दिया। दूसरे दिनकंस ने नवजात शिशुओं को मार डालने की आज्ञा दीं।

उधर गोकुल ग्राम में नन्दबाबा के घर में पुत्र–रत्न का जन्म हुआ। मैया यशोदा की गोद में सच्चिदानन्द घनश्याम स्वंय भगवान् आ गये। सर्वत्र गीत–वाद्य, उत्सव, दान, धर्म होने लगा। देवता और पितरों की विधिवत् पूजा हुई। गोप और गोपियाँ सज–धजकर सोल्लास सानन्द उत्सव मना रहे थे। जैसे पृथ्वी पर स्वर्ग ही उतर आया हो। भगवान् श्रीकृष्ण के पधारने के ब्रज लक्ष्मी जी का क्रीड़ा क्षेत्र ही हो गया।

कुछ दिनों के पश्चात नन्दबाबा कंस का कर चुकाने के लिये मथुरा गये। संवादा मिलते ही वसुदेव जी उनसे बड़े प्रेम से मिले। उन्होंने रोहिणी और अपने पुत्र सहित ब्रज के कुशल क्षेम समाचार पूँछकर नन्दजी से कहा– कंस का कर चुका देने के बाद आप शीघ्र ब्रज में लौट जाएें, क्योंकि वहाँ आजकल कुछ न कुछ उपद्रव होते ही रहते हैं। वसुदेव जी के परामर्शानुसार नन्द जी ब्रज के लिये तुरन्त चल पड़े।

गोकुल के कंस की आज्ञा का पालन करने के लिये पूतना नामक राक्षसी अपने स्तनों में महाविष लगाये हुए घूम रही थी। वह जिस बच्चे को अपना स्तन–पान कराती, वह तत्काल ही काल के गाल में चला जाता था। वह क्रूर राक्षसी अत्यन्त मनोहारी वेष बनाये हुए नन्दबाबा के घर पहुँची। पहुँचते ही, वह नन्दबाबा को गोद में लेकर अपना महाविष लगाया हुआ स्तन–पान कराने लगी। श्रीकृष्ण ने उसका स्तन मुख में लेते ही इस प्रकार दबाया कि उसके प्राण ही निकल गये और वह महाभयंकर शब्द करती हुई, विकराल स्वरूप धारण कर पृथ्वी पर गिर पड़ी। गोपियाँ आश्चर्यचकित होकर दौड़ी और पूतना के वक्ष पर खेलते हुए श्रीकृष्ण को उठाकर अपनी छाती से लगा लिया और बिना व्याई हुई गाय के पुच्छ को उस पर घुमाकर भगवान के नामों का उच्चारण करके उसी रक्षा के लिये प्रार्थना करने लगीं। मैया यशोदा तो अत्यन्त ही घबरा गई थीं। मथुरा से लौटकर नन्दबाबा ने जब यह समाचार सुना तो भगवान् का नाम लेते हुए, उन्होने श्रीकृष्ण को अपनी गोद में ले लिया और उनकी मंगलकामना के लिए भगवान से प्रार्थना की।

श्रीकृष्ण तीन महीने के ही हुए थे। नन्दबाबा के घर में करवट बदलने का उत्सव मनाया जा रहा था। माता यशोदा ने श्रीकृष्ण को एक छकड़े के नीचे पालने में सुला दिया था। जब श्रीकृष्ण के नेत्र खुले, वे स्तनपान के लिए रोते हुए अपने नन्हे–नन्हें पैरों की दुल्लतियाँ पटकने लगे। उनकी इस प्रकार की दुल्लती से ही विशाल छकेड़ा उलट गया। छकड़ी पर रखी हुई दूध, दही की मटकियाँ उलटकर गिर पड़ी। मैया ने यह दृश्य देखकर ग्रह–उपद्रव समझ और ब्राह्मणों द्वारा शान्ति कराकर उनका आर्शीवाद ग्रहण किया।

एक समय श्रीकृष्ण खेल रहे थे। तृणावर्त नामक राक्षस आया और श्रीकृष्ण को उठाकर आकाश में उड़ गया, किन्तु श्रीकृष्ण ने उसका कण्ठ इस प्रकार से दबाया कि वह मरकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

एक दिन यदुवंशियों के कुछ पुरोहित श्री गर्गाचार्य गोकुल आये। वहॉ नन्दबाबा के परामर्शानुसार (कंस के भय से) अधिक उत्सव न मनाकर, एकान्त गोशाला में ही सूक्ष्म रूप से स्वस्तिवाचनादि के साथ दोनों बालकों का नामकरण संस्कार सम्पन्न कर दिया। रोहिणी जी के पुत्र का नाम रौहिणेय, राम, बल और संकर्षण तथा छोटे सॉवले यशोदानन्दन का नाम श्रीकृष्ण रखकर गर्गाचार्य ने कहा–

1. **य एतास्मिन् महाभागाः प्रीति कुर्वन्ति मानवा,**
नारयोऽमिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः।

तरमानन्दात्मजोऽय ते नारायण समो गुणैः,
श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः।।

जो मनुष्य तुम्हारे इस सॉवले–सलोने शिशु से प्रेम करते हैं, वे बड़े भाग्यवान् हैं। जैसे विष्णु भगवान के कर–कमलों की छत्रछाया में रहने वाले देवताओं का असुर पराभव नहीं कर सकते, वैसे ही इससे प्रेम करने वालों का भीतरी या बाहरी किसी भी प्रकार के शत्रु पराभव नहीं कर सकते। नन्दजी! चाहे जिस दृष्टि से देखें–गुण में, सम्पत्ति और सौन्दर्य में, कीर्ति और प्रभाव में, तुम्हारा यह बालक साक्षात् नारायण के समान हैं। तुम बड़ी सावधानी एवं तत्परता से इसकी रक्षा करना।

कुछ ही दिनों में बलराम और श्रीकृष्ण घुटनों के बल चलने लगे। उनकी बाल–लीलाऐं अत्यन्त मधुर और मनोहरिनी थी। जिन्हें देख–देखकर, माता रोहिणी मैया यशोदा और ब्रज गोपियॉ तथा गोप अत्यन्त प्रसन्न व आनन्दित होते थे। उसके आनन्द की सीमा नहीं थी। इस प्रकार देखते–देखते ब्रज के दोनों अलौकिक बालक पैरों के बल खड़े होकर चलने लगे। वे गोकुल की गलियों में ब्रज गोपों के साथ घूमने–फिरने और विविध प्रकार की मनोहर क्रीडाएं करते रहते। श्रीकृष्ण ग्वालवालों के साथ गोपियों के घरों में घुस कर अनेक युक्तियों द्वारा उनका दही और मक्खन लेकर स्वंय खाते और अपने साथियों को खिलाते तथा बन्दरों को बॉट देते। भाग्यवती गोपियॉ ऐसे अनेक मनभावने दृश्य देख–देखकर निहाल हो जातीं। पर मैया यशोदा के सम्मुख प्रेमोपालम्भ भी देती। मैया सबकी मनुहार करके उनके मंगल की आशीष प्राप्त करती।

एक दिन उनके समवयस्क बालकों ने माता यशोदा से कहा– यह कन्हैया मिट्टी खाता है। माता यशोदा के पूँछने पर कन्हैया ने सर्वथा अस्वीकार किया और अपन मुख खोल दिया। उस समय माता यशोदा ने पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, सर–सरिता,

---

1. श्रीमद्भागवत 10/8/18–18

समुद्र, सम्पूर्ण चराचर प्राणी और अनन्त सृष्टि का दृश्य उनके मुख में देखा तो भय से कॉपने लगी, किन्तु कुछ ही क्षणों में योगमाया के प्रभाव से यशोदा मैया वह अदभुत दृश्य भूल गई और श्रीकृष्ण का पूर्ववत् पुत्र की भॉति लाड़–दुलार करने लगी। पूर्वजन्म की तपश्चर्या व परमपिता भगवान के अनुग्रह से नन्द यशोदा के रूप में उस परब्रह्म परमात्मा को अपनी गोद लेकर इस प्रकार की देवदुलर्भ, अलौकिक मधुर–मनोहर लीलाओं का आनन्द प्राप्त कर रहे थे।

एक दिन श्रीकृष्ण माता यशोदा के बार–बार मनाने और समझाने पर भी अपनी चंचलता से रूक नहीं रहे थे, तब मैया यशोदा ने कुपित होकर उनके कटिभाग में रस्सी को ऊखल से बॉध दिया और कहा– अब क्या करेगा और मैया यशोदा अपने गृहकार्य में लग गयी ?

धनाध्यक्ष कुबेर के लाड़ले पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव शापग्रस्त होकर दो जुडवॉ अर्जुन के वृक्षों के रूप में स्थित थे, उनका उद्धार का निश्चय कर ऊखल घसीटते हुये उन वृक्षों के पास गये । वे दोनों वृक्षों के बीच में से घुसकर, दूसरी ओर निकल गये किन्तु ओखल तिरछा होकर अटक गया । समस्त बल, पौरूष एवं पराक्रम के केन्द्र श्रीकृष्ण के तनिक सा झटका देते ही दोनों वृक्ष जड़ से उखडकर भयानक शब्द के साथ पृथ्वी पर गिर पड़े । उस समय उनमें से दो तेजस्वी पुरूष निकले और उन्होंने हाथ जोड़करा श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कहा–

1. **वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां,**
   हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
   स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रयामे,
   दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवतन्नाम् ।।

प्रभो ! हमारी वाणी आपको मंगलमय गुणों का गान करती है । हमारे कान आपकी रसमयी कथा के श्रवण में लगे रहे । हमारे हाथ आपकी सेवा में और मन आपके चरण–कमलों की स्तुति में रम जाऐं । यह सम्पूर्ण जगत आपका निवास स्थान है । हमारा मस्तक सबके सामने झुका रहे । संत आपके प्रत्यक्ष शरीर है । हमारी आंखें उनका दर्शन करती रहे।

भगवान श्रीकृष्ण ने हॅसते हुए कहा– नलकूबर! मणिग्रीव! तुम्हारा अभीष्ट तुम्हें प्राप्त हो गया है। अब तुम दोनो मुझे स्मरण करते हुए अपने स्थान पर जाओ।

नलकूबर और मणिग्रीव ऊखल मे बंधे हुए प्रभु के चरणों में बार–बार प्रणाम एवं उनकी परिक्रमा कर विदा हुए। दाम से उदर बॉध दिये जाने के कारण ही श्रीकृष्ण का नाम "दामोदर" हो गया ।

इसी प्रकार एक दिन कंस का भेजा हुआ बकासुर नामक राक्षस आया, उसको मार डाला। एक दिन श्रीकृष्ण गाय और बछड़ो को चराने लगे। गोप बालकों के साथ अनेक भॉति–भॉति खेल खेलने लगे, तब ही पूतना और बकासुर का छोटा भाई अघासुर कंस की प्रेरणा से क्रोधोन्मत होकर विशाल अजगर का रूप धारण कर गुफा के समान मुॅह खोलकर मार्ग मे लेट गया। कौतुहलवश समस्त गोप बालक उसके उदर में प्रवेश कर छटपटाने लगे। श्रीकृष्ण जी असुर का उद्देश्य समझकर स्वयं उसके मुॅह में प्रवेश करा गये और अन्दर जाकर अपने शरीर को इतना बढाया की उसका सॉस लेना भी रूक गया। ऑखे फट गयी, उसके प्राण निकल गये। श्रीकृष्ण ने अपने सभी साथियों के प्राणो की रक्षा की और वे सब आनन्द से उसके बाहर निकल आये। इसके पश्चात् यमुना जी ने स्नान कर पुनः गायों को चराने के लिए छोड़कर, शीतल छॉह में सभी गोप बालकों के साथ भोजन करने बैठे हास–परिहास और विनोद के साथ वंशीघ भोजन कर रहे थे और उधर गाय बछड़े चरते हुए दूर निकल चले।

नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की मानवी लीलाओं को देखकर कमलयोनि ब्रह्माजी मोहग्रस्त हो गये। उन्होने पहले बछड़े को और भगवान श्रीकृष्ण के चले जाने पर ग्वालवालों को भी अन्यत्र ले जाकर रख दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये।

श्रीकृष्ण गाय बछड़ो को ढूढते हुए दूर तक गये फिर भी उन्हें नही मिले, तब वापस उस स्थान पर आये, जहॉ भोजन करने बैठे थे। वहॉ गोप बालक भी नहीं मिले। उन्हें इधर–उधर स्थानों पर ढूंढ लिया। अन्ततः उनको ब्रह्माजी की करतूत समक्षकर उनका अहंकार दूर करने के लिए उन्हें अपने दिव्य माया का ऐश्वर्य दिखलाना उचित समझा। भगवान कृष्ण स्वयं गोप बालक तथा गाय–बछड़ो के रूप मे हो गये। सभी पूर्ववत् रूप–रंग, अवस्था व संख्या मे थे। कहीं किचित् भी अन्तर या भेद नही था। श्रीकृष्ण गोप–बालकों एवं गाय–बछड़ों के साथ प्रतिदिन वन में गो–चारण करने जाते तथा सांयकाल खेलते–कूदते और गाते–बजाते घर पहुॅचते।

इस प्रकार एक वर्ष होने को आया। ब्रह्मा जी ने ब्रज मे आकर देखा तो वे अपने छिपाये हुए गाय–बछड़ों एवं ग्वालों को यथास्थान मूर्च्छित और श्रीकृष्ण के साथ ज्यों का

त्यों, दूसरे गोप–बालक और गाय–बछड़ों को देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उनके देखते ही देखते सभी ग्वाल बाल एवं गाय–बछड़ें उन्हें शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी, चतुर्भज श्यामल विश्वमोहन के रूप में दिखाई दिये। यह भगवान की अद्‌भुत लीला देखकर ब्रह्मा जी के चरणों मे पृथ्वी पर दण्ड की भॉति लौट गये। उन्होने अपने प्रेम के ऑसुओं से श्रीकृष्ण के अरूण चरणों को गीला कर दिया। उन्होनें स्तवन करते हुए कहा–

1. **नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय,**
   गुन्जावतं सपरिस्पिच्छलसन्मुखाय।
   वन्यस्तजे कवलनेत्र विषयण वेणु,
   लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपांगजाय।।

प्रभो! एक मात्र आप ही स्तुति करने योग्य है। मै आपके चरणों में नमस्कार करता हूँ। आपका यह शरीर वर्षाकालीन मेघ के समान श्यामल है। इस पर स्थित बिजली के समान झिलमिल–झिलमिल करता हुआ पीताम्बर शोभा पाता है। आपके गले में माला, कानों में मकराकृति कुण्डल तथा सिर पर मोर पंखो का मुकुट है, इन सबकी कान्ति से आपके मुंख पर अनोखी छटा छिटक रही है। वक्षस्थल पर लटकती हुई माला और नन्हीं सी हथेली पर दही–भात का कौर, गोपाल बालक का सुमधुर वेष। मै और कुछ नहीं जानता बस मैं तो इन्हीं चरणों पर निछावर हूँ।

एक दिन बलराम और श्रीकृष्ण अपने सखा श्रीराम, सुबल और स्तोक कृष्ण को प्रसन्न करने के लिये सघन तालवृक्ष पर पहुॅच गये। वहॉ उन्होनें कुछ ताल के फल तोड़कर गिराये ही थे कि गधे का अत्यन्त बलशाली धेनुकासुर क्रोधपूर्वक बलराम जी पर दुल्लती झाड़ने लगा। बलराम जी ने उसके पीछे के दोनो पैर इतने जोर से घुमाकर ताड़ के वृक्ष पर दे मारे कि उसके प्राण निकल गये। वह ताड़ का वृक्ष भी टूट कर गिर पड़ा। उस ताड़ के वृक्ष के गिरने से उसके आस–पास के और अपने ताड़वृक्ष भी टूटकर भयानक शब्द करते हुए गिर पड़े। धेनुकासुर के मृत्यु का संवाद पाकर उसके सगे–सम्बन्धी कुपित होकर बलराम जी पर टूट पड़े। बलराम जी ने धेनुकासुर की भॉति ही सबके पिछले पैर पकड़–पकड़कर घुमा–घुमाकर ताड़ के वृक्षों पर दे मारा। इस प्रकार उन्होने वहां के सभी असुरों को मार डाला।

एक दिन नन्द–यशोदा आदि गोप–गोपियों के संवाद मिला कि उनके प्राणधार कमल–लोचन श्रीकृष्ण अत्यन्त विषभरे हुए कालिदय में कूद पड़े है। सभी गोप–गोपियों भाव–विभोर होकर हाहाकार करते हुए महादुःख से पागलों की भाँति दौड़े हुए कुण्ड पर पहुँचे। अत्यन्त कुद्ध होकर कालिय सुर–मुनि वन्दित श्रीकृष्ण पर टूट पड़ा, किन्तु चंचल श्रीकृष्ण ने उसके प्रत्येक फन को कुचल डाला। कालिया रक्त–वमन करता हुआ मूर्च्छित हो गया। वह गरूड़ के भय से रमणक द्वीप त्यागकर उक्त हद में आकर बस गया था। होश में आने पर उसने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण की और अपनी पत्नियों सहित स्तवन किया।

नमः कृष्णाय रामाय वासुदेवसुताय च।

प्रद्युम्नायनिरूद्धाय सातवतां पतये नमः।।

आप शुद्धतत्वमय वसुदेव के पुत्र वासुदेव, संकर्षण एवं प्रद्युम्न और अनिरूद्ध भी है। इस प्रकार चतुर्व्यूह के रूप में आप भक्तों के स्वामी है। श्रीकृष्ण हम आपको नमस्कार करते है।

भगवान यशोदा नन्दन ने उसके मस्तक पर अपने चरण चिन्ह स्थापित कर उसको सपरिवार यमुनाकुण्ड से बाहर निकाल दिया। वह भगवान श्यामसुन्दर के चरणों में सपरिवार प्रणाम कर पुनः रमणक द्वीप में चला गया। यमुना का जल निर्विष होकर अमृत तुल्य हो गया।

एक दिन गोचारण कराते समय वन में जब गोप बालक खेल रहे थे। प्रलम्बासुर राक्षस गोप–बालक का वेष बनाकर गोप–बालकों में मिल गया। खेल–खेल मे बलराम जी को अपनी पीठ पर बैठाकर बहुत दूर ले गया और अपना भयानक वेष प्रकट कर दिया। फिर बलराम जी को उठाकर बड़ी तीव्रता से आकाश मे ले उड़ा, किन्तु बलराम जी ने एक ही मुष्ठिक का प्रहार कर उसे पृथ्वी पर पटक दिया और काल के गाल में चला गया। ग्वालबाल अत्यन्त चकित होकर बलराम जी की सराहना करने लगे।

एक बार शरतकाल आरम्भ होने पर नन्द आदि गोपों ने इन्द्र पूजा का महान आयोजन किया, किन्तु श्रीकृष्ण ने इन्द्र पूजा स्थगित करा दी और उसके स्थान पर गोवर्द्धन का पूजनोत्सव मनाया गया। अपनी उपेक्षा से अत्यन्त कुपित इन्द्र सम्पूर्ण ब्रज मण्डल को जल में डुबा देने के उद्देश्य से सात दिनों तक अनवरत् रूप से भयानक वर्षा करते रहे, किन्तु सर्वसमर्थ सर्वेश्वर श्रीकृष्ण ने महान पर्वत गोवर्धन को उखाड़कर

अनायास ही छत की भॉति धारण कर लिया। उसके नीचे समस्त ब्रजवासी, गाऐं और गोवत्स सभी सुखपूर्वक रहने लगे। यह देखकर शचीपति इन्द्र अत्यन्त भयभीत हुए। उन्होने तत्काल वर्षा बंद कर दी और स्वयं गिरिराज की ओर चल पड़े। त्रिलोकवन्दित नन्दनन्वन ने जलवृष्टि बंद होने पर उस महान पर्वत को यथास्थान रख दिया। नंद आदि वयोवृद्ध गोप श्रीकृष्ण की इस लीला से अत्यन्त चकित हो उनकी प्रशंसा तथा उनके मंगल के लिये श्रीहरि से प्रार्थना करने लगे।

तभी सुरेन्द्र लज्जित हुए वहां पहुंचकर श्रीकृष्ण के चरणों में प्रणाम किया और करवद्ध होकर हर्ष गदगद वाणी द्वारा उनकार स्तवन किया।

नमस्तुम्य भगवते पुरूषाय महात्मने,
वासुदेवाय कृष्णाय सात्वयां पतये नमः।
स्वच्छन्दोपातदेहाय विशुद्ध ज्ञानमूर्तये,
सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः।।

भगवन! मै आपको नमस्कार करता हूँ। आप सर्वान्तर्यामी पुरूषोत्तम तथा सर्वात्मा वासुदेव है। आप युदुवंशियो के एकमात्र स्वामी, भक्तवत्सल एवं सबके चित्त को आकर्षित करने वाले है।

ब्रजवासियों का विनाश करने के लिये क्रूर कंस दुष्ट–दैत्यों को क्रमशः भेजता ही जा रहा था। एक दिन संध्या के समय जब श्रीकृष्ण ब्रज में प्रवेश कर रहे थे। अरिष्ठासुर नामक महाकाय असुर वृषभ का रूप धारण कर ब्रज में उपद्रव करने लगा। उसकी क्रूरता को देखकर गोप भयभीत हो गये। वह श्रीकृष्ण ने उसके सीगों का पकड़कर इस प्रकार घुमाया कि गर्दन ऐंठ जाने के कारण वह असुर पसीने–पसीने होकर छटपटाने लगा। श्रीकृष्ण ने उसका सींग उखाड़कर उसे इस प्रकार पीटा कि तड़प–तड़प कर उसने प्राण त्याग दिये।

इसी प्रकार एक दिन महाबली केशी नामक दैत्य घोड़े के वेष में श्रीकृष्ण को मार–डालने के लिये ब्रज मे आया उसके उपद्रव से ब्रजवासी घबड़ाकर चीत्कार करने लगे। श्रीकृष्ण ने धैर्य बंधाते हुए उस घोड़े के मुँह में अपना हाथ डाल दिया और हाथ को इतना बढा दिया कि उसकी सॉस ही रूक गयी। नेत्र उलट गये तथा तड़पते हुऐ उसके प्राण पखेरू हो गये। देवताओं ने यह दृश्य देखकर श्रीमधुसूदन की स्तुति करते हुए पुष्प वृष्टि की।

एक दिन संध्या समय दुरात्मा कंस के भेजे हुए महान् भागवत् श्वफल्क के पुत्र अक्रूर वहॉ पहुँचे । मार्ग में मिट्टी पर टिके हुए कमल, यब, अंकुश आदि चिन्हों से युक्त असाधाराण पद छाप देखकर वह भाव विह्वल होकर नेत्रों मे जल भर लाये। भगवान ब्रजानन्द के दर्शन की तीव्र लालसा लिए हुए वे गो–दोहन स्थान पर पहुँचे। वहॉ पीताम्बरधारी मयूरमुकुट किये वनमाली को देखकर अक्रूर जी हर्ष से गदगद हो गये और उनके चरणो में प्रणाम किया। श्यामसुन्दर ने भी अपने कर–कमलो से उन्हें स्पर्श कर प्रीति पूर्वक खींचकर उनका आंलिगन किया। इसके अनन्तर अक्रूर जी ने अनन्त प्रभु नीलाम्बरधारी बलराम को देखा तो ऑसू भरे हुए नेत्र, बद्धान्जलि उनके सम्मुख खड़े हो गये। बलराम जी ने भाग्यवान् अक्रूर जी को अत्यन्त प्रेम से गले लगाया। फिर उनका हाथ श्रीकृष्ण ने और दूसरा हाथ बलभद्र ने पकड़ लिया और उसको घर पर ले गये।

घर पहुंचने पर यशोदानन्दन ने अक्रूर जी का बहुत सम्मान, सत्कार एवं स्वागत किया। नंदबाबा को अक्रूर जी ने बतलाया– देवर्षि नारद जी ने श्रीकृष्ण को यहॉ रखे जाने तथा बलभद्र को पालित होने का सारा संवाद कंस को बता दिया। दुष्ट कंस कुपित होकर महामना वसुद्देव और महाभागा देवकी को पुनः बन्दीगृह में डालकर समूचे यदुवंशियो के विनाश पर तुल गया है। इसी षड़यंत्र की सिद्धि के लिये उपहार लेकर श्रीकृष्ण बलराम सहित आप लोगों को ले आने के लिए मुझे यहॉ भेजा है।

नन्दबाबा सहम गये। माता यशोदा भी घबरा गयी। सम्पूर्ण गोपियां विकल–विहवल हो गयी, किन्तु श्रीकृष्ण के आश्वासन से मथुरा यात्रा की तैयारी होने लगी।

प्रातःकाल अक्रूर जी ने हाथ जोड़कर यशोदा किया और मैया यशोदा को विश्वास दिलाते हुए कहा– महाभागे ! अब मैं जाऊंगा। मुझ पर कृपा कीजिये। ये महाबाहु श्रीकृष्ण महाबली कंस को मारकर सम्पूर्ण जगत् के राजा होंगे। इसमें तनिक भी सन्देह भी सन्देह नहीं है। अतः आप निश्चिन्त होकर प्रसन्न हो जाये। इस प्रकार उनसे विदा ले अक्रूर जी श्री कृष्ण और बलराम को रथ पर चढ़ाकर ले चले। ब्रज–गोपिकाऐं रोती–बिलखती रहीं। माता यशोदा की व्याकुलता तो वे ही जानती थीं। नन्दराय अन्य गोपों के साथ अपने–अपने छकड़ों पर उपहार लेकर प्रस्थित हुए।

अक्रूर जी का रथ जब यमुना तट पर पहुंचा तो वे दोनों भाइयों की अनुमति से उन्हें रथ पर बैठे छोड़कर यमुना–स्नान करने के लिये चले गये। स्नानोपरान्त उन्होंने

यमुना जल में डुबकी लगाकर गायत्री जप करना आरम्भ किया। तो वहां श्रीकृष्ण–बलराम को देखकर घबड़ा गये। उन्होंने बाहर रथ की ओर देखा तो रथ पर दोनों भाई बैठे हुए दिखाई दिये। उन्होंने पुनः डुबकी लगायी, तब फिर बलभद्र सहस्त्र फन वाले शेषनाग एवं श्रीकृष्ण साक्षात् परम प्रभु उन्हें दीखने लगे। भगवान् की वह दिव्य झांकी देखकर अक्रूर जी के नेत्रों में प्रेमाश्रु भर आये। भाव विह्वल होकर अविनाशी प्रभु का स्तवन करते हुए उन्होंने कहा–

1. **नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च,**
   हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो।
   प्रसीद सर्व सर्वात्मन् क्षराक्षररमयेश्यवर,
   ब्रह्मा विष्णु शिवाख्यामिः कल्पनाभिरूरीरितः।।

स्नान नित्यकर्म से निवृत्त होकर अक्रूर जी के रथ के समीप पहुंचने पर श्रीकृष्ण ने कहा– अक्रूर जी ! आप बड़े आचर्य चकित दीख रहे हैं। क्या बात है– अक्रूर जी ने गद्‌गद् कण्ठ से कहा– यह महान आश्चर्यमय जगत् जिस सर्वात्मा का स्वरूप है, उन्हीं का दर्शन मुझे हो रहा है। उस आश्चर्य के सम्बन्ध से अधिक क्या निवेदन करूं। उन्होंने रथ पर सर्वेश्वर को लेकर आगे बढ़ाया।

मथुरापुरी के नगर–द्वारा पर ही कृष्ण– बलभद्र को छोड़कर अक्रूर जी कंस के पास पहुंचे और इनके आगमन का संवाद सुनाकर अपने घर चले गये। कुछ समय पश्चात् श्रीकृष्ण– बलदेव भी मथुरा नगरी की शोभा देखते हुए राजपथ से चले जा रहे थे। उनकी अलौकिक शोभा, सौन्दर्य देखकर मथुरावासी चकित और निहाल हो रहे थे। मार्ग में उन्होंने वस्त्र रंगने वाले धोबी पर हस्तप्रहार किया जिससे धोबी मूर्छित होकर गिर पड़ा और अन्य सहकर्मी भाग गये। बलराम जी एवं श्रीकृष्ण ने नीले और पीले वस्त्र धारण कर लिये। अन्य वस्त्र दूसरे गोप–बालकों को भी पहना दिये।

2. **तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः।**
   श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्य स्मृतीन्द्रियम्।।

इसके बाद वे सुदामा माली के घर गये। दोनों भाईयो को देखते ही सुदामा उठ खड़ा हुआ और पृथ्वी पर सिर टेक कर उन्हें प्रणाम किया और बड़े प्रेम से उनकी पूजा की, सत्कार किया। विविध प्रकार से सुगन्धित पुष्पों की मालाएँ पहनाकर अपने भाग्य की सराहना करते हुए उसने उनकी बड़ी स्तुति की। भगवान श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर

---

1. श्रीमद्‌भागवत 10/51/52   2.विष्णुपुराण 5/19/25–26

उसको जीवन सर्त्थक करते हुए उनके बिना मांगे ही उसके घर अंचला लक्ष्मी का निवास प्रदान करते हुए कहा–

बलहानिर्न ते सौम्य धनहानिस्थापि वा,

यावद्निानि तावच्च न नशिष्यति संततिः ।।

भुक्ता च विपुलान्भोगांस्त्वमन्ते मत्प्रसादतः,

ममानुस्मरणं प्राप्त दिव्यं लोकमवास्मसि।।

सौम्यं! तेरे बल और धन का ह्यास कभी न होगा और जब तक सूर्य की सत्ता रहेगी, तब तक तेरी संतान् का उच्छेद न होगा। तु भी यावज्जीवन विपुल भोग–भोगता हुआ, अन्त में मेरी कृपा से मेरा स्मरण करने के कारण दिव्य लोक को प्राप्त होगा।

कंस के यज्ञशाला में पहुंचने पर वहॉ श्रीकृष्ण ने बहुमूल्य अलंकार से सज्जित तथा उनेक प्रकार से पूजा किये हुए इन्द्रधनुष के समान धनुष को देखते ही कौतुहलपूर्वक उस धनुष को उठा लिया और उसके प्रत्यन्चा चढाकर आधे क्षण में उसके दो टुकड़े कर दिये। धनुभंग की तीव्र ध्वनि से इतना घोर शब्द हुआ कि सम्पूर्ण मधुरापुरी गूॅजकर हिल गयी।

धनुष के टूटने पर उसके रक्षक सैनिकों तथा अन्य असुरों ने श्रीकृष्ण बलदेव पर आक्रमण कर दिया। तब तो कुपित होकर दोनो भाईयों ने धनुष के टूटे हुए टुकड़े उठा लिये और उन दोनो से ही पीट–पीटकर उन सबको मार डाला और निश्चिन्त होकर यज्ञशाला के प्रधान द्वार से बाहर आकर राजपथ पर विचरण करते हुए अपने डेरे पर लौट आये और खीर आदि उत्तम मधुर पदार्थो का भोजन किया और कंस की आगामी गति–विधियों का पता लगाकर वहीं आराम से सो गये। प्रातःकाल स्नानादि से निवृत्त होकर, नगारे की ध्वनि सुनकर पीताम्बर और नीलाम्बरधारी श्रीकृष्ण बलराम रणभूमि की ओर चले गये, वहां तुरही आदि बजने लगे और कंस के सम्मुख अत्यन्त अनीतिपूर्वक चाणूर और मुष्टिक जैसे महाकाय और महाबलशाली मल्ल किशोर श्रीकृष्ण और बलराम से लड़ने लगे, किन्तु इतने पर भी जब उन महामल्लों की शक्ति क्षीण होने लगी तब घबराकर कंस ने बाजे बंद करवा दिये, किन्तु उसी समय आकाश में अनेक बाजे एक साथ बजने लगे।

1. **जय गोविन्द चाणूरं जहि केशव दानवम्।**

   अन्तर्द्धानगत देवास्तमूचुरतिहर्षिताः।।

1. **तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रादात् सारूप्यमात्मनः।**
श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्य स्मृतीन्द्रियम्।।

कंस के दुरुद्देश्य को समझकर भगवान् श्रीकृष्ण ने चाणूर को एवं रोहिणी नंदन ने मुस्टिक को आकाश में घुमाकर तथा घूसों एवं जानु के प्रहार से मार डाला। इसी प्रकार मल्लराज कूट, शल और तोशल भी मारे गये। तब कंस क्रोध से नेत्र लाल करके श्रीकृष्ण–बलदेव, समस्त गोप–बालको तथा नन्दादि गोपों के विरूद्ध आदेश देने लगा। इस पर अत्यन्त कुपित होकर असुरारि श्रीकृष्ण हॅसते हुए कंस के मंच पर चढ़ गये और उसके केशों को पकड़कर उसे पृथ्वी पर पटक दिया तथा उसके ऊपर स्वयं कूद पड़े। उनके कूदते ही कंस का प्राणान्त हो गया। भगवान् श्रीकृष्ण ने मृतक कंस के केश पकड़कर उसको रंगभूमि में चारों ओर घसीटा। यह देखकर शेष मल्ल दैत्य भय के मारे प्राण बचाकर भाग गये। किन्तु कंस के कण्ड और न्यग्रोध आदि आठ छोटे भाईयो ने अपने भाई का बदला लेने के लिये श्रीकृष्ण और बलराम पर आक्रमण कर दिया किन्तु अग्नि में पड़ने वाले पतंगो की भॉति वे भी क्षण मात्र मे मृत्यु को प्राप्त हो गये।

तदुपरान्त तुरंत उन दोनो भाईयो ने अपने माता–पिता को बन्धनमुक्त कर उनके चरणों मे मस्तक टेककर प्रणाम किया। देवकी और वसुदेव के सुख–सौभाग्य का समय आया। अब उनके दुःख के दिन बीत गये, परन्तु उन्होने मन ही मन अपने पुत्र को श्रीनारायण का अवतार समझकर अपने हृदय से नहीं लगाया। विश्वात्मा श्रीहरि ने उन्हें पुनः योगमाया से मोहित कर दिया, तब देवकी–वसुदेव ने उनको अपनी गोद में ले हृदय से चिपका कर परमानन्द प्राप्त किया।

अनेक भॉति से अपने माता–पिता को सान्त्वना देकर श्रीकृष्ण अपने नाना उग्रसेन के पास गये और उनके चरणों मे प्रणाम करके भी बन्धनमुक्त किया। उन्होनें भी सान्त्वना देकर मथुरा के राजसिंहासन पर उनका अभिषेक कर दिया। अक्रूर आदि श्रेष्ठ यदुवंशियों को बुलाकर राज्य के विशेष पदों पर नियुक्त किया। देवकीनंदन ने कंस के डर से इधर–उधर भागकर दूर चले गये यदु, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि वंशो में उत्पन्न सजातीत सम्बन्धियों को बुलवाया और उन लोगों को प्रचुर धन–सम्पत्ति देकर पुनः सम्मानपूर्वक बसाया।

इसके पश्चात भगवान वासुदेव और बलराम नन्दबाबा के पास पहुँचे। नन्दबाबा ने

---

1. श्रीमद्भागवत 10/45/26

उन्हें गले लगा लिया। श्रीकृष्ण ने उनकी मैया मैया यशोदा, गोप वत्सों सभी को अपने प्रति सहज अदभुत प्रीति की, अनेक भाँति से प्रशंसा की तथा पुनः व्रज में आने का आश्वासन देकर उन्हें भाँति-भाँति के वस्त्रालंकार तथा पात्र आदि देकर विदा किया। पुत्री से बिछुड़ने हुए वृद्ध नन्दबाबा के नेत्र बरसने लगे। श्रीकृष्ण-बलराम बार-बार उनके चरणों मे प्रणाम करते है।

अथ शूरसुतो राजन् पुत्रयोः समकारयत्,
पुरोधसा ब्राह्मणेश्च यथावद् द्विजसंस्कृतिम।

श्रीकृष्ण के द्वारा कंस के मारे जाने का समाचार पाकर उनका श्वसुर मगधराज जरासंध अत्यन्त कुपित हुआ और उसने मथुरापुरी को घेर लिया। तब भगवान वासुदेव ने अपने सारथी का स्मरण किया और तुरंत सारथी दारूक, सुग्रीव पुष्पक नामक महान रथ लिए उपस्थित हो गया। उस देव-दुर्जय रथ पर गरूड़ चिन्ह युक्त ध्वजा फहरा रही थी। उस रथ में शंख, चक्र, गदादि सभी अस्त्र-शस्त्र से युद्ध करने चले। उस समय वासुदेव ने चतुर्भुज रूप धारण कर लिया था।

2 **चतुर्भुजवपुर्भूत्वा शंखचक्रगदासिभृत,।**
किरीटी कुण्डली स्तग्वी संग्रामामिमुखं ययौ।

भयानक घोर संग्राम हुआ। जरासंध की तेईस अक्षोहिणी सेना मार डाली गयी और रोहिणीनंदन बलराम जरासंध को पकड़कर, उसका गला दबाकर मूसल से उस प्रहार करना चाहते थे कि दयामय श्रीकृष्ण ने उसे छोड़ दिया। अत्यन्त अपमानित कोकर जरासंध युद्ध-भूमि से वापस लौटा। इस प्रकार सत्रह बार आक्रमण किया और प्रत्येक बार श्रीकृष्ण की सहायता से यदुवंशी जरासंध को अत्यन्त उपेक्षापूर्वक छोड़ते गये। अठारवीं बार घेने वाला या उसी पृथ्वी का अद्वितीय वीर कालयवन अपनी तीन करोड़ म्लेच्छों की सेना के साथ मथुरा पर आक्रमण कर दिया।

कालकवन की विशाल सेना अब तक मथुरापुरी को घेरे हुए पड़ी थी। श्रीकृष्ण ने म्लेच्छों की उस विशाल वाहिनी का संहार कर उसका समस्त धन छीन लिया और उसे बैलों आदि पर लदवाकर द्वारिकापुरी भिजवा दिया और श्रीकृष्ण एवं बलराम का जरासंध पीछा करता रहा। दोनों भाई प्रवंर्षण पर्वत की ओट में जा छिपे। जरासंध ने उस पर्वत के चारों ओर आग लगा दी किन्तु सर्वात्मा सुरक्षित पूर्वक निकलकर द्वारिकापुरी मे पहुँच गये।

2.पदमपुराण उ0सं0263/14

विदर्भराज धर्मात्मा भीष्मक के रूकमणी नानक एक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। भीष्मक का बड़ा पुत्र रूक्मी अपनी बहन रूकमणी का विवाह चेदिनरेश राजा दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ कराना चाहता था, किन्तु रूकमणी का बाल्काल से ही श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग था और वे उन्हें ही पतिदेव के रूप में प्राप्त करना चाहती थी। अतः रूकमणी ने भगवान श्रीकृष्ण को अपना पति बनाने के उद्देश्य से तुरंत अपने पुरोहित पुत्र को द्वारिकापुरी भेज दिया।

ब्राह्मण देवता द्वारिका में श्रीकृष्ण और बलराम से मिले और श्रीकृष्ण से रूकमणी का संदेश कहा फिर उनके मुख से रूकमणी का संदेश प्राप्त कर श्रीकृष्ण ने अपने सारथी दरूक को स्मरण किया, वह दिव्य रथ में चार घोड़े जोतकर ले आया। सम्पूर्ण असत्र–शस्त्र से युक्त कुण्डिनपुर में पहुँच गये। वहाँ शिशुपाल के साथ रूकमणी के विवाह की तैयारी चल रही थी जिसमें श्रीकृष्ण एवं यदुवंशियों के विरोधी, शाल्व, जरासंध, दन्तवक्र, विदुरथ और पौण्ड्रंक आदि सहस्त्रों वीर मित्रों को ससैन्य लेकर आया था।

विवाह के दिन भीष्मक पुत्री रूकमणी बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को धारण कर भगवती पार्वती की पूजा के लिये अपनी सखियो के साथ नगर के बाहर आयी। श्रीकृष्ण वहाँ पहुँच गये और पार्वती पूजन के पश्चात जब रूकमणी अपने रथ की ओर चली तब उनको भगवान श्रीकृष्ण के दर्शन हुए।

3. **तां राजकन्यां रथमारूरूक्षतीं,**
जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम्।
रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं,
राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।।

राजकुमारी रूकमणी जी रथ पर चढ़ना ही चाहती थी कि भगवान श्रीकृष्ण ने समस्त शस्त्रुओं को देखते–देखते उनकी भीड़ में से रूकमणी जी को उठा लिया और सैकड़ो राजाओं के सिर पर पॉव रखकर उन्हें अपने रथ पर बिठा लिया जिसकी ध्वजा पर गरूड़ चिन्ह लगा हुआ था।

भगवान श्रीकृष्ण रूकमणी जी को लेकर द्वारिका की ओर चल पड़े। यह देखकर जरासंध आदि राजाओं ने रूक्मी के साथ चतुरांगनी सेना को लेकर श्रीकृष्ण का पीछा किया। तब बलराम जी अपने रथ से कूद पड़े और अपने हल मूसल से शत्रुओं की

3.श्रीमदभागवत 10/54/55

सेना का संहार करने लगे। कुछ ही देर में समस्त शत्रु सैन्य का विनाश कर डाला। बचे–खुचे सैनिक अपने प्राण बचाकर भाग खड़े हुए।

श्रीकृष्ण–रूकमणी के द्वारिका पहुँचने पर बड़ा आन्दोत्सव मनाया गया तथा शुभ मुहुर्त में वैदिक रीति से देवकीनंदन श्रीकृष्ण ने रूकमणी के साथ विवाह किया और आनंदपूर्वक रहने लगे। श्री निकेतन भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा रूकमणी के गर्भ से उन्हीं के तुल्य कामदेव के अंश प्रद्युम्न जी का जन्म हुआ।

सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण ने छल से पराजित पाण्डवों की प्रत्येक सुख–सुविधा का ध्यानरखते हुए विश्वकर्मा के द्वारा अत्यन्त उत्तम भवन बनवा दिया। अग्निदेव को खाण्डव वन का आहार किया और अर्जुन को गाण्डीव धनुष, श्चार श्वेत घोड़े, एक रथ दो अक्षय वाण वाले तरकस तथा अभेद्ध कवच प्रदान किये।

जरासंध के बंदीगृह में पड़े हुए बीस हजार दुःखी नरेशों की उनके दूत के मुख से मुक्ति की प्रार्थना सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने पत्नियों सहित इन्द्रप्रस्थ के लिये प्रस्थान किया। पाण्डवों ने अपने प्राणाधार वासुदेव भगवान के वहाँ पहुँचने पर स्वागत–सत्कार किया। उनको असीम आनंद प्राप्त हो रहा थ। धर्मराज युधिष्ठिर ने प्रार्थना करते हुए कहा–

1. **त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति,**
 ध्यायन्त भद्रनशने शुचयोमृणन्ति।

 विन्दन्ति ते कमलनाम भवाय वर्ण,
 माशासते यदि त आशिष ई नान्ये।।

फिर भगवान के परामर्श से महान राजसूर्य यज्ञ का निर्णय हुआ और महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाईयों को दिग्विजय का आदेश दिया। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन और भीम के साथ ब्राह्णों के वेष में जरासंध की राजधानी गिरिव्रज पहुँचे। इस त्रिमूर्ति को देखकर जरासंध ने प्रणाम के अनन्तर इनकी पूजा करके कहा– द्विजवरों! आप लोगो ने किस कारण से पधारने का कष्ट किया है। आज्ञा दें! मैं अवश्य आपकी अभिलाषा पूरी करूंगा।

सम्पूर्ण चराचर के वन्दनीय श्री भगवान बोले–

राजन ! हम क्रमशः कृष्ण, अर्जुन और भीम है। तुम हम तीनों में से किसी एक के साथ द्वन्द्व युद्ध स्वीकार करो। जरासंध ने कहा– मैं भीम के साथ युद्ध स्वीकार करता हूँ।

---

1. श्रीमद्भागवत 10/62/4

सत्ताइस दिनों तक युद्ध चलता रहा। अन्ततः भगवान के संकेत से भीम ने जरासंध को चीर कर दो टुकड़े कर दिये।

इसके पश्चात भगवान श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ पहुँचे वहाँ राजसूर्य यज्ञ का आयोजन हुआ। महाराज युधिष्ठिर ने विधिपूर्वक यज्ञ सम्पन्न कर अवमृथ स्नान किया। श्रीकृष्ण द्वारिका पहुंचे तो उन्होने देखा कि शिशुपाल के सखा शाल्व ने अपने अदभुत विमान सौम पर आरुढ़ होकर सम्पूर्ण द्वारिकापुरी को त्रस्त कर रखा है। यदुवंशी पीड़ित हो रहे थे। मायापति श्रीहरि ने शल्व की माया नष्ट कर दी। भगवान ने देर करना उचित न समझ कर अपने परम् तेजस्वी सुदर्शन चक्र से धृष्ट शाल्व का मस्तक उतार दिया।

अपने मित्र शिशुपाल, शाल्व और पौण्ड्रव के वध का समाचार पाकर हाथ में वज्रतुल्य गदा लेकर दन्तवक्र अकेला ही श्रीकृष्ण से बदला लेने पैदल ही पहुँच गया। मुरारी भी कौमोदकी गदा लेकर सामने आ डटे और युद्ध करते हुए काल के गाल में समा गया।

भगवान श्रीकृष्ण और बलभद्र के सहपाठी, बालसखा ब्रह्मज्ञानी विषयों से विरक्त शान्तचित्त और चितेन्द्रिय सुदामा नामक दरिद्र ब्राह्मण अपनी साध्वी पत्नी के अनुरोध से भगवान् श्रीकृष्ण से मिलने द्वारिकापुरी पहुंचे। भगवान श्रीहरि ने देखते ही अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उन्हें गले लगा लिया और कल्पतरू के समान भक्तों के मनोरथ पूर्ण करने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने सुदामा के सॅम्पूर्ण मनोरथ को पूर्ण कर दिये।

पाण्डवों के तो प्राण सर्वस्व भगवान श्रीकृष्ण ही थे । प्रत्येक विपत्ति में श्रीकृष्ण उनके सहायक थे । द्युत मे पराजित विवश पाण्डवों की पत्नी द्रौपती को निर्वस्त्र करने के लिये दुष्ट दुश्शासन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी, तब आपने ही वस्त्रावतार धारण कर उसकी लाज बचाई । दुर्योधन ने महर्षि दुर्वासा को वन पाण्डवों का सर्वनाश करने के लिए भेजा था किन्तु शाक का पत्ता ग्रहण कर विश्वात्मा श्रीकृष्ण ने विश्व को तृप्त कर दिया और इस प्रकार महर्षि को भयभीत होकर भागने को विवश कर दिया । वे पाण्डवों के संधि दूर ही नहीं बने, युद्ध में अर्जुन के सारथी भी बन गये और गीता का ज्ञान प्रदान किया और उनमें नवीन प्रेरणा एवं शक्ति भर दी । पितामह भीष्म की प्रतिज्ञा की रक्षा की। रक्षा के लिये अपनी प्रतिज्ञा भंग कर शस्त्र उठा लिया और विरोधियों के अमोघ अस्त्रों से पाण्डवों की अनेक बार रक्षा की, पाण्डव विजयी हुये और युधिष्ठर राजा बने ।

पृथ्वी के भारभूत राजाओं का वध करने के पश्चात श्री भगवान ने अमित बल वैभव उन्मत यदुकुल का संहार भी हो जाना उचित समझा, इसका निमित्त महर्षि कण्व का शाप बना और सम्पूर्ण यदुवंशी परस्पर लोहमय सरकण्डी युद्ध कर मर मिटे ।

इस प्रकार संहार कर भगवान श्रीकृष्ण पर अपना पैर रखे अनेक लताओ से आवृत्त पीपल वृक्ष के नीचे बैठे हुए, यह मर्त्यधाम छोड़कर जाने का विचार कर ही रहे थे कि उसी समय जरा नामक व्याघ (बहेलिया) ने दूर से श्री भगवान् के सुकोमल चरण–कमल को मृग समझ कर अपना तीक्ष्ण वाण छोड़ दिया । व्याघ ने जब पास जाकर देखा कि वहॉ चतुर्भुज पुरूष सुकोमल अरूण चरण से रक्त प्रवाहित हो रहा है । भय के मारे व्याघ कॉपता हुआ अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करने लगा ।

भगवान कृष्ण ने उस बध को अभय ही नहीं किया बल्कि उनकी प्रेरणा से आकाशमार्ग द्वारा एक विमान आया और दयासागर भगवान ने उसी समय उस व्याघ को उस विमान में बैठाकर स्वर्गधाम में पहुॅचा दिया ।

तदन्तर निखिल सृष्टि के स्वामी, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, करूणासागर, भक्त–प्राणधन परब्रह्म पुरूषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण अपने नित्यधाम गोलोक के लिये प्रस्थित हो गये ।

भगवान कृष्ण का दर्शन अमर एवं अमृतमयी है, उनका चरित्र जगत् के समसत पाप तापों को छिन्न–भिन्न करने वाला तथा भक्तजनों के कर्णों में आनन्द सुधा प्रवाहित करने वाला है ।

भगवान बुद्ध

1. **ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सरद्विषाम् ।**
बुद्धौ नाम्ना जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ।।

कलियुग आ जाने पर मगध देश में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिये अजन के पुत्ररूप में आपका बुद्धावतार होगा ।

वर्तमान समय में प्रख्यात बौद्ध धर्म के प्रर्वतक महाराज शुद्धोधन के यशस्वी पुत्र गौतम बुद्ध के रूप में अवतरित हुए थे । पुराण वर्णित और आधुनिक इतिहास कथाओं में यह विवाद का विषय है, किन्तु हमारा मन्तव्य यहॉ पौराणिक अवतार वर्णन ही है ।

पुराण वर्णित भगवान बुद्धदेव का प्राकट्य गया के समीप कीकट देश में होना और उनके पिता का नाम "अजन" बताया गया है।

दैत्यों की शक्ति बढ़ गयी थी उनके सम्मुख देवता टिक नहीं सके, दैत्यों के भय से प्राण लेकर भाग गये । दैत्यों ने देवधाम स्वर्ग पर अधिकार कर लिया । वे स्वच्छन्द होकर देवताओं के वैभव का उपभोग करने लगे, किन्तु उन्हें प्रायः चिन्ता बनी रहती थी कि पता नहीं, कब देवगण समर्थ होकर पुनः स्वर्ग छीन ले । सुस्थि साम्राज्य की कामना से दैत्यों ने सुराधिपति इन्द्र का पता लगाया और उनसे पूँछा – "हमारा अखण्ड साम्राज्य रहे इसका उपाय बतलाइये" देवाधिपति इन्द्र ने शुद्ध भाव से उत्तर दिया – सुस्थिरशासन के लिये यज्ञ एवं वेद आचरण आवश्यक है । दैत्यों ने वैदिक आचरण एवं महायज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ किया । फलतः उनकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ने लगी । स्वभाव से ही उदण्ड और निरंकुश दैत्यों का उपद्रव बढ़ गया । जगत में असु भाव का प्रसार होने लगा ।

असहाय और निरूपाय दुखी देवगण जगत्पति श्री विष्णु के पास गये । उनसे करूण प्रार्थना की । भगवान ने उन्हें रक्षा का आश्वासन दिया ।

श्री भगवान ने बुद्ध रूप धारण किया उनकी वेषभूषा अत्यन्त मलिन थी । वे स्नान नहीं करते थे । दॉत भी साफ नहीं करते थे । उनके कथनानुसार इन क्रियाओं से हिंसा होती है । उनके हाथ में सदा ही मार्जनी (झाडू) रहती थी और वे मार्ग में मार्जनी से झाड़ते हुए उस पर चरण रखते जाते थे ।

इस प्रकार अत्यन्त अपवित्र वेष में भगवान बुद्ध दैत्यों के समीप पहुँचे और उनको उपदेश दिया – यज्ञ करना पाप है । यज्ञ में जीव हिंसा होती है । यज्ञ की प्रज्वलित

---

1. श्रीमदभागवत 1/3/24

अग्नि में कितने ही जीव-जन्तु भस्म हो जाते हैं । देखो मैं जीव हिंसा से बचने के लिये प्रयत्नशील रहता हूँ । पहले झाड़ू लगाकर पथ स्वच्छ रखता हूँ तब उस पर पैर रखता हूँ।

अत्यन्त मलिन एवं अपवित्र वेष धारण करने वाले सन्यासी बुद्धदेव के उपदेश का दैत्यगण पर प्रभाव पड़ा । उन्होंने यज्ञ एवं वैदिक आचरण का परित्याग किया । वे अहिंसा को ही परम् धर्म मानने लगे । परिणामतः कुछ ही दिनों में उनकी शक्ति क्षीण हो गयी ।

फिर क्या था, देवताओं ने उन शक्तिहीन दुर्बल एवं प्रतिरोध हीन दैत्यों पर आक्रमण कर दिया । असमर्थ दैत्य पराजित हुए और प्राण रक्षार्थग यत्र-तत्र भाग खड़े हुए। देवताओं का स्वर्ग पर पुनः अधिकार हो गया ।

इस प्रकार सन्यासी के वेष में भगवान बुद्ध ने त्रैलोक्य का मंगल किया ।

1. श्रीमद्भागवत स्कन्ध 1 अध्याय 3
   आग्नेय महापुराण अध्याय 16 के आधार पर ।

भगवान कल्कि

1. **अथसौ युगसंध्यायां दस्युप्रायेषु राजस ।**
   जनिता विष्णु यशसो नाम्ना कल्फिर्जगत्पतिः ।।

बहुत समय पश्चात जब कलियुग का अन्त समीप होगा और प्रायः लुटेरे हो जायेंगे, तब जगत के रक्षक भगवान विष्णु यश नामक ब्राह्मण के घर में कल्कि रूप में अवीर्ण होंगे ।

अभी कलियुग का प्रथम चरण ही चल रहा है । कलि के पॉच हजार से कुछ अधिक वर्ष भी अभी व्यतीत हुए हैं । इतना समय बीतने पर ही मानव जाति का मानसिक ह्रास एवं नैतिक पतन हो गया है, सह सर्वविदित है । यह स्थिति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जायेगी । ज्यों-ज्यों कलियुग आता जायेगा त्यों-त्यों ही धर्म सत्य, पतिव्रता, क्षमा, दया आयु बल और स्मरण शक्ति सबका उत्तरोत्तर लोप हो जायेगा । व्यावहारिक सत्य एवं निष्ठा समाप्त हो जायेंगे, छल कपट, वाक्पटु व्यक्ति ही कुशल विद्वान एवं बड़ा महात्मा आदमी समझा जायेगा । अर्थहीन व्यक्ति असाधु मूर्ख माने जायेंगे । धर्म-तीर्थ, माता-पिता गुरूजन शास्त्र उपेक्षित एवं तिरस्कृत होंगे । मनुष्य जीवन का सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ उदर-भरण ही होगा । धर्म को सेवन यश, बड़ाई, धन प्राप्त

---

1. श्रीमद् भागवत 1/3/25

करने के लिये ही किया जायेगा । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में जो शक्ति सम्पन्न होगा वही शासन क़रेगा। उस समय के राजा अत्यन्त दुष्ट एवं निष्ठुर होंगे । वे इतने लोभी होंगे कि उनमें और लुटेरों में कोई अन्तर नहीं माना जायेगा । उनसे भयभीत होकर प्रजा वनों एवं कन्दराओं में छिपकर तरह–तरह के शाक, कन्द, मूल, मांस फल–फूल और बीज–गुठली आदि अपनी क्षुधा मिटायेगी । समय पर वृष्टि नहीं होगी, वृक्ष फल–फूल विहीन होंगे ।

भयानक सूखा, सर्दी और गर्मी पड़ेगी । शासक कर पर कर लगाते जायेंगे । प्राणीमात्र धर्म की मर्यादा त्यागकर स्वछन्द मार्ग का अनुसरण करेंगे । मनुष्यों की परमायु सोलह वर्ष की हो जायेगी, कल्कि पुराण में लिखा है–

2. दम्भाचर दुराचाररास्तातमातृ विहिंसकाः ।
वेदहीनाः द्विजादीनाः शूद्र सेवापराः सदा ।
कुतर्कवाद बहुला धर्म विक्रार्यणोऽधमा ।
वेदविक्रयिणों ब्रात्या रस विक्रयठिास्तथाः ।
मांसविक्रयिणः क्रूराः शिश्नोदरपायणाः ।
परदाररता मता वर्ण संगरकारकाः ।
हस्वाकाराः पापसाराः शठा मठनिवासिनः।
षोऽशाद्वायुषः श्यालबान्धवा नीचसंगमाः ।

कलि के प्रभाव से प्राणियों के शरीर छोटे–छोटे, क्षीण, रोगग्रस्त होने लगेंगे । वेदमार्ग प्रायः नहीं रह जायेगा । वानप्रास्थी, सन्यासी आदि विरक्त जीवन व्यतीत करने वाले गृहस्थों की भाँति जीवन व्यतीत करने लगेंगे । मनुष्यों का स्वभाव क्रोध, पाप, अनाचारमय हो जायेगा । वे गर्दभ जैसे बुद्धि वाले तथा गृहस्थी का भार ढ़ोने वाले होंगे । धर्म–कर्म का लेश भी नंहीं रहेगा । लोग एक दूसरे का धन हड़पने, लूटने छल–छिद्रों द्वारा प्राप्त करने की ही योजनाओं में बुद्धि का प्रयोग करेगा । दूसरे का धन प्राप्त करने के लिये वध कर देने में भी संकोच नहीं करेंगे । मनुष्य प्रायः जप, पूजा–पाठ देवाराधना रहित तथा चार और नास्तिक होंगे ।

3. पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा ।
निरूद्देगों बहद्वदों न निन्दामुपलटस्यते ।
म्लेच्छीभूत जगत् सर्व भविष्यति न संसयः ।
हस्तो हस्तं परिमुषेद युगान्ते समुपस्थिते ।

पुत्र पिता का और पिता पुत्र का वध करके भी उद्विग्न नहीं होंगे । अपनी प्रशंसा

---

1. श्रीमद् भागवत 1/3/25 : 2.कल्कि पुराण 1/1/24–26 3. महाभारत 190/28/38

के लिये लोग बड़ी–बड़ी बातें बनायेंगे किन्तु समाज में उनकी निन्दा नहीं होगी । उस समय सारा जगत मलेच्छ हो जायेगा, इसमें संशय नहीं। एक हाथ दूसरे हाथ को लूटेगा। सगा भाई भी भाई के धन को हड़प लेगा।

अधर्म बढ़ जायेगा, धर्म विदा हो जायेगा। स्त्रियॉ अपने पतियों की सेवा करना छोड़ देंगी। वे कठोर स्वभाव वाली और सदा कटुवादिनी होगी। वे पति की आज्ञा में नहीं रहेगी। पथिकों को मांगने पर भी कहीं अन्न–जल अथवा ठहरने के लिये स्थान नहीं मिलेगा। सर्वत्र पाप, पीड़ा, दुःख–दाद्रिय, क्लेश, अनीति, अनाचार और हाहाकार व्याप्त हो जायेगा।

उस समय सम्भल ग्राम में विष्णुयशा नामक एक अत्यन्त पवित्र, सदाचारी और श्रेष्ठ ब्राह्मण होंगे। उन्हीं अत्यन्त भाग्यशाली ब्राह्मण विष्णुयशा के यहॉ कवि प्राज्ञ और सुमन्तक नामक माता–पिता, गुरू, ब्राह्मण भक्त पुत्र होने के पश्चात समस्त सद्गुणों के एक मात्र आश्रय, निखिल सृष्टि के सर्जक पालक एवं संहारक परब्रह्म परमेश्वर भगवान कल्कि के रूप में अवतरित होंगे। उनके रोम–रोम से अद्भुत तेजोमयी किरणें छिटकती रहेगी। वे महान बुद्धि एवं पराक्रम से सम्पन्न महात्मा, सदाचारी तथा सम्पूर्ण प्रजा के शुभैषी होंगे।

4. मनसा तस्य सर्वाणि वाहनान्यायुधानि च।
उपस्थास्यन्ति याोधाश्च शास्त्राणि कवचानि च ।
स धर्म विजयी राजा चक्रवर्ती भविष्यति ।।
स चेमं संकुलं लोकं प्रसादमुपनेष्यति ।
उथ्थितो ब्राह्मणो दीप्तः क्षयान्तकृदुदारधीः ।।

---

4. *महाभारत 190/94/96*

पंचम अध्याय

वैष्णवधर्म तथा सिद्धान्त 231-265

- ❖ वैष्णव धर्म तथा सिद्धान्त
- ❖ वेदो में जीव स्वरूप
- ❖ वेद में विष्णु नारायण
- ❖ वैष्णव धर्म में मोक्ष की कामना तथा मोक्ष का स्वरूप
- ❖ वैष्णव धर्म में यज्ञ का प्रादुर्भाव
- ❖ दर्शपौर्णमास यज्ञ
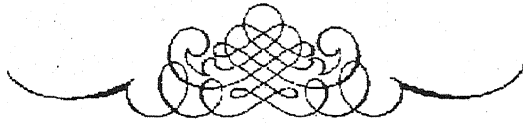
–:: वैष्णव धर्म तथा सिद्धान्त ::–

वैष्णव धर्म की प्रारम्भिक उद्भावना –

भारत की पुरातन धर्म–परम्परा में सात्वत् एवं पंचरात्र धर्मों का समन्वय भागवत धर्म से हुआ है, और भागवत् धर्म की पूर्णतः वैष्णव धर्म के रूप में प्रतिफलित हुई। इस रूप में भागवत धर्म, वैष्ण धर्म तथा उसकी शाखा–उपशाखाओं में उपजीव्य रहा है।

वैष्णव धर्म की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिये तत्कालीन प्रचलित जैन, बौद्ध धर्मों ओर शैव– शाक्त आदि अन्यान्य धर्मों का अनुशीलन आवश्यक है। जैन और बौद्ध धर्म निरीश्वरवादी होने के साथ–साथ वैदिक परम्पराओं के भी आलोचक रहे हैं।

विद्वानों के अभिमत से वैष्णव धर्म के जन्म एवं उत्थान के मूल में चार विचारधाराओं का योगदान रहा। प्रथम विचारधारा के मूल स्त्रोत वैदिक देवता विष्णु थे। दूसरी विचारधारा के आधार दार्शनिक देवता नारायण थे। तीसरी विचारधारा के अधिष्ठान ऐतिहासिक देवता वासुदेव थे और चौथी विचारधारा के स्तोत्र अभीर देवता बाल गोपाल थे। इन चारों विचार धाराओं में वैदिक देवता विष्णु को ही अधिक अपनाया गया है। अन्य अनेक देवताओं के होते हुए भी विष्णु को ही एकमात्र आराध्यदेव मानने की आवश्यकता इसलिये भी हुई कि वे ही एकमात्र ऐसे देवता थे, जिनकी ख्याति पीड़ित मानवों के रक्षक के रूप में प्रचलित थी। इसलिये वैदिक धर्मानुयायियों ने विष्णु को ही अपना आराध्यदेव बनाया और वैष्णव मत के अनुयायी को इनकी अधिक मान्यता प्रदान की कि उनके सम्बन्ध में महाभारत (18/6/97) में कहा गया है, कि इसमें संदेह नहीं कि अठारह पुराणों का श्रवण करने का जो फल प्राप्त होता है, उसे मनुष्य केवल वैष्णव बनने से ही प्राप्त कर लेता है।

वैष्णव धर्म का जो नया रूप प्रकाश में आया, वह परम्परागत सात्वत्, पांचरात्र और भागवत धर्मों का रूपान्तर था। उसको वैष्णव तत्व का व्यापक स्वरूप पौराणिक युग ने प्रदान किया। पुराणों द्वारा विष्णु के विभिन्न अवतारों का प्रचलन हुआ और उससे वैष्णव धर्म का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत हुआं अतः वैष्णव धर्म कहना चाहिए। क्योंकि पुराणों में ही उसको पूर्णता प्राप्त हुई है। वैष्णव मात्र बन जाने से अनन्त महिमा मण्डित पुराणों का पुण्य सहज ही प्राप्त हो जाने की यह धारणा वैष्णव धर्म की मान्यता तथा गरिमा को ही प्रकट करती है।

वस्तुतः हिन्दू धर्म में समय–समय पर विशेष देवताओं की प्रधानता रही है। कभी किन्हीं देवता को विशेष महत्वपूर्ण या श्रेष्ठ मानकर उनके अनुयायियों की एक लम्बी श्रृंखला बन गई और एक विशेष विधि से उनके द्वारा पूजा का विधान होने लगा। इसने उस देवता का रूप धारण कर लिया और उसके अनुयायियों ने उस धर्म के नाम के पीछे एक सम्प्रदाय विशेष की स्थापना कर ली। इस क्रम में छः सम्प्रदाय मुख्य रूप से हिन्दू समाज में प्रचलित हुए–

1. शैव, 2. वैष्णव, 3. शाक्त, 4. गणपत्य, 5. कौमार, 6. सौर। इनमें भी तीन प्रमुख हैं– शैव, वैष्णव ओर शाक्त। यहॉ वह सिद्धान्त जिसके द्वारा सर्वप्रधान देवता माने जाते हैं तथा सभी अन्य देवता उनके अधीन बताए जाते हैं, तथा इसकी व्याख्या जिस विशिष्ट रीति से की जाती है, वह वैष्णव धर्म कहलाता है। इसके अनुयायी वैष्णव या वैष्णव धर्मानुयायी कहे जाते हैं, इन्हीं को भागवत् भी कहते हैं इस धर्म में भक्ति सिद्धान्त ने प्रेम और भक्ति–भावना का सर्वाधिक विकास किया, जिसके कारण यह धर्म लोकप्रियता में शैव तथा अन्य धर्मों की तुलना में अधिक व्यापक है।

विष्णु तत्व– वासुदेवः सर्वम् ! मात्र यही जान लेना कि सारी सृष्टि में वासुदेव कृष्ण ही विराजमान हैं, इस धर्म का मूल मंत्र है। यहॉ यह माना जाता है कि जो कुछ भी यहॉ है सब उन्हीं से है और सब का लय भी उन्हीं में होना है– इस धर्म का मूल आधार है। काल स्थान और कारण से युक्त होते हुए भी वासुदेव इनसे परे है। वे हर स्थिति में थे, हैं और रहेंगे।

भूतभर्त च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च (गीता 13/16) अर्थात वह तत्वतः अखण्डित सब भूतों में विभक्त हो रहा है, सब भूतों का पालन करने वाला, ग्रसने वाला भी उसे समझना चाहिये। यही एक परब्रह्म है जो जानने योग्य है, वहीं सम्पूर्ण प्राणियों का सृजनहार, पालक तथा संहारक है, किन्तु यह विचित्र है कि ऐसा करता हुआ भी वह निर्लिप्त रहता है। वहीं अकेला रजोगुण प्रधान होकर ब्रह्मा, सतोगुण प्रधान होकर विष्णु तथा तमोगुण प्रधान होकर शिव कहलाता है।

''त्रिधा भिन्नो .... ज्ञानमनन्तकम्।'' इन सबके अलग–अलग लोक होते हैं किन्तु जो सर्वलोकेश्वर होता है वह महाविष्णु है। वही अपने अर्ध अंश में द्विभुजी कृष्ण है और अर्ध अंश में चतुर्भुजी विष्णु है। इस प्रकार यही अपने रूप को द्विविधीय व्यक्त करते हैं– कृष्ण और विष्णु। यहीं विष्णु ''एकोऽहं पन्चधा

जगतः'' पांच रूपों में (सौराश्च शैवा गणेशा वैष्णवा शक्तिपूजाकाः) सूर्य, शिव, गणेश, विष्णु और शक्ति के रूप में प्रकट होते हैं, इसीलिये विष्णु को अनेक विशेषणों से सम्बोधित किया जाता है।

विष्णु को ही पुरूषोत्तम कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु और महेश के कारण स्वरूप हैं। इसी से इनको परमात्मा भी कहा जाता है। क्योंकि इनमें तीनों गुण सत् (सत्य), चित् (ज्ञान) और आनन्द (अनन्तरूप) विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में नित्यविज्ञानान्धन (नित्य–अनन्त, विज्ञानान्द– ज्ञान और धन–आनन्द) इनको कहा जाता है। इसी से उनहें देवाधिदेव भी कहते हैं। अर्थात सभी देवताओं के अधिष्ठाता देवता हैं– ''विष्टम्याहमिदं कृत्सनमेकाशेन स्थितो जगत्''।

इस धर्म में समाहितं व्यक्ति के विचार अत्यन्त पवित्र होते हैं, जिससे उसके हृदय में सत्य, अहिंसा और प्रेम की भावना भर जाती है। इसके कारण, दया, करूणा, स्नेह, क्षमा व्यवहार की कोमलता तथा हृदय की विशालता, सभी प्राणियों के प्रति सदृश्यता उसके हृदय की विशालता, सभी प्राणियों के प्रति सदृश्यता उसके हृदय में जाग्रत हो जाती है। ''येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्ठाने नमः'' इस धर्म का केन्द्र है ''वसुधैव कुटुम्बकम'' आधार है– अंहिसा। ईश्वर केन्द्रित यह धर्म अनुशासनात्मक प्रवृत्ति का पोषक है इसका मूल लक्षण प्रवृत्ति मार्ग है। अर्थात इसमें कर्म को प्रधानता दी जाती है। ''प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मों नारायणात्मकः''।

वेदों के अनुसार जीव–जन्तु के मूल तीन तत्व होते हैं– 1. चित् 2. अचित् 3. ईश्वर।

चित का अर्थ है– जीव, अचित का प्रकृति जड़ तत्व और सबके अन्तर्यामी तत्व को ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर चित् तथा अचित् दोनों तत्वों से युक्त होता है। वहीं एकमात्र सत्ता है, उसे छोड़कर कोई स्वतंत्र सत्ता जगत में नहीं है। जीव तथा जगत वस्तुतः नित्य तथा स्वतंत्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के अधीन ही होकर रहते हैं, क्योंकि ईश्वर भोक्ता तथा भोग्य इन दोनों के भीतर अर्न्तयामी रूप से विद्यमान रहता है। इसलिये चित् तथा तथा अचित् ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं। ईश्वर सगुण तथा सविशेष हैं। संसार के समग्र पदार्थ विशिष्ट ही होते हैं। यहां तक कि निर्विकल्पक आपक्ष में भी सविशेष वस्तु की ही प्रतीति होती है। ईश्वर कल्याण गुणों आकार अनन्त ज्ञान, आनन्द रूप और ज्ञान शक्ति आदि कल्याण गुणों से विभूषित तथा जगत् के

सृष्टि–स्थिति प्रलय कार्य का कर्ता है। ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म को जो निर्गुण कहा गया है, उसका यही तात्पर्य है कि अल्पज्ञ जीव के राग द्वेष आदि गुण उसमें विद्यमान नहीं रहते। रामानुज ने श्वेताश्वतर का भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता यह त्रिविधि ब्रह्म यहाँ क्रमशः चित्, अचित् तथा ईश्वर के रूप में गृहीत किया गया है।

वेदान्तियों की दृष्टि में भेद तीन प्रकार का होता है– (1) सजातीय भेद– उसी जाति के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ भेद जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद। (2) विजातीय भेद– गाय का भैंस से भेद। (3) स्वगत भेद– अर्थात एक वस्तु में एक अंग का दूसरे अंग से भेद (जैसे– गाय के सींग तथा पूंछ में)

ईश्वर में प्रथम दोनों भेद तो अवश्य रहते है, परन्तु अन्तिम भेद नहीं रहता। ईश्वर का चित् अंश अचित् अंश से भिन्न होता है। ऐसी दशा में ईश्वर में स्वगत् भेद विद्यमान रहता है।

ईश्वर की सृष्टि स्थिति तथा प्रलय का कर्ता है। प्रलयमयी दशा में जगजीवों का तथा भौतिक पदार्थों का नाश हो जाता है तब भी चित् तथा अचित् दोनों अपनी जीवावस्था में ब्रह्म में विद्यमान रहते है। उस दशा में विषयों का प्रभाव होने के कारण ब्रह्म शुद्ध चित से तथा अव्यक्त अचित् से मुक्त रहता है और वह कारण ब्रह्म कहलाता है।

पुनः जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरधारी जीव तथा भौतिक पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होता है। उस समय वह कार्यब्रह्म कहलाता है।

ईश्व तथा अंश सम्बन्धी मीमांसा के लिये द्रव्य तथा गुण अथवा द्रव्य में विद्यमान रहने वाले "अपृथक–सिद्धि" नामक सम्बन्ध स्वीकृत किया है। यह सम्बन्ध न्यायवेशेषिक सम्मत समवाय के अनुरूप होने पर भी उससे भिन्न है। समवाय ब्राह्य सम्बन्ध है, परन्तु अपृथक सिद्धि का आन्तर सम्बन्ध है। चित–अचित का सम्बन्ध ईश्वर के साथ शरीर तथा आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के नितरां अनुरूप हैं। शरीर वही है, जिसे आत्मा धारण करता है। नियमन करता है, तथा अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिये कार्य में प्रवृत्त करता है। इनमें जो प्रधान होता है, वह नियामक होता है, तथा विशेष्य कहलाता है, जो गौण होता है, वह नियम्य होता है तथा विशेषण कहलाता है।

वेदों में जीव जगत्, जगत में व्यापक तत्व की कल्पना

जीवात्मा ब्रह्म का अंश है। वह उसके ही एक रूप का यथार्थ, अदभुत, नित्य, बुद्धिसम्पन्न आत्मचेतनायुक्त, अखण्ड एवं आणविक है। द्रव्य की दृष्टि से आणविक होते हुए भी वह ज्ञान की दृष्टि से असीम है। यह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं प्राण से भिन्न होने के साथ ईश्वर से भिन्न है। यह मानवीय स्तर पर शरीर और प्राण से युक्त है। जो इन्द्रियों के समान मात्र साधनस्वरूप है। पॉच कर्मेन्द्रियॉ एवं मन भी इसके साधन हैं। आणविक जीव का स्थान ह्रत्यदम में है। यह सुषुप्तावस्था में भी ह्रत्यदम के अन्दर तथा सर्वोपरि आत्मा में रहता है। जीव का आकार अणु होने पर भी वह अपने ज्ञान रूपी गुण द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है, और सुख–दुःख का अनुभव करता है।

जिस प्रकार दीपक की अत्यन्त छोटी शिखा अपने प्रकाश से अनेक पदार्थों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार आणविक जीव भी सम्पूर्ण शरीर के सुख–दुःख का अनुभव करता है। ज्ञान आत्मा का नित्य लक्षण है। जो दृव्य और गुण दोनों है। धर्म भूत ज्ञान जीव के बिना नहीं हो सकता। वह जीव का नित्य लक्षण है।

जीव ईश्वर की कृति नहीं है। यह विकास नहीं है। यह अपने तात्विक स्वरूप के कारण मृत्यु एवं जीवन की सभी क्रियाओं में अपरिवर्तित रहती है। जीवात्मा का विशिष्ट सारतत्व "अहं" है। आत्म–निरूपण ही स्वयं आत्मा का अस्तित्व है। यदि ऐसा न होता तो मोक्ष प्राप्ति करने के लिये प्रयत्न करने का कुछ अर्थ ही न होता। आत्मा बन्धन एवं मोक्ष दोनों अवस्थाओं में अपने वशिष्ट्य (ज्ञानतत्व) के भाव को स्थिर रखता है। जीव ज्ञाता, कर्ता एवं भोक्ता है। वह स्वभावतः आनन्द से युक्त है। किन्तु अविद्या एवं कर्म के कारण बन्धनग्रस्त हो जाने से उसका आनन्द सीमित होता है। जीव अपने मुख्य लक्षणों में ईश्वर से भिन्न है। यह ईश्वर का अंश है। ईश्वर अंशी है और जीव अंश है। आत्माएॅ विशेषण के रूप में ब्रह्म के अंश हैं। जीव के विशिष्ट लक्षण (दुःख की सम्भावना) आदि ईश्वर में नहीं घटित होते। जीव में ईश्वर अन्तर्यामी है। ईश्वर जीव का आधार, नियन्ता, शेषी एवं प्रकरी है। रामानुज के दर्शन में जीवात्माओं का संकल्प स्वातंत्र्य एवं दैवी अधिपत्य विशेष महत्व रखता है। वह स्वतंत्र है। ईश्वर उसका अन्तर्यामी अवश्य है, तथापि वह उसकी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किया बिना ही उसका नियन्त्रण करता है।

जीवों के तीन वर्ग हैं– नित्य, मुक्त, और बद्ध।

(1) नित्य जीव वैकुण्ठ में निवास करते हैं, और कर्म तथा प्रकृति से स्वतंत्र होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं।

(2) मुक्त जीव ज्ञान, पुण्य एवं भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं।

(3) बद्ध जीव वे हैं जो अपने अज्ञान एवं स्वार्थपरता के कारण संसार चक्र में घूमते रहते हैं। इसके चार भेद होते हैं– आकशीय (अतिमानव), मानव, पशु यद्यपि सभी जीवात्मा ही कोटि के हैं, तथापि उनके कर्मज शरीरों के कारण उनमें भेद किये जाते हैं।

संसार के अन्दर जीवात्माओं के दो वर्ग हैं– सुखेच्छु और मुमुक्षु। इस प्रकार जीव वहुत्ववाद का प्रतिपादन किया जा सकता है।

सर्वोपरि नैतिक व्यक्तित्व जो एकमात्र ईश्वर का है, जो प्रकृति एवं कर्मजन्य सभी बन्धनों से स्वतंत्र है। ईश्वर एवं जीव में शेष–शेषी सम्बन्ध है। शेषित्व ईश्वर की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्ति है, जिसके द्वारा वह जीवात्माओं के साथ व्यवहार करता है।

इस प्रकार ईश्वर और जीव दोनों अज्ञानोपहित चैतन्य हैं। ब्रह्म ही अज्ञानोपहित स्थिति में ईश्वर और जीव है। शुद्ध रूप में ब्रह्म है। अतः यदि कहा जाय कि अविद्या, ईश्वर, जीव और ब्रह्म है कुल ज्ञेय है। जैसे लूना चेतन प्रधान होकर तन्तु कार्य उत्पन्न करती है, तथा शरीर की प्रधानता में तन्तु कार्य की सामग्री प्रस्तुत करती है।

जाग्रत, स्पप्न, और सुषुप्त अवस्थायें, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, तथा आनन्दमय कोशों में उपलब्ध आत्म चैतन्य, स्थूल, सूक्ष्म कारण शरीरों की व्यष्टि अभिमानी जीव की क्रमशः विश्व, तैजस और प्राज्ञ संज्ञायें हैं।

–जगत–

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जगत् की स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं है। जगत् अपनी सत्ता के लिये पूर्णतया ब्रह्मा पर आमन्त्रित है, मायायुक्त ब्रह्म या ईश्वर इस जगत् का कारण है। ब्रह्म जगत का "अभिनानिमितोपादान" कारण है। माया ब्रह्म की शक्ति है। माया के कारण ही निर्गुण एवं भेदरहित ब्रह्म प्रपञ्चात्मक जगत् के रूप में आभासित होते हैं।

जगत मायारूप है। यह यथार्थ नहीं है। जगत् ब्रह्म से अनन्य है। अतः दोनों के मध्य सम्बन्ध की बात करना अनुचित है। वास्तव में तात्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत एक है। जिसमें प्रथम सत् है और द्वितीय आभासवान्। वस्तुतः कारण कार्य सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म एवं जगत् के विषय में अनुचित है। क्योंकि जगत ब्रह्म से अनन्य है। ब्रह्म

एवं जगत में भेद स्वीकार करने पर ही उनमें कार्य कारण का प्रश्न सार्थक होता है। ब्रह्म जगत का लाक्षणिक अर्थ है। वास्तव में ब्रह्म अधिष्ठान हैं और जगत उसका आभास है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म की सत्ता पर पर्दा डालकर उसे छिपाती है। और विक्षेप शक्ति से ब्रह्म के स्थान पर नामरूपात्मक जगत को आरोपित कर देती है। जीव माया या अविद्या से उपहित होकर इसी प्रपंचात्मक जगत को सत्य मानने लगता है।

शंकर " सामान्यतोदृष्ट अनुमान" के आधार पर भी जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। वे स्वप्न एवं भ्रम से जगत की तुलना करते हुए इसके मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म की एकमात्र सत् है, और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण शुक्तिरजत के समान ब्रह्मभिन्न सब कुछ मिथ्या है।

"ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात् शुक्तिरजतवत्।"

शुक्ति–रजत एवं जगत में सादृश्य हैं। दोनों में सदृश्य यह है कि दोनों विषयरूप हैं, चूंकि शुक्तिरजत की प्रतीति मिथ्या है। अतः ब्रह्मजगत को भी मिथ्या होना चाहिये।

शंकराचार्य "अध्यासवाद" के आधार पर भी जगत् की पारमार्थिक सत्ता का निषेध करके उसे मिथ्या सिद्ध करते हैं। अद्यास असत् में सत् का आरोप को कहते हैं। अर्थात् जो वस्तु जहॉ नहीं है उसका अनुभव होना अद्यास होता है। इस आधार पर एकमात्र परमार्थिक सत्ता तो ब्रह्म ही है, किन्तु अविद्या या माया के कारण हमें ब्रह्म के स्थान पर जगत् का ज्ञान (मिथ्या ज्ञान) होता है। अर्थात जगत् स्वरूप से ही ब्रह्म के अध्यस्त हैं। जीव को अविद्या के कारण ब्रह्म के स्थान पर जगत् का अनुभव होता है। किन्तु इससे ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जगत् का अनुभव ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को कभी भी प्रभावित नहीं करता।

अद्वेत विकास का जगत विषयक सिद्धान्त "विपर्तवाद" के नाम से भी जाना जाता है। इसे "ब्रह्मविवर्तवाद" कहते हैं। "विवर्त" शब्द का शब्दिक अर्थ है "विपर्यास या उलट जाना" ब्रह्मविवर्तवाद का अर्थ है कि "जगत ब्रह्म का विपर्यास है" अर्थात यह देशकाल बद्ध जगत निरपेक्ष ब्रह्म् का विवर्त या आभासमात्र है। जगत् पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है।

ब्रह्मपरिणामवाद में जगत को ब्रह्म का वास्तविक आकार परिवर्तन माना जाता है।

अद्वैत वेदान्त सत् असत् के आधार पर जगत् को मिथ्या मानता है। इसकी दृष्टि में जो कुछ भी ज्ञान का विषय है वह नाशवान है। सत् नहीं है। पुनः सत् वह है जो परस्पर विरोध मुक्त है।

एक अन्य परिभाषा के अनुसार सत् " त्रिकाला बाधित" है, अर्थात् तीनों कालों में विद्यमान है। यह वह है जो सदा था, है और रहेगा। इसके विपरीत, असत् वह है जिसका तीनों कालों में अभाव है, अर्थात् जो न कभी था, न है और न कभी होगा, जैसे– बन्ध्यापुत्र, खपुष्प आदि। इस आधार पर जगत का मिथ्यात्व स्पष्ट है। जगत् सत् नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान का विषय होने के कारण नाशवान है। यह जगत अन्तर्विरोधों से पूर्ण होने के कारण भी सत नहीं है। जगत का सर्वकालिक सत्ता नहीं है। इसकी सत्ता प्रतीतिपर्यन्त ही रहती है। कालान्तर में यह ब्रह्मज्ञान सेक बाधित होती है। इस कारण भी जगत को सत नहीं कहा जा सकता है।

पुनः यह असत भी नहीं है, क्योंकि जो बन्ध्यापुत्र के समान असत है वह कभी भी अनुभव में नहीं आ सकता। किन्तु जगत का अनुभव होता है। इस प्रकार जगत प्रपंञ्च सद्सद्विलक्षण होने के कारण मिथ्या है।

अद्वैत वेदान्त प्रतीतिक सत्ता के भी दो रूप मानता है– प्रतिमास और व्यवहार। प्रतिमास व्यक्तिगत स्तर का भ्रम है। इसमें स्वप्न और रज्जु सर्प, मुक्ति–रजत आदि भ्रमों की गणना की जाती है। जिसका अनुभव व्यक्ति विशेष को होता है। इसमें भ्रमात्मक ज्ञान समाप्त होने पर ज्ञान बाधित है। किन्तु यह तो स्पष्ट है कि प्रतीतिपर्यन्त यह प्रतिमास सत् होता है। पुनः व्यवहार भी भ्रम होता है, किन्तु असाधारण का। यह समष्टिगत भ्रम हैं जिसका अनुभव सबको होता है। और व्यवहार पारमार्थिक ज्ञान से बाधित होता है।

जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक इसकी सत्यता बनी रहती है।

वस्तुतः सत्ता के तीन स्तर प्राप्त होते हैं, 1. पारमार्थिक 2. प्रतिमासिक और 3. व्यवहारिक।

– पारमार्थिक सत्ता तात्विक सत्ता है जो कभी भी बाधित नहीं होती। यह सत्ता सभी प्रतीतियों में प्रकट होती है। इसका कभी भी बाध नहीं होता और न भविष्य में बाधित होने की सम्भावना ही होती है। इसका कभी–भी बाध नहीं होता और न भविष्य में बाधित होने की सम्भावना ही होती है। एकमात्र ब्रह्म ही इस स्तर की सत्ता है।

– प्रतिमासिक वह है जो केवल क्षण भर के लिये प्रकट होती है। स्वप्न पदार्थ और भ्रम–पदार्थ इसी स्तर के है। स्वप्न पदार्थ जाग्रतावस्था में बाधित होते हैं और भ्रम पदार्थ का निरास भी अधिष्ठान वस्तु के ज्ञान से हो जाता है।

– व्यावहारिक सत्ता वह है जो स्वाभाविक जाग्रतावस्था में प्रकट होते हैं और सभी के अनुभव में आते हैं। किन्तु भविष्य में तर्फत बाधित होने की सम्भावना के कारण इन्हें पूर्णतया सत् नहीं कहा जा सकता। सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत् इसी कोटि में आता है। सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत् तत्वज्ञान (ब्रह्म ज्ञान) से बाधित होता है। इस प्रकार व्याहारिक सत्ता (जगत) प्रतिमासिक सत्ता स्वप्न और भ्रम आदि से अधिक यथार्थ है। किन्तु पारमार्थिक सत्ता (ब्रह्म) अपेक्षा भ्रम आदि से अधिक यथार्थ है। किन्तु पारमार्थिक सत्ता (ब्रह्म) की अपेक्षा कम यथार्थ है।

इस प्रकार जगत व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है।

वेद में विष्णु नारायण

वैष्णव धर्म की उपासना एवं उसका महत्व, विष्णु का सत्‌रूप वैष्णव धर्म में मोक्ष की कामना एवं मोक्ष का स्वरूप श्रीमद्‌भागवत पुराण, वेद एवं विष्णु पुराण में सृष्टि के त्राता और पोषणकर्ता के रूप में भगवान का चित्रण है। बताया गया है कि शिशुमार की तरह आकार वाला जो तारामय रूप देखा जाता है, उसकी पूँछ मे ध्रुवतारा स्थित है। यह ध्रुवतारा घूमता रहता है और इसके साथ समस्त नक्षत्र चक्र भी। इस शिशुमार स्वरूप के अनन्त तेज के आश्रय स्वयं विष्णु है। इन सबके आधार सर्वेश्वर नारायण है। इस पुराण में विष्णु को परम तेजस्वी, अजर, अचिन्त्य व्यापक नित्य कारण रहित एवं सम्पूर्ण विश्व में व्यापक बताया है।

तदेव भगवद्‌वाच्यं स्वरूप परमात्मनः।

वाचको भगवच्छष्दरन्तस्याद्‌यस्याक्षयात्मनः।।

परमात्मा का स्वरूप 'भागवत' शब्द वाच्य है, और भगवत शब्द ही उस आद्‌य एवं अक्षय स्वरूप का वाचक है। वास्तव में ऐश्वर्य धर्म, यश, श्री ज्ञान और वैराग्य गुणों से युक्त होने के कारण विष्णु भगवान कहे जाते है।

एश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्रियः।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षष्णां भग इतीरणा।।

वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।

स च भेतेष्वशेषेषु वकारार्थस्त्तोऽव्ययः।।

विष्णुपुराण में भगवान शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है कि जो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति और नाश, आना और जाना, विद्या और अविद्या को जानता है वह भगवान है।

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।

वैत्ति विद्‌यामविद्‌यां च स वाच्यो भगवानिति।।

विष्णु सबके आत्मरूप में एवं सकल भूतों में विद्यमान है, इसलिए उन्हें वासुदेव कहा जाता है।—

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।

भूतेषु व सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः।।

जो–जो भूताधिपति पहले हुए हैं और जो आगे होंगे वे सभी सर्वभूत भगवान विष्णु के अंश हैं। विष्णु के प्रधान चार अंश हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण में ध्रुव, प्रह्लाद भागीरथ, विश्वामित्र, वासुदेव, पाण्डव धृतराष्ट्र, भीष्म पितामह, कंसवध, शम्बरवध, पारिजातहरण आदि इस प्रकार के कथानक हैं जसमें तत्कालीन समाज का इतिवृत्त निहित है।

यद्यपि कथानकों का रूप अतिशयोक्तिपूर्ण है और प्रत्येक आख्यान को श्रद्धागम्य बनाने के लिये दैवी चमत्कारों की भी योजना की गयी है। पर वास्तव में काव्यात्मक और सांस्कृतिक दृष्टि से इन आख्यानों का मूल्य अत्यधिक है। यहॉ हम विष्णु के सतरूप् की उद्भावना पर प्रकाश डालते हैं।

श्रीमद्भागवत्पुराण में प्रह्लाद का आख्यान आया है। यह दैत्यराज हिरण्यकशिपु का पुत्र था। हिरण्यकशिपु देव और परा शक्तियों का विरोधी था। वह अपने से अधिक शक्तिशाली संसार में किसी को नहीं मानता था। प्रह्लाद आरम्भ से ही भगवान् भक्त था। जब हिरण्यकशिपु कों प्रह्लाद की भक्ति का परिज्ञान हुआ तो वह अत्यन्त रूष्ट हुआ और उसने प्रह्लाद से कहा कि तुम मेरे शत्रुओं को आमंत्रित नही कर सकते हो। यदि ऐसा करोगे तो तुम्हें दण्डित किया जायेगा। कालान्तर में प्रह्लाद को शुक्राचार्य के यहां विद्याध्ययन के लिये भेजा गया। शुक्राचार्य के दो पुत्र थे– विष्णु और अमर्क। ये दोनों वहॉ अध्यापक थे, अतः प्रह्लाद एवं अन्य राक्षस पुत्रों को पढ़ाया करते थे। प्रह्लाद अपना पाठ याद करके सुना दिया करता था। उसका धर्म सम्बन्धी व्यवहार उन दोनों को खटकता था, पर वे प्रह्लाद कोक अपने उपदेशों से विचलित करने में असमर्थ थे। जब विद्याध्ययन समाप्त कर प्रह्लाद घर लौटा तो हिरण्यकशिपु ने उसे अपने गोद में बिठाकर प्रेम से पूंछा– वत्स ! तुमने बहुत कुछ पढ़ा है, मुझे भी कुछ अच्छी बातें बताओ। इस पर प्रह्लाद ने धर्म और भक्ति की बातें बताना प्रारम्भ किया। इन बातों को सुनते ही हिरण्यकश्यप बिगड़ गया और अपने पुत्र को गोद से उठाकर भूमि पर पटक दिया तथा राक्षसों को उसने मार डालने की आज्ञा दी। राक्षसों ने प्रह्लाद के ऊपर सभी अस्त्रों का प्रयोग किया किन्तु प्रह्लाद को एक खरोंच भी न आ सकी।

उक्त दृश्य को देखकर हिरण्यकशिपु को सन्देह होने लगा कि वह विष्णु ही तो मेरे घर में प्रह्लाद के रूप में अवतरित नहीं है ? उसने प्रह्लाद की हत्या करने के लिये अनेक उपाय किये। पर वे सब व्यर्थ सिद्ध हुए। जब पवन प्रेति अग्नि भी प्रह्लाद को

दग्ध न कर सकी तो दैत्यराज के पुरोहितों ने निवेदन किया कि स्वामिन् ! हम इस बालक को अपनी शिक्षा के द्वारा आपका भक्त बनाने का प्रयास करेगें। राक्षस पुरोहितों ने प्रह्लाद को अनेक प्रकार से समझाया–आयुष्मन् तुम्हें देवता, ब्रह्म अथवा विष्णु से क्या प्रयोजन ! तुम्हारे पिता सर्वशक्ति सम्पन्न है, सम्पूर्ण लोकों के आश्रय है, अतः तुम्हें उनकी स्तुति करनी चाहिये। जब प्रह्लाद पर समझाने का कोई प्रभाव न पड़ा तो पुरोहितों ने दण्डनीति के द्वारा उसे सुमार्ग पर लाने की चेष्टा की पर सब व्यर्थ हुआ।

उपर्युक्त आख्यान के विश्लेषन से निम्नलिखित तथ्य उपस्थित होते हैं –

वैष्णव धर्म की उपासना एवं उसका महत्व – भागवत्पुराण में उल्लिखित यह आख्यान नैराश्य उत्पन्न नहीं करता। प्रह्लाद की साधना आसुरी वृत्ति पर दैवी वृत्ति की विजय उपस्थित करती है। सात्विक भावों की अभिव्यजना के लिये प्रतीत रूप में दैवी और आसुरी वृत्तियों के संघर्ष उपस्थित किये गये हैं।

संघर्षों के रेखा बिन्दु में ही आख्यान गतिशील लक्षित होते हैं। अतः हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद का संघर्ष दो धाराओं का संघर्ष है। एक संस्कृति यज्ञ–यज्ञादि रूप हिंसा प्रधान है। तो दूसरी जगत के त्राण देने वाली अहिंसा संस्कृति के रूप में अभिव्यक्त है। हिरण्यकशिपु उन सात्विक भावों का विरोधी है, जिनसे मानवता की प्रतिष्ठा होती है। मनुष्य स्वात्मालोचन द्वारा सत्य या आलोक प्राप्ति के लिये भगवत्स्मरण करता है। अपने को क्रोध, मान, मायादि विकारी प्रवृत्तियों से पृथक कर भगवान् के सामीप्य की प्राप्ति करता है। प्रह्लाद भागवत्पुराण का यथार्थ प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह जगतशान्ति के लिये आसुरी प्रवृत्तियों का दमन आवश्यक समझता है। पर विशेषता यह है कि प्रह्लाद हिंसा के दमन के लिये हिंसा का प्रयोग नहीं करता। वह अपनी आत्मशक्ति का विकास कर अहिंसक प्रवृत्तियों से हिंसा को रोकता है। त्याग और संयम उसके जीवन के ऐसे दो स्तम्भ है। जिनके ऊपर वैष्णव सिद्धान्त की आधारशिला स्थित है।

भागवत पुराण में जितने स्कन्ध है उनमें सर्वाधिक मर्मस्पर्शी प्रह्लादोपाख्यान है। पुराणकार ने इस आख्यान के कथानक में आरोह अवरोह की स्थितियों का नियोजन किया। हिरण्यकशिपु नाना उपायों के द्वारा प्रह्लाद को साधनमार्ग से विचलित करना चाहता हैं। इसके लिये वह छल और बल दोनों का प्रयोग करता है। अतः हिरण्यकशिपु के प्रयासों में कथानक की अवरोह गति छिपी है, तो प्रहला्द के प्रयासों में आरोह स्थिति। प्रह्लाद को नाना प्रकार के कष्ट दिये जाते हैं, समझाया जाता है, साधना से

विचलित करने के लिये सम्भव और असम्भव उपाय किये जाते हैं, पर जब हिरण्यकश्प संकल्प और साधना में प्रह्लाद को दृढ़ पता है, तो उसके हृदय का नैराश्य ही कथानक में अवरोह ले जाता है। इन स्थितियों का जीवन दृष्टि से जितना मूल्य है, उससे कहीं अधिक कथाकाव्य की दृष्टि से। यतः भावों और अनुभूतियों का वैविध्य पाठक और श्रोताओं को सभी प्रकार से रसमग्न बनाये रखता है।

भागवत ने जीवन दर्शन की व्याख्या करते हुए अवतारवाद का सिद्धान्त निरूपित किया है। जब अधर्म की वृद्धि होती है, और धर्म पर विपत्ति आती है तो भगवान को जगत्यात्रा के रूप में अवतार ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार अवतार के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गई है।

वस्तुत यहाँ हिरण्यकश्यप वैदिक संस्कृति का प्रतीक है और प्रह्लाद पौराणिक संस्कृति का पोषक। इसी कारण पुराणकार ने प्रह्लाद के चरित्र द्वारा पौराणिक तत्वों की अभिव्यंजना की है।

इसमें शिक्षा, राजनीति के सिद्धान्त भी निहित है। बालक पाँच वर्ष की अवस्था में गुरूकुल में अध्ययन करने जाता था। प्रह्लाद शुक्राचार्य द्वारा कुलपति के रूप में। प्रह्लाद कुशाग्रबुद्धि छात्र है, वह अल्प समय में ही राजनीतिशास्त्र का अध्ययन कर लेता है। उस गुरूकुल की व्यवस्था हिरण्यकश्यप के राज्य द्वारा संचालित होती थी। इस आख्यान का महत्व आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वाधिक है। उस परब्रह्म परमेश्वर की भक्ति में कितनी शक्ति है, यह इस घटना से से स्पष्ट है। प्रह्लाद की आस्था भगवान् विष्णु को भी अवतार लेने पर विवश कर देता है। फलतः नृसिंह अवतार होता है, जो ज्ञान और शक्ति का एक साथ प्रतीक है।

मनुष्य जिस शक्ति और अधिकार को शारीरिक बल से प्राप्त नहीं कर सकता है, उस शक्ति और अधिकार को आध्यात्मिक बल से प्राप्त कर लेता है। काम–क्रोध, लोभ–मोह आदि विकारों से मनुष्य की शक्ति क्षीण होती है वस्तु की प्राप्ति की जिसकी प्राप्ति के लिये अनेक जन्मों तक प्रयास करते रहते हैं।

श्रीमद्भागवत् पुराण में आत्मशोधन, लौकिक अभ्युदय की उपलब्धि एवं जीवन में प्रगति और प्रेरणा प्राप्त करने हेतु व्रतों और पर्वों की साधना आवश्यक मानी गयी है। योगशास्त्र में चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये जिन योगांगों का निरूपण किया गया है,

उनका अवलम्बन करना साधारण व्यक्ति के लिये साध्य नहीं है। आलस्यादि विविध तमोमयी वृत्तियां आत्मोध्यान के लिये अग्रसर नहीं होने देती।

वस्तुतः पुराणों की यह बहुत बड़ी देन है कि व्रतों की साधना से वे आत्मा और परमात्मा को अवगत करने के लिये प्रेरित करते हैं। मनुष्य रागभाव के कारण ही अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति करने में संलग्न रहता है, किन्तु यदि भगवान् के प्रति ममत्व प्राप्त करना चाहता हो तो प्रथम सोपान नवधा भक्ति का आश्रय लिया जा सकता है।

भक्तिमार्ग के अतिरिक्त पुराण में सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का भी महत्वपूर्ण चित्रण आया है। इसके अनुसार विष्णु से ही सारा संसार उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में स्थित है, वे ही इसकी स्थिति और लय के कर्ता हैं तथा यह जगत् भी उन्हीं का स्वरूप है।

''विष्णोः सकाशादुद्भूत् .... जगच्च सः विष्णुपुराण।।

वैष्णव धर्म में मोक्ष की कामना तथा मोक्ष का स्वरूप

वैष्णव धर्म के अनुसार जिस तरह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के साथ जल के शीतलता, चंचलता आदि गुणों का सम्बन्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति के कार्य शरीर में स्थित रहने पर भी आत्मा वास्तव में उसके सुख, दुःखादि धर्मों से लिप्त नहीं होता। क्योंकि वह स्वभाव से निर्विकार, अकर्ता और निर्गुण है किन्तु जब वही प्राकृत गुणों से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, तब अहंकार से मोहित होकर "मैं कर्ता हूँ" ऐसा मानने लगता है।

1. **स एष यर्हि प्रकृतेगुणेष्वमिविषज्जते।**
अहं क्रियाविमूढ़ात्मा कर्तासमीत्यभिमन्यते।।

उस अभिमान के कारण वह देह के संसर्ग से किये हुए पुण्य कर्मों के दोष से अपनी स्वाधीनता और शान्ति खो बैठा है तथा उत्तम, मध्यम और नीच योनियों में उत्पन्न होकर संसार चक्र में घूमता रहता है। जिस प्रकार स्वप्न में भय शोकदिका कोई कारण न होने पर भी स्वप्न के पदार्थों में आस्था हो जाने के कारण दुःख उठाना पड़ता है, उसी प्रकार भय–शोक, अहं–मम एवं जन्म–मरणादि रूप संसार की कोई सत्ता न होने पर भी अविद्यावश विषयों का चिन्तन करते रहने से जीव का संसार चक्र कभी निवृत्त नहीं होता।

अतः बुद्धिमान मनुष्य को उचित है कि असन्मार्ग (विषय–चिन्तन) में फंसे हुए चित्त को तीव्र भक्तियोग और वैराग्य के द्वारा धीरे–धीरे अपने वश में लाये।

यम आदि योगसाधनों के द्वारा श्रृद्धापूर्वक अभ्यास चित्त को बार–बार एकाग्र करते हुए मुझमें सच्चे भाव रखने, मेरे कथा श्रवण करने, समस्त प्राणियों में सम्भाव रखने, किसी से वैर न करने, आसक्ति को त्याग, ब्रह्मचर्य, मौनव्रत, और बलिष्ठ (अर्थात भगवान को समर्पित किये हुए) स्वधर्म से जिसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो गयी है कि प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ मिल जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहता है व शान्त स्वभाव है, सबका मित्र है, दयालु और धैर्यवान है, प्रकृति और पुरूष के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से प्राप्त हुए तत्वज्ञान के कारण स्त्री, पुत्रादि सम्बन्धियों के सहित इस देह में मैं, मेरेपन का मिथ्या अभिनिवेश नहीं करता, बुद्धि की जाग्रदादि अवस्थाओं से भी अलग हो गया है तथा परमात्मा के सिवा और कोई वस्तु नहीं देखता– वह आत्मदर्शी मुनि नेत्रों से सूर्य को देखने की भाँति अपने शुद्ध अन्तःकरण द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर उस

---

1. श्रीमद्भागवत 3/27/2

अद्वितीय ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जो देहादि सम्पूर्ण उपाधियों से पृथक अहंकारादि मिथ्या वस्तुओं में सत्य रूप से भार सहने वाला जगत्कारणभूता प्रकृति यका अधिष्ठान, महदादि कार्य वर्ग का प्रकाशक और कार्य–कारण रूप सम्पूर्ण पदार्थों में व्याप्त है।

जिस प्रकार जल में पड़ा हुआ सूर्य का प्रतिबिम्ब दीवाल पर पड़े हुए अपने आभाष के सम्बन्ध से देखा जाता है और जल में दिखने वाला प्रतिबिम्ब से आकाश स्थित सूर्य का ज्ञान होता है और फिर सत् परमात्मा के प्रतिबिम्बि युक्त उस अहंकार के द्वारा सत्य ज्ञानस्वरूप परमात्मा का दर्शन होता है– जो सुषुप्ति के समय निद्रा से शब्दादि भूतसूक्ष्म, इन्द्रिय और मन बुद्धि आदि के व्याकृत में लीन हो जाने पर स्वयं जागता रहता है और सर्वथा अहंकार शून्य है। (जाग्रत अवस्था में यह आत्मा भूतसूक्ष्म आदि दृष्यवर्ग के द्रष्टारूप में स्पष्टतया अनुभव में आता है) किन्तु सुषुप्ति के समय अपने उपाधिभूत अहंकार का नाश होने से वह भ्रमवश अपने को ही नष्ट हुआ मान लेता है और जिस प्रकार धन का नाश हो जाने पर मनुष्य अपने को भी नष्ट हुआ मानकर अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार वह भी अत्यन्त विवश होकर नष्टवत् हो जाता है। इन सब बातों का मनन करके विवेकी पुरूष अपने आत्मा का अनुभव कर लेता है, जो अहंकार के सहित सम्पूर्ण तत्वों का अधिष्ठान और प्रकाशक है।

जिस प्रकार अग्नि का उत्पत्ति स्थान अरणि अपने से ही उत्पन्न अग्नि से जलकर भस्म हो जाती है, उसी प्रकार निष्काम भाव से किये हुए स्वधर्मपालन द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होने से बहुत समय एक भगवत्कथा श्रवण द्वारा पुष्ट हुई मेरी तीव्र भक्ति से तत्व साक्षात्कार करने वाले ज्ञान से, प्रबल वैराग्य से व्रत नियमादि के सहित किये हुए ध्यानाभ्यास से और चित्र की प्रगाढ़ से और चित्र की प्रगाढ़ एकाग्रता से पुरूष की प्रकृति (दिन–रात) क्षीण होती हुई धीरे–धीरे लीन हो जाती है। फिर नित्यप्रति दोष दिखने से भोगकर त्यागी हुई वह प्रकृति अपने स्वरूप में स्थित और स्वतंत्र (बन्धनयुक्त) होते हुए उस पुरूष का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती।

जैसे सोये हुए पुरूष को स्वप्न में कितने ही अनर्थों का अनुभव करना पड़ता है किन्तु जगने के बाद उसे उन स्वप्नों के अनुभवों से किसी प्रकार का मोह नहीं होता उसी प्रकार जिसे तत्वज्ञान हो जाता है और जो निरन्तर (मुझमें ईश्वर) लीन रहता है, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ सकता है।

जब मनुष्य अनेकों जन्मों में बहुत समय तक आत्मचिन्तन में ही निमग्न रहता है तब उसे ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी प्रकार के भोगों से वैराग्य हो जाता है।

मेरा वह धैर्यवान् भक्त मेरी ही महती कृपा से तत्वज्ञान प्राप्त करके आत्मानुभव के द्वारा सारे संशयों से मुक्त हो जाता है और फिर लिंग देह का नाश होने पर एक मात्र मेरे ही आश्रित अपने स्वरूपभूत कैवल्य संज्ञक मंगलमय पद को सहज में ही प्राप्त कर लेता है, जहाँ पहुंचने पर योगी फिर लौटकर नहीं आता है।

यदि योगी का चित्त योग साधना से बढ़ी हुई मायामयी अणिमादि सिद्धियां में जिनकी प्राप्ति का योग के सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है, नहीं फंसता है तो उसे मेरा वह अविनाशी परमपद् प्राप्त होता है, जहां मृत्यु की छाया भी उसे छू नहीं सकता है।

विश्व के सभी धर्मों को उद्देश्य है – दैवी प्रेम की प्राप्ति। इसी प्रेम की प्राप्ति का प्रयास वैष्णव धर्म विविध मार्गों कर्म ज्ञान और भक्ति द्वारा करने का निर्देश देता है। इसके लिये ईश्वर की उपासना विभिन्न रूपों के माध्यम से की जाती है। इसलिये चौबीस अवतारों की बात इस धर्म में की गई है। साथ ही व्यक्त और अव्यक्त स्वरूपों की भी चर्चा इसमें हुई है। स्वतः क्रिया ही मन की शुद्धता का यहाँ आधार है और ज्ञान का कारण है। इसमें भक्ति ही प्रधान है। इसी को ईश्वर की प्राप्ति का माध्यम स्वीकार किया गया है। यहां ब्रह्ममय हो जाना ब्रह्म सायुज्य ही इस धर्म की परिणति है। इसके लिए भक्ति का माध्यम बताया गया है। भक्ति एक ही की होती है–

''मामेकं शरणं ब्रज'' किन्तु यहाँ भाव की शुद्धता आवश्यक है ''शुद्धभावं गतो भक्त्याः'' जैसे बालक की भावना गुरू में होती है– ''यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ'' क्योंकि इसी से ब्रह्मज्ञान (विष्णु) की प्राप्ति होती है। इसी से विष्णु को भक्तवत्सल कहा जाता है।

''जीव और जगत की उत्पत्ति, विनाश में विष्णु का महत्व''

ऋग्वेद के नासदीय् सूक्त में विवक्षावशात् माया को नौ नामों से अमिहित किया गया है 1. न सत्, 2. न–असत्, 3. स्वधा, 4. तमस्, 5. तुच्छ, 6. आभु, 7. असत्, 8. मनस, 9. परमव्योम्।

परमात्मा का मन माया रूप है। परमव्योम का अथ है सच्चिदानन्दस्व रूप परमात्मा है, वहां ''यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'' (तैत्ररीयोपनिषद) की शैली में

अव्याकृतसंज्ञक माया भी है। कठरूद्रोपनिषद (10–11) ने भी माया को परमव्योम माना है–

संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञके।

निहितं ब्रह्म् यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते।।

सोऽश्नुते सकलान् कामान् क्रमेणैव द्विजोत्रमः।।

नासदीय सूत्र में 1. ब्रह्म को "आनीदवात्" और अध्यक्ष " इन दो नामों से अनिहित किया गया है। 2. जीव को रेतोधा और प्रयति (प्रयतिता) इन दो नामों से अनिहित किया गया। 3. जगत् को स्वधा, सत्, विसर्जन और विसृष्टि इन चार नामों से अमिहित किया गया है।

वेद में कहा गया है कि महाप्रलय में शशाःमृडगादि तुल्य निरूपाख्य "निरूपाख्य "असत्" नहीं था। न आत्मा और आकाशादि तुल्य निर्वाच्य (निरूपण करने योग्य) सत् ही था। उस समय शशश्रृड़गादि तुल्य असत् ही होता तो उससे अर्थ क्रियाकारी आकाशादि उत्पत्ति हीं कहां सम्भव होती। उस समय यदि सर्ग दशा के तुल्य आकाशादि की विद्यामनता ही होता तो महाप्रलय की प्राप्ति ही कहां होती। परिशेष से यही सिद्ध होता है कि सत् और असत् तथा इनसे विलक्षण रजोरूप कार्यप्रञ्च से विरहित स्वाश्रयसापेक्ष, स्वाश्रयभावापन्न अनिवर्चनीया माया ही महाप्रलय में शेष थी। अभिप्राय यह है कि महाप्रलय के समय में चतुर्दुश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड नहीं था। क्या आवरक (आच्छादक) था। नहीं ! जब आवर्य अर्थात् आवरण विषयक ही कुछ नहीं या तष आवरक कहॉ से होता। अभिप्राय यह है कि आवरक को आवरण करने वाला कोई भी उस समय नहीं था। जिसमें स्थिति लाभ करके वह आवर्यक को आवृत्त करता।

उस समय भोक्ता जीव भी तो देहेन्द्रिय प्राणान्तः करणरूप उपाधि से विरहितः ईश्वरभावापन्न होकर ही अवशिष्ट था। उस समय जी भी नहीं था। क्योंकि महाप्रलय में उसका रहना सम्भव नहीं है। आवर्य चतुर्दश भुवनगर्भ ब्रह्माण्ड के तुल्य आवरक पृथिव्यादि महत्रत्व पर्यन्त उपादात्मक तत्व भी कार्यकोटि के होने से महाप्रलय में ब्रह्माधिष्ठिता मायारूप से ही अवशिष्ट रहते हैं। आभूषणरूप आवर्यके न रहने रहने पर भी सुपर्णरूप आवरक शेष रहता है, परन्तु महाप्रलय में कोई भी आवरक शेष नहीं रहता है।

"तमसा ग्वंगहमग्रे" "तुच्छयेनाम्वपिहितं" यदासीत्" इस वक्ष्यभाव वचन के अनुसार बीज में संनिहित अंगरादि को बीज से समावृत करने के तुल्य असत्कल्प तमस् में संनिहित जगत् को तमस् से समावृत्र कहा गया है। कार्य की अपेक्षा कारण में निर्विशेषताः सूक्ष्मता और कारण आवरक बन जाता है। कारण के रूप में प्रतिबन्धक होने से कार्य आवरक माना जाता है।

शास्त्रों में चार प्रकार का प्रलय मान्य है– 1. नित्य 2. नैमित्रिक, 3. प्राकृतिक, 4. आत्यन्तिक। सावयव कार्यात्मक देहादि का प्रतिक्षण परिवर्तन "नित्य प्रलय" है। ब्रह्माजी की निद्रा के निमित्त "भूः" आदि लोकंत्रय का प्रलय नैमित्रिक प्रलय है। चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड सहित भुवनोपादन पृथिव्यादि तत्वों का प्रकृति में लय प्राकृतलय है तथा ब्रह्मात्मक विज्ञान के अमोघ भाव से अविद्या और उसके कार्य वर्ग का छेदन कर जीव का स्वरूपावस्थान अत्यन्त्रिक प्रलय है। सहस्त्रयुग पर्यन्त ब्रह्माजी का एक दिन होता है और दिन के तुल्य रात होती है। तीन सौ साठ दिन का एक वर्ष होता है और सौ वर्ष की ब्रह्माजी की पूर्णायु होती है। उसी को परार्ध कहते हैं। ब्रह्माजी की आयु पूर्ण होतें ही, पञ्चभूतात्मक जगत् माया में लीन हो जाता है। ब्रह्माजी भी माया में लीन होते हैं। ब्रह्माजी के तुल्य ही रुद्रादि मूर्तियाँ भी माया में लीन होती हैं।

प्रतिहार के समय (महाप्रलय) मृत्यु नहीं था, और न मृत्यु के अभाव से सिद्ध अमरस्वभाव कोई प्राणी ही या। रात–दिन और इनसे उपलक्षित मास,ऋतु, संवत्सर प्रभृति सर्वकाल और काल–काल के न रहने से "मृत्यु" नहीं था। यह कथन सर्वथा चरितार्थ ही है। अभिप्रायः यह है कि दारुतुल्य मृत्युसंज्ञक संहार हो जाने पर दाहकतुल्य अमृतसंज्ञक संहारक महाकाल भी महाप्रलय में शेष नहीं रहता। अथवा सर्वसंहारक मृत्युसंज्ञक काल और ज्ञानमय अमृतसंज्ञक जीव शिवतादात्म्यापन्न होकर स्थित रहता है। कार्यपपञ्च का उपादानात्मक लयस्थित महाकारण माया भी वक्ष्यमाण मायाश्रय महेश्वर से एकीभूत रहती है। मृत्यु अग्नितुल्य है। महाप्रलय उत्तरसर्ग की अपेक्षा मृत्यु की अभिव्यक्ति की पूर्वावस्था है। पूर्वसर्ग की अपेक्षा वह मृत्यु के ध्वंस की उत्तरावस्था है। अग्नि की अभिव्यक्ति के पूर्व और अग्नि के ध्वंस के पश्चात् अग्नि का असत्व दृष्यन्त है। इस कथन के पीछे दार्शनिकता यह है कि भोग का हेतु कर्म है। फलोन्मुख परिपक्व कर्माधीन ही भोग है। बिना कर्म के भोग असम्भव है। निरपेक्ष अमृत ब्रह्म और ब्रह्माधिष्ठिता माया है।

महाप्रलय में उसका अस्तित्व ही श्रुतिका प्रतिपाद्य है। अतएव निरपेक्ष अमृतका प्रतिषेध अप्राप्त है। सापेक्ष अमृत–प्रलय में अवशिष्ट महः जनः तपः और सत्यम संज्ञक परमेष्ठिलोक, परमेष्ठिदेह और परमेष्ठिपद है। उसी का प्रतिषेध यहां विवक्षित है। व्यष्टि, समष्टि, सूक्ष्म और कारण शरीर पर्यन्त जीवभाव है।

महाप्रलय में मायारूपी महाकारण में सूक्ष्म और कारणप्रपञ्च विलय हो जाने के कारण जीवसंज्ञक अमृत का प्रतिषेध महाप्रलय में उपयुक्त ही है। ब्रह्मम अधिष्ठाता प्रकृति निमित्रिक रूपा और तामः प्रधाना प्रकृति उपादान कारण है। मलिनसत्वप्रधाना और तमः प्रधाना प्रकृति का लयस्थान त्रिगुणमयी गुणसाम्या माया महाकारण है। ब्रह्माधिष्ठिता माया महाप्रलय में शेष रहता है। अभिप्राय यह है कि कालातीत महामाया ही काल गर्भित पृथिव्यादिक प्रतिषेध का अवच्छेदक अर्थात् उपादानरूप से अवशिष्ट रहती है। परमात्मा में मुख्य ईक्षण भी विशुद्धसत्वात्मिका माया के योग से ही सम्भव है। अतएव ब्रह्माधिष्ठिता माया जगत का निमित्र कारण भी हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्म में अभिन्ननिमित्रोपादान कारणत्व जिस माया के आध्यात्मिक संयोग से है, वहीं महाप्रलय में कालगर्भित पृथिव्यादि के प्रतिषेध का अवच्छेदक हो सकती है, अथवा "तदानीम्" आदि कालवाचक पदों की सार्थकता भी मायोपहित ब्रह्म की कालरूपता के कारण सम्भव है। जब भोग्य और भोगपद काल नहीं था तथा–भोक्ता–कर्ता भी नहीं था, तब कौन था ? क्या शून्य तो नहीं था। नहीं सम्पूर्ण प्राणि सूमह को आत्म सात् किये स्वयं बिना वायु (प्राण) के ही वह प्राण का भी प्राण परब्रह्म प्रतिष्ठित था। ऐसा भी नहीं कि मायासंयुक्त होने पर भी शुद्धब्रह्म की महाप्रलय में असम्भावना सांख्यसम्मत प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका स्वतन्त्रता माया को हि सिद्ध करती है।

वस्तुस्थिति यह है कि नित्यता, असंगता और अद्वितीयता को न त्यागते हुए अर्थात् साधे हुए ही स्वनिष्ठ (जलनिष्ठ) सलिल के तुल्य वह परब्रह्म माया को आत्मसात किये। अर्थात सर्वथा एकीभूत की स्थित था। निःसन्देह उस परब्रह्म से परे कुछ भी नहीं था। सर्गकालिक द्वैत उस समय नहीं था। द्वैतबीज माया को परब्रह्म अपने में उदयस्त बनाये आत्मसात किये हुए था। जब भूत–भौतिक माया भी परब्रह्म में अदयरत ही थी, तब किसको लेकर द्वैत होता।

महाप्रलय में तादाम्यापन्न या अविभागापन्न होकर ही स्वधासंज्ञक माया विद्यमान थी। ब्रह्माश्रिता माया वृक्षाश्रित अमरबेल के तुल्य ब्रह्माण्डपुष्पोपादिनी विचित्र शक्तियों से

सम्पन्न स्वतंत्र सत्राशून्य होती हुई ही विद्यमान थी। वह ब्रह्म से पृथक गणना के योग्य नहीं थी। सर्वथा शक्तिमात्र की पृथक गणना सम्भव नहीं थी। शक्ति कार्य उस समय नहीं था। ऐसी स्थिति में मायासहित सत्–तत्व सद्वितीय हो ऐसा सम्भव नहीं था।

इस प्रकार अनिर्वचनीया माया के योग सेक भी ब्रह्म वस्तुतः "अनीदवात्" अर्थात स्वतन्त्र सत् सिद्ध हुआ है। ब्रह्म के योग से माया सत् अर्थात निर्वाच्य नहीं होती। इसलिये "नो सदासीत" य़ह उक्ति चरितार्थ होती है। वायु के योग से जैसे आकाश चंचल नहीं होता, और आकाश के योग से, वायु स्थिर नहीं होती, अग्नि के योग से वायुमूर्त नहीं होती, और वायु के योग से अग्नि अमूर्त नहीं होती। वैसे ही माया के योग से ब्रह्म अनिर्वाच्य (मिथ्या) नहीं होता और ब्रह्म के योग से माया सत् नहीं होती है।

सृष्टि के पूर्व तमस् ही था। जगत्कारण तमस से नामरूपात्मक प्रपंच ढका था। जैसे रात्रि का अन्धकार सब पदार्थों को ढक लेता है, वैसे ही उस तमस ने सबको अपने अन्दर गूढ़ कर रखा था।

आच्छादक का ही सर्ग दशा में आच्छादन हो जाना और प्रलय दशा में लय स्थान हो जाना– परमेश्वर के अमोघ महात्म्य का द्योतक है। जिन पदार्थों का प्रलय काल में निषेध किया जाता है उसी का जगत की उत्पत्ति के समय में परमात्मा से अधिष्ठित माया से अभिव्यक्त होते हैं। उन पदार्थों का परिपूर्ण प्रकाशरूप परमात्मा ने सृष्टव्यपर्यालोचन रूप तप से रचा।

– परमात्मा ने जीव और जगत के उत्पत्ति करने से पहले यथार्थ संकल्प रूप कृत, वाचिक, यथार्थ भाषण रूप सत्य तथा इनसे उपलक्षित धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच इन्द्रियनिग्रहादि शास्त्रीय धर्मों को रचा इसी प्रकार उसने रात–दिन और जल से परिपूर्ण समुद्रों को उत्पन्न किया। उसने संवत्सरोपलक्षित सर्वकाल उत्पन्न किया–

"सर्वे निमिषा जज्ञिरे विद्युतः पुरूषादधि"। कला मुहूर्ताः काष्ठाश्च।

दिन–रात से उपलक्षित सर्वभूतों को व्यक्त किया। उस विधाता ने पूर्ण काल के अनुरूप ही काल के ध्वजरूप सूर्य–चन्द्र को तथा पृथ्वी अन्तरिक्ष और सुखरूप द्युलोकसंज्ञक त्रिभुवन से उपलक्षित चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड की रचना की।

व्यवहार–दशा की विविधता वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मरूप परमेश्वर की पालन प्रवृत्ति के अनुरूप जब तक ईक्षणशक्ति काम करती रहती है, तब तक जीवों के कर्मोपभोग के लिये पिता–पुत्रादि कारण कार्य रूप से यह सृष्टि चक्र निरन्तर चलता

रहता है। महाप्रलय का योग समुपस्थित होने पर सर्गक्रम के विपरीत क्रम से पृथिव्यादि तत्व अपने कारण में विलीन होते हैं। ज्ञान क्रियोमयशक्ति प्रधान कार्यात्मक महतत्व त्रिगुण के द्वार से अव्यक्त प्रकृति में लीन होता है। प्रकृति का क्षोभ कालाधीन है, अतः वह काल से एकीभूतरूप लय को प्राप्त होती है। काल अपने चेतनमय ज्ञानमय जीव में तादात्म्यापति रूप लय को प्राप्त होता है। जीव अपने शिवरूप स्वरूप लय को प्राप्त होता है।

ईश्वर ने सर्जनेच्छा से सृष्टव्यपर्यालोचन रूप तप किया। सर्जनेच्छा ईश्वर के मायारूप मन में हुआ। अभिप्राय यह है कि अतीतकल्प में अकृतार्थ जीवों के मन से सम्बन्धित और मन में संमिहित जो भाविप्रपञ्च का हेतुभूत वासनात्मक कर्म था, उसी के उद्बुद्ध और फलोन्मुख होने के कारण सर्ग के आरम्भ में प्राणियों को आत्मसात किये महेश्वर के मायारूप मन में पर्यालोचनरूप तप का भी मूल सिसृक्षारूप काम उत्पन्न हुआ। "तम आसीत्" तथा "असत्" कहकर श्रुति ने भावरूप अव्याकृतात्मक अज्ञान को तथा" कामस्तदग्रे समवर्तताधिं कहकर काम को और " रेतः प्रथमं यदासीत्" कहकर कर्म को जगत का मूल माना है। अभिप्राय यह है कि जगत अविद्या तथा काम और कर्मों के अनुरूप ही जगत की रचना करते हैं।

जीवनिष्ठ अविद्या काम ओर कर्म सृष्टि के हेतु है। अविद्योपादानक और काम कर्म निमितक आकाशादि भूत और भौतिक पदार्थ का सर्जन करते समय कार्यवर्ग सूर्यरश्मि सदृश शीघ्र विस्तार और प्रकाश को प्राप्त होता है।

भोक्ता भगवान के अनुरूप अभिव्यक्ति है। भोग्य अविद्या के अनुरूप अभिव्यक्ति है और भोक्ता अविद्या के विरूप अभिव्यक्ति है। भोक्ता अन्नाद। अन्न भोग्य है और जीव भोक्ता।

अन्न शेष है, और अन्नाद शेषी। शेषी जीव में शेष की दासताउपयुक्त नहीं है। सृष्टि का मूल तत्व दर्विज्ञेय है। जो वस्तु जानी जाती है, वह तो दृश्य, जड़, तथा विकारी ही होती है। जिसका हम कारण रूप से अनुमान करते हैं। अथवा जिसे हम कारणरूप से जानते हैं, वह सावयव विकारी ही होता है, अतएव नश्वर होता है। ऐसी स्थिति में कार्य–कारण–कल्पना के प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वयम्प्रकाश प्रत्यग्र ब्रह्म को ज्ञान का विषय कैसे बनाया जा सकता है। नाम–रूपात्मक जगत् अनिर्वचनीय होने से निरूपण का विषय नहीं है। जगत्कारण अधिष्ठानात्मक उत्पादन ब्रह्म शब्द प्रवृत्ति के

हेतु जाति गुण, क्रिया सम्बन्ध, रूढि रहित, होने से अभिधावृत्ति से शब्द प्रवृत्तिका अविषय है। ऐसी स्थिति में जगत कितना है, कैसा है और इसका उपादान तथा निमित्रकारण कौन है– आदि तथ्यों को कौन विधिवत् जानता है, कौन इसे विधिवत् ज्ञात करा सकता है।

धरादिके कर्ता में जो देहादि की स्थिति है, वह ईश्वर में सर्वतोभावेन चरितार्थ हो ऐसा आवश्यक नहीं है। व्याप्ति के बिना समानाधिकरण्य मात्र असाधक ही होता है। जैसे रसोई घर में घूम और अग्नि के साहचर्य सदृश पर्वत में घूमाग्नि का साहचर्य करते हैं, वैसे ही उस कर्ता को देहादियुक्त अनुमति करना अनुचित है। ऐसा न समझने वाला विमोहित तो होते ही हैं। जब देवगण भी उस तत्व को नहीं जान सकते तब मनुष्य में भला कौन जान सकता है। मनुष्यों के साथ तो अल्पज्ञता सर्वतोभावेन अनुबिद्ध है।

वस्तुतः इस तथ्य को इस प्रकार प्रकाशित किया जा सकता है। कि जिस विर्वतोपादान कारण से अर्थात् कल्पित कार्य के उपादान कारण से इस विविध, विचित्र, परस्पर–विपरीत (विलक्षण) सृष्टि का उदय हुआ है, वह भी इस सृष्टि को अपने स्वरूप में धारण करता है या नहीं। अन्य कोई धारण कर ही नहीं सकता। यदि धारण कर सकता है तो सर्वेश्वर ही है। इस सृष्टि का जीव जगत का जो परमेश्वर है, वह परमव्योम में रहता है। वह भी कहीं इसे जानता है कि नहीं। देश–कालादि त्रिविध परिच्छेदशून्य परमात्मा सृष्टि के मूल कारण अपने–आपको जानता भी है, अथवा नहीं। देश–कालादि विविध परिच्छेद शून्य परमात्मा सृष्टि के मूलकारण अपने–आपको जानता भी है अथवा नहीं "यदि वा न वेद" का अभिप्रायः यह है कि जब स्वदृष्टि से सृष्टि है ही नहीं, तब उसे सर्वज्ञ ही जाना जा सकता है।

–वैष्णव धर्म में यज्ञ का प्रादुर्भाव–

भारतीय संस्कृति और वेद पुराणों में यज्ञों की अपार महिमा निरूपित है। यज्ञ तो वैष्णव धर्म का मुख्य आधार है। यज्ञों के द्वारा विश्वात्मा प्रभु को संतृप्त करने की विधि बतलायी गयी है। अतः जो जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें यज्ञ–यागादि शुभ कर्म अवश्य करने चाहिये। परमात्मा के निःश्वासभूत वेदों की मुख्य प्रवृत्ति यज्ञों के अनुष्ठान–विधान में है। यज्ञों द्वारा पर्जन्य वृष्टि आदि से संसार का पालन होता है। इस प्रकार परमात्मा यज्ञों के सहारे ही विश्व का संरक्षण करते हैं। यज्ञकर्ता को अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

मनुष्य को अपने जीवन के सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञन्धर्म का पालन करना चाहिये। मानव का और यज्ञ का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टि के प्रारम्भकाल से ही चला आ रहा है। वस्तुतः देखा जाय तो मानव के जीवन का प्रारम्भ ही यज्ञ से होता है। इसका स्पष्टीकरण गीता में भी किया गया है–

1. **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।**
   अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्।।
   देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
   परस्परं भावयन्त श्रेयः परमवाप्स्यथ।।

प्रजापति (ब्रह्मा) ने सृष्टि–रचना के समय यज्ञ के साथ मानव जाति को उत्पन्न करके उनसे कहा– इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिये "मनोऽभिलाषित फल देना वाला होगा" तुम इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को संतुष्ट करो और तुम लोगों की यश, फल प्रदान के द्वारा सन्तुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर तुम दोनों अत्यन्त कल्याणपद को प्राप्त करो।

पदमपुराण में मानव की उत्पत्ति ही यज्ञ कर्म के सम्पादन के लिये बतायी गई है–

2. **यज्ञन्ष्पित्रये सर्वमेतद् ब्रह्मा चकारह।**
   चातुवर्ष्य महाभाग यज्ञसाधनमुत्रमम्।।

हे महाभाग! ब्रह्माजी ने यज्ञ–कर्म के लिये ही यज्ञ के श्रेष्ठ साधन चातुर्पण्य के रूप में मानव की रचना की।

---

1. भगवत्गीता 3/10–11 2. पदमपुराण (सृष्टिखण्ड) 3/123

शुक्ल यजुर्वेद में आता है– कि सर्वप्रथम उत्पन्न भगवत स्वरूप उस यज्ञ से इन्द्रादि देवताओं, सृष्टि साधन योग्य प्रजापति आदि साध्यों और मन्त्रद्रष्य ऋषियों ने यज्ञ भगवान का याजन किया–

1. **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः ....।**
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। *शुक्लयजुर्वेद 31/16*

शतपथ ब्राह्मण में भी उल्लेख है कि प्रजापति ने अपनी प्रतिमा के रूप में सर्वप्रथम यज्ञ को उत्पन्न किया। अतः यज्ञ साक्षात भगवान का रूप है–

2. **"अथैनमात्मनः प्रतिमामसृजत यह यज्ञम् तस्मादाहुः प्रजापति।**
यज्ञ इत्यात्मनो हजेनं प्रतिमाससृजत। *शतपथब्राह्मण 11/1/8/3*

यज्ञ के सम्बन्ध में कहा गया है–

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः
यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः *शक्लयजुर्वेद 23/11*
अथर्वदेव 9/10/14

अर्थात यज्ञ ही समस्त भुवनों का केन्द्र है और वहीं पृथ्वी को धारण किये हुए है। यज्ञ साक्षात भगवान का स्वरूप ही है, जिसे विद्वान लोग विष्णु, राम, कृष्ण, प्रजापति, सविता, अग्नि, सूर्य आदि नामों से उच्चरित करते हैं।

"एकं सद विप्रा बहुधा वदन्दि" ऋग्वेद 1/164/22

कर्ममीमांसा के प्रवृत्त होने पर मानव देह धारण करते ही द्विज, ऋषि–ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण इन तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी बन जाता है श्रीमद्भागवत में कहा गया है–

3. **ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षि पितृणां प्रभो।**
यज्ञाध्ययनपुत्रैस्तान्यनिस्तीर्थ व्यजन् पतेत्।।

तैतरीयसंहिता में भी कहा गया है– 2. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिऋणैवान जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।। अर्थात द्विज जन्म लेते ही ऋषि ऋण देव ऋण और पितृ ऋषि–ऋण से, यज्ञ के द्वारा देव ऋण से और संतति के द्वारा पितृ ऋण से मुक्ति होती है।

भगवान मनु ने भी "ऋणानि ऋण्यपाकृत्य" (मनुस्मृति 6/35) इत्यादि वाक्यों द्वारा उपर्युक्त ऋणत्रय के अपाकरण को ही मनुष्य का प्रधान कर्तव्य बताया है।

---

1. भगवत्गीता 10/84/39 2. तैतरीयसंहिता 3/10/5

ऋणत्रय में देव ऋण का भी उल्लेख है। देव कृष्ण से मुक्त होने के लिये उपर्युक्त तैत्रीय श्रुति ने स्पष्ट बता दिया है कि यज्ञों के द्वारा ही देव ऋण से मुक्ति होती है। वह यज्ञादि कर्म अत्यन्त पावन तथा अनुपेक्षणीय है, जैसा कि गीता के परामाचार्य भगवान ने सिद्धान्त उपस्थापित किया है–

1. **यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।**
यज्ञो दानं तपश्वैव पावनानि मनीषिणाम्।।

इस प्रकार अनेक श्रुति स्मृति ग्रन्थों में तथा उपनिषदों में यज्ञ को वैष्णव धर्म को प्रधान रीढ (स्तम्भ) कहा गया है।

यज्ञ न करने वाला पुरूष पारलौकिक सुखों से तो वञ्चित रहते ही हैं, वे ऐहिलौकिक कल्याणों को भी प्राप्त नहीं करते। अतः यज्ञहीन प्राणी आत्म पवित्रता के अभाव से छिन्न–भिन्न पुत्रों की तरह नष्ट हो जाते हैं।

" नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरूसत्रम।।

अथर्ववेद भी कहता है– "अयज्ञियो हतवर्चा भवति"

यज्ञहीन (यज्ञ न करने वाला) पुरूष का तेज नष्ट हो जाता है। कालिका पुराण के "सर्वं यज्ञमयं जगत्" के अनुसार यह सम्पूर्ण जगत यज्ञमय है। इस यज्ञमय जगत में होने वाले समस्त कर्म यज्ञमय हैं। जो सदा–सर्वदा सर्वत्र होते रहते हैं।

जो लोग यज्ञों के प्रति श्रृद्धा नहीं रखते हैं वे विविध अनर्थों के शिकार बनते हैं, और ऐसे लोगों के लिये ही "नास्ति यज्ञसमो रिपुः" कहा गया है।

इस संसार में प्राणिमात्र को यह स्वाभाविक अभिवाञ्छा रहती है कि मैं जीवन पर्यन्त सुखी हूँ, और मुझे इस लोक में सर्व–सुख तथा शरीर त्याग के अनन्तर परलोक में सह्दय–ह्दय के द्वारा परिज्ञात स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति हो। पुण्य धर्म का ही दूसरा नाम है, जो कि सत्कर्मानुष्ठान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है–

2. **"कुर्वन्नेह कर्माणिं जिजीविषेच्छतः समाः।**
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः।।

शास्त्रविहित मुक्ति प्रद निष्काम यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों को करते हुए ही जीव इस जगत में सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें। इस प्रकार किये जाने वाले कर्म तुझ शरीरधारी मनुष्य में लिप्त नहीं होंगे। इससे पृथक और कोई मार्ग नहीं है। जिससे मनुष्य कर्म से मुक्त हो सके।

---

1. गीता 4/31 *2. ईशावास्योपनिषद 2*

गीता भी माता की तरह अपने यज्ञ प्रेमी पुत्रों को उपदेश करती है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भावः।। (3/14)

इस प्रमाण से सिद्ध है कि व्यावहारिक और पारमार्थिक सभी कार्य यज्ञादि उत्तम क्रिया–कलाप के ऊपर ही निर्भर है। मुण्डकोपनिषद में यज्ञ को संसार सागर से पार होने के लिये "प्लव" अर्थात नौका कहा गया है–

"प्लावा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा। (म0/1/2/7)

जगभियन्ता परमेश्वर भी यज्ञरूप से ही पूर्ण प्रकाशमान होता हुआ यज्ञपारायण पुरूषों से पूजित होकर "यज्ञपुरूष" पद से व्यवकृत होता है। **"यज्ञो वै पुरूषः"** उस यज्ञ शब्द की यौगिक व्युत्पत्ति कल्पवृक्ष की तरह समस्त अभीष्ट को परिपूर्ण करने के लिये पूर्ण समर्थ हैं तथा किसी सर्वातिशायी विलक्षण अर्थ का प्रतिपादन करने वाली एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होती है।

"यज देवपूजा संगतिकरणदानेषु" अर्थात देवपूजा संगति करण एवं दान के अर्थ में पठित यज् "धातु से" यज्ञयाचयत्विच्छ प्रच्छरक्षो नङ् प्रत्यय करने पर यज्ञ शब्द निष्पन्न होता है। वह यज्ञ विष्णु आदि देवताओं के पूजन, ऋषि महर्षि एवं सज्जन पुरूषों के सत्संग एवं सुवर्ण रजत आदि उत्तम द्रव्यों के प्रदान द्वारा सम्पादित होता है। उस महामहिमाशाली धार्मिक यज्ञ का अनुष्ठान कर्तव्य रूप से यज्ञाधिकारी मानव को अवश्य करनी चाहिये।

वैष्णव धर्म के साथ यज्ञ का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है– **"ऊँ अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्"**

इसमें अग्निदेव की स्तुति की गयी है। मैं अग्निदेव की स्तुति करता हूँ, याचना करता हूँ। वे पुरोहित, ऋत्विक यज्ञ के देवता, देवताओं के आह्वाता हैं और श्रेष्ठतम रत्नों की खान हैं, वे हमें श्रेष्ठतम रत्नों को प्रदान करें।

यज्ञ का मुख्य उद्देश्य है देवाराधाना। वैष्णव धर्म के जो संस्कार हैं वे यज्ञ एवं देवाराधना से ही निर्मित है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में यज्ञ का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि यज्ञ का प्रसार आर्य जीवन में था और अग्निदेव यज्ञ के देव थे। यज्ञ में ऋत्विक्, होता, उपस्थित रहते थे। यज्ञानुष्ठान में ऋग्वेद, युजर्वेद और सामवेद– वेदत्रयी का युगपत् प्रयोग होता है।

वैष्णव धर्म का वास्तविक स्वरूप यज्ञ भावना ही है। इसका किसी भी काल में अभाव नहीं हो सकता।

यज्ञ ही धर्म है और धर्म से ही प्रजा का पालन होता है। अतएव संस्कृति के दृष्टि से यज्ञ की महिमा सर्वोपरि है। धर्म का लक्षण करते हुए महर्षि "कणाद्" ने कहा है–

"यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिदधिः सः धर्मः।।

जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है। अभ्युदय का हेतु है कर्मानुष्ठान और निःश्रेयसका हेतु है ज्ञान साधना। अतएव कर्म और ज्ञान का समन्वय ही जीवन में धर्म का स्वरूप है। जो लोग कर्म की उपेक्षा करके केवल ज्ञान की रट लगाते हैं और अपने को श्रुतिमार्गवलम्बी कहते हैं, उनकी प्रतारणा के लिये ही मानो महर्षि जैमिवि ने कर्मविषयक स्तुप्यात्मक अर्थवाद की अवतारणा करते हुए कहा है–

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मत दर्शानाम"

जब यज्ञ ही धर्म है तब यज्ञस्वरूप का ज्ञान तथा उसका अनुष्ठान करना परम् आवश्यक हो जाता है। भगवान वेद व्यास ने इस विषय नें कहा है–

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"।

– सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि यज्ञ किसे कहते हैं– महर्षि कात्यायन अपने सूत्रों में "अथ यज्ञं व्याख्यास्यामः" इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुए यज्ञ की परिभाषा करते हैं– "द्रव्यदेवक्तयागः" अर्थात द्रव्य, देवता, त्याग ये तीन यज्ञ के लक्षण हैं।

द्रव्य कौन से पदार्थ है इसका उल्लेख करते हुए लिख गया है–

"तैलं दधि पयः सोमो यवागूरोदनं धृतम्।

तण्डुलाः फलमापश्च दश द्रव्याण्यकामतः।।

सामान्यतः तेल, दही, दूध, सोमलता, यवाग्र (चावल या जौ की लपसी) भात, घी, कच्चे चावल, फल और जल ये दश द्रव्य ही वैदिक यज्ञों में देवताओं के प्रीत्यर्थ त्यागने में आता है।

देवता आदि दैविक आदि शक्तियों से सम्पन्न होत हैं, जो यज्ञ को सर्वथा व्याप्त करके मन्त्र रूप में अभिव्यक्त होते हैं। निरुक्तकार कहते हैं–

यत्काम ऋषिर्यस्यां देतवा यामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्ते। तद्दैवतः स मन्त्रों भवति

(निरुक्त– 6/1/1)

जिस कामना से ऋषि जिस देवता के प्रति अपने प्रयोजन की सफलता की इच्छा करते हुए स्तुति का प्रयोग करते हैं, उसी देवता का स्वरूप वह मन्त्र होता है। इस प्रकार नाना प्रकार के अभिप्रायों के साथ कृषि की मन्त्र दृष्टि भी नाना प्रकार की होती है।

देवताओं के स्वरूप के विषय में भी शंकाएं की जाती हैं कि वह निराकार है या साकार, जड़ है या चेतन ? परन्तु ये इन्द्रात्मक विकल्प अधिभौतिक सृष्टि में होते हैं। आधिदैविक लोक की विभूतियों के विषय में ये प्रश्न नहीं है। वे जो भी हों उपासक के लिये तो मन्त्ररूप में भी वे सब कुछ प्रदान करते हैं। यज्ञ एक विधान है, जिसके द्वारा देवताओं को तृप्त कर यजमान अपने अभिलाषित आनन्द को प्राप्त करता है। स्वर्गलोक की प्राप्ति यज्ञानुष्ठान का एक मुख्य उद्देश्य होता है। यह स्वर्ग क्या है– जिसमें दुःख का सम्पर्क नहीं, उपभोग के पश्चात् जो दुःख ग्रस्त नहीं होता तथा इच्छामात्र से प्रयत्न किये जो प्राप्त होता है वह स्वर्ग कहलाता है–

यत्र दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।।

वैष्णव धर्म में असंख्य प्रकार के यज्ञों का विधान है, परन्तु यज्ञ मुख्यतः पॉच प्रकार के होते हैं– अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास्, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इसके अतिरिक्त अवान्तर भेद बहुत होते हैं– जैसे सोभयाग के भेदों में अश्वमेघ, नरमेघ, सर्वमेघ, एकाह और अहीनयाग।

गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है–

"औपसनहोमः, वैश्वदेवः, पार्वणः, अष्टका, मासिश्राद्धम, श्रवणा, शूलगव इति सप्त पाकयज्ञ संस्थाः। अग्निहोत्रम् दर्शपूर्णमासो आग्रयणम्, चातुर्मास्यामि, निरूढ़पशुबन्धः, सौत्रामणी, पिण्डपितृयज्ञादयो बहिहौमा, इति सप्त हरिर्यज्ञसंस्थाः, अग्निष्टोमः, अत्यग्निष्टोमः, उक्थ्यः षोडशी, वाजपेयः, अतियत्रः, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ भेद से प्रत्येक के सात–सात भेद होकर 21 प्रकार के यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है।

– प्रारम्भ में मुख्यतः वैदिक यज्ञों के उपर्युक्त अग्निहोत्रादि पॉच ही भेद में यजुर्वेद का पहला मन्त्र "इर्षे त्वोर्जे त्वा– का विनियोग दर्शपौर्ण मास यज्ञ की विधियों में ही विनियुक्त होते हैं। अतः यहॉ सर्वप्रथम दर्शपूणमास यज्ञ पर एक दृष्टि दी जाती है–

– दर्शपौर्णमास यज्ञ–

प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा को अनुष्ठित होने के कारण इस यज्ञ का नाम ''दर्शपौर्णमास'' पड़ा। प्रकृतिरूप में होने के कारण इसी यज्ञ का पहले विधान हुआ है। प्रकृति से तात्पर्य यहाँ उस भाग से है जो अनुष्ठान के समय अन्य भागों की अपेक्षा न रखता हो। दर्शपूर्णमास में अन्य किसी भाग की विधि प्रयुक्त नहीं होती, परन्तु अन्य भाग दर्शपौर्णमास विधि से उपकृत होते हैं।

इस भाग में पहले व्रतोपायन–विधि अर्थात् उपवास करके यजमान और उसकी पत्नि को संयमपूर्वक रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है। दूसरे दिन यज्ञ का सर्वाङ्ग अनुष्ठान किया जाता है। अमावश्या के दिन अग्निदेवता के लिये पुरोडाश, इन्द्र देवता के लिये दधिद्रव्य तथा पयोद्रव्य के त्याग के रूप में तीन भाग होते हैं। पूर्णिमा को पहला अग्नि देवता सम्बन्धी अष्टकपाल वाला पुरोडाश भाग, दूसरा अग्नि और तीसरा अग्नि और सोम देवतासम्बन्धी एकादश कपाल वाला पुरोद्राश भाग होता है।

वस्तुतः जिस अन्तर्वेदीय सदनुष्ठान द्वारा इन्द्रादिदेवगण प्रसन्न हों, स्वर्गादिकी प्राप्ति सुलभ हो, आध्यात्मिक आधिदैविक और आधिभौतिक विपत्तियाँ दूर हों और सम्पूर्ण लोक का कल्याण हो, वह अनुष्ठान, यज्ञ कहलाता है।

मत्स्य पुराण में यज्ञ का लक्षण निम्न प्रकार है–

''देवानां द्रव्यहविषां ऋकृसामनयजुषां तथा।

ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते।।

जिस कर्मविशेष में देवता, हवनीद्रव्य, वेदमन्त्र, ऋत्विक् दक्षिणा इन पाँच उपादोनों का संयोग हो उसे यज्ञ कहा जाता है।

दशपूर्ण मास का समाहार मुख्यरूप से तीन प्रकार की संस्थाओं–हविर्यज्ञ, संस्था, सोमयज्ञ–संस्था, और पाक यज्ञ संस्था के अन्तर्गत हो जाता है।

पुनः प्रत्येक में सात–सात यज्ञ सम्मिलित हैं। संक्षेप में इसका परिचय इस प्रकार है–

1. **हविर्यज्ञ संस्था–** मुख्य हविर्यज्ञ के रूप में सात यज्ञ प्रकारों का उल्लेख मिलता है, इनमें से एक–एक यज्ञ के कई–कई भेद बतलाये गये हैं। पहला यज्ञ ''अग्न्याधेय है, जिसे ब्राह्मण बसन्त ऋतु में क्षत्रिय ग्रीष्म–ऋतु में, वैश्य वर्षा ऋतु में तथा कृतिका, रोहिणी आदि नक्षत्रों में प्रारम्भ करते हैं। इस यज्ञ में कई इष्टियां होती हैं

और यह तेरह रात्रियों तक चलता है। घृत तथा दुग्ध के द्वारा प्रतिदिन के किये जाने वाले हवन को ''अग्निहोत्र'' कहा जाता है। इसीका एक भेद पिण्ड–पितृ–यज्ञ भी है। जिसका सम्पूर्ण विधान श्राद्ध के समान होता है। इस क्रम में तीसरे मुख्य हवियर्ज्ञ के रूप में दशपौर्णमास का उल्लेख मिलता है। हविर्यज्ञ का चौथा भेद ''आग्रायण'' है। इसमें सौवां नामक धान्यविशेष से चरु बनाकर चन्द्रमा को आहुतियॉ दी जाती है।

आयुष्यकामेष्टि, पुत्रकामेष्टि, ओर मित्रविन्दा आदि इसी के भेद हैं।

इसी प्रकार वैश्वानरी, कारीरि, पवित्री, व्रात्यपती आदि अनेक इष्टियॉ हैं, जिनके लिये पुराणों में कहा गया है कि उन्हें विधि–विधानपूर्वक सम्पन्न करने से कर्ता की दस पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है। पॉचवॉ हविर्यज्ञ ''चातुर्मास्य'' है, जो चार–चार मासों में अनुष्ठेय है। इसके चार भेदों का उल्लेख मिलता है, जो वैश्वदेवीय वरूण प्रधास साकमेध और शुनासीरीय के नाम से जाने जाते हैं। छठॉ हविर्यज्ञ निरूढशुबन्ध है। यह प्रतिवत्सर वर्षा ऋतु में किया जाता है। इसमें इन्द्र और अग्नि के नाम से हवन होता है। यह पशुयाग कहलाता है। हवियर्ज्ञ का सॉतवॉ अन्तिम प्रकार ''सौत्रामणि'' है। यह भी पशुयाग के अन्तर्गत है। इसके विषय में भागवत में कई निर्देश दिये गये हैं।

2. सोम यज्ञ– यह आर्यों का अत्यन्त प्रसिद्ध यज्ञ रहा है। इसे कालावधि के आधार पर एकाह, अहीन और सत्र इन तीन रूपों में देखा गया है। अग्नि में सोमलता के रस की आहुति देने के कारण यह सोमयज्ञ कहलाता है।

सोम योग संस्था के अन्तर्गत 16 (षोड्य) ऋत्विजों का उल्लेख आश्वलायन श्रोतसूत्र में इस प्रकार मिलता है–

ठोता, मैत्रावरूण, अच्छश्रावाक्, ग्रावस्तुत्, अध्वर्यु, प्रतिपस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंशी, आग्रीघ्र, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, ओर सुब्रह्मण्य एवं सत्ररहवॉ (17) यजमान व्यक्ति।

सोमयज्ञ– संस्था के मुख्य सात प्रकारों में अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी, वाजपेय, अतिसत्र और आप्रोर्यायम की गणना होती है। इनके अन्य बहुत से उपभेद भी है। जिनमें एक मास की अवधितक चलने वाले यज्ञ उशनस्तोम, गोस्तोम, भूमिस्तोम, वनस्पतिसप, वृहस्पतिसप, गौतमस्तोम, उपहव्य, चान्द्रमसी, इष्टि एवं सौरी इष्टि आदि है।

सूर्यस्तुति यज्ञ और विश्वस्तुत यज्ञ यश की कामना से गोसप और पञ्चशारदीय पशुओं की कामना से तथा वाजपेय यज्ञ अधिपत्य की कामना से किया जाता है। इनमें वाजपेय यज्ञ महत्वपूर्ण है। इस यज्ञ की 17 दीक्षाएँ होती हैं। यह उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा तिथि को आरम्भ होता है। इस यज्ञ को सम्पादित करने से राजा सभी पापों से मुक्त हो जाता है, ऐसा पुराणों में कहा गया है। पुराणों में विश्वजित् यज्ञ को सारी कामनाओं को पूर्ण करने वाला बताया गया है। इसे सूर्यवंशी राजा रघु ने किया था।

ज्योति नाम का एकाह यज्ञ ऋद्धि की कामना से किया जाता है। मातृत्व भाव की प्राप्ति के लिये विषुवत सोम नायक यज्ञ, स्वर्गकामना से आदि रस यज्ञ, आयु की कामना से आयुर्यज्ञ और पुष्टि की इच्छा से पुष्टि की इच्छा से जामदग्न्य यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है।

शरद–ऋतु में पॉच–पॉच दिनों तक सार्वसेन, दैव, पञ्सारदीय, व्रतबन्ध और बावर नामक यज्ञ किये जाते हैं। जिनसे क्रमशः सेना, पशु, बन्धु–बान्धव, आयु एवं वाक्–शक्ति की वृद्धि होती है। अन्नादि की कामना से अनुष्ठेय सप्तरात्र यज्ञों में ऋषि–सप्तरात्र, प्राजापत्य, पवमानव्रत ओर जामदग्न्य आदि प्रधान हैं। जनकसप्तरात्र यज्ञ ऋद्धि की कामना से किया जाता है। अष्टरात्रों में महाव्रत ही मुख्य है। नवरात्रों में पृष्ट्य और त्रिकटुक की गणना होती है। दशरात्रों में आठ यज्ञ करणीय माने जाते हैं। जिनमें अध्यर्घ, चतुष्टोम, त्रिककुप, कुसुरूबिन्दु आदि मुख्य हैं। ऋद्धि की कामना से किया जाने वाला यज्ञ पुण्डरीक दो प्रकार का होता है। यह नवरात्र एवं दशरात्र दोनों ही प्रकार का होता है।

द्वादशाह यज्ञों में भरत द्वादशाह मुख्य हैं। वैसे सामान्य रूप से द्वादशाह यज्ञ चार बताये गये हैं। जो पृथक–पृथक संस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं। जो सभी कामनाओं को प्राप्त करके विजयश्री होना चाहता है, उसे अवश्मेघ यज्ञ करना चाहिये। जो सभी यज्ञों का राजा है। एक वर्ष तक चलने वाले इस यज्ञ में एक यज्ञिय अश्व छोड़ा जाता है, और उसक पीछे राजा की सेना चलती है। वह जब तक लौट कर नहीं आता, तब तक परिप्लव आख्यान चलते हैं।

पुराणों के अनुसार महाराज दशरथ ने राम आदि की जन्म की कामना से तीन वर्षों तक यह यज्ञ किया था। जिसमें इस यज्ञ के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण यज्ञों को भी क्रमशः सम्पादित किया गया था।

- पाकयज्ञ संस्था-

पाकयज्ञ के अन्तर्गत सप्रसंस्थाओं का वर्णन प्राप्त होता है, जो क्रमशः अष्टका, पार्वणश्राद्ध, श्रावणी, आग्राहयणी, चैत्री एवं आश्वयुजी के नाम से जानी जाती है। पाक्यज्ञ संस्थाओं में पहला अष्टका श्राद्ध है। कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, और माघ इन तीन मासों की कृष्णाष्टमियों पर ही प्रसन्न होते हैं। इनमें पितरों का श्राद्ध करने का बहुत बड़ा महात्म्य है। इसमें स्थालीपाक, आज्याहुतिपूर्वक पितरों का श्राद्ध होते हैं।

पर्व–पर्व पर या पितरों के निधन तिथि पर और महीने–महीने पर होने वाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त एकोदिष्ट, आभ्युदयिक आदि श्राद्ध भी होते हैं। जिन्हें पाक यज्ञ में गिना गया है। श्रावणी कर्म में गिना गया है। इन्हें चौथा पाकयज्ञ कहा गया है। पारस्कर गृहजसूत्र के तृतीय काण्ड की द्वितीय कण्डिका के अनुसार आग्राहयणी कर्म पॉचवॉ यज्ञकर्म पॉचवीं पाक यज्ञ संस्था है। उसमें सर्प बलि, स्थाली, पाकपूर्वक श्रावणी के समान ही अज्याहुति और स्विष्टकृत–हवन एवं भू शयन का कार्य होता है। चैत्री में शूलगव–कर्म (वृषोत्सर्ग) किया जाता है। पास्कर गृहज सूत्र में तृतीय काण्ड की आठवीं कण्डिका के अनुसार शूलगव यज्ञ संवर्ग, पुत्र, धन, पशु, यश एवं आयु प्रदान करने वाला है। इसमें पशुपति रूद्र के लिये वृषभ छोड़े जाने का आदेश है।

सातवीं पाकयज्ञ–संस्था आश्वयुजी कर्म है। इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्र के द्वितीय काण्ड की 16वीं कण्डिका में विस्तार के साथ हुआ है। इसका पूरा नाम वृषातक यज्ञ है। इसमें ऐन्द्रिय द्रविष्य का दधि–मधु से सम्मिश्रण कर इन्द्र दन्द्राणी तथा अश्विनीकुमारों के नाम से अश्विन पूर्णिमा को हवन किया जाता है। उस दिन गायों और बछड़ों को विशेष रूप से एक साथ रखा जाता है। ब्राह्मणों को भोजन करा देने के उपरान्त इस कर्म की समाप्ति होती है।

कलियुग में अश्वमेघादि कुछ यज्ञों का निषेध है। वर्तमान में रूद्रयाग, महारूद्रयाग, अतिरूद्रयाग, विष्णुयाग, सूर्ययाग, गणेशयाग, लक्ष्मीयाग, शतचण्डीयाग, सहस्त्रचण्डीयाग, लक्षचण्डी याग, महाशान्ति याग, कोटिहोम, भागवत्सप्ताह, यज्ञ आदि

विशेष प्रचलित हैं। ये यज्ञ सकाम भी किये जाते हैं, निष्काम भी। इन यज्ञों से परमपुरूष भगवान विष्णु की ही आराधना होती है–

1. **यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपुरूषः।**
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः।।
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने।।

जिसके राज्य अथवा नगर में वर्णाश्रम–धर्मों का पालन करने वाला पुरूष स्वधर्म–पालन के द्वारा भगवान यज्ञपुरूष की आराधना करते हैं, हे महाभाग! भगवान अपनी वेद–शास्त्री रूपी आज्ञा का पालन करने वाले उस राजा से प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि वे ही सारे विश्व की आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियों के रक्षक हैं।

2. **यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्टयुत्सर्गेण मानवाः।**
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः।।

यज्ञ से देवताओं का आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञ द्वारा वृष्टि होने से मनुष्यों का पालन होता है। इस प्रकार संसार का पालन–पोषण करके ही यज्ञ कल्याण के हेतु होते हैं।

सभी वेदों–पुराणों ने यज्ञों के यथासम्भव सम्पादन पर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञों का फल केवल ऐहिलौकिक ही नहीं अपितु पारलौकिक भी हैं। इनके अनुष्ठान से देवों, ऋषियों, दैत्यों, नागों, किन्नरों, मनुष्यों तथा सभी को अपने अभीष्ट कामनाओं की प्राप्ति ही नहीं हुई है अपितु उनका सर्वांगीण अभ्युदय भी हुआ है। अतः इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है।

---

1. श्रीमद्भागवत 4/14/18–19 2. पद्मापुराण सृष्टिखण्ड 3/124

षष्ठ अध्याय

श्रीमद्भागवत महापुराण में दर्शन की पृष्ठभूमि 266-279

- ❖ वैष्णव धर्म का क्रमिक विकास
- ❖ विष्णु की उपासना का क्रमिक इतिहास
- ❖ विष्णु का दार्शनिक विवेचन और उसका क्रमिक विकास
- ❖ वैष्णव धर्म का दार्शनिक दृष्टि।
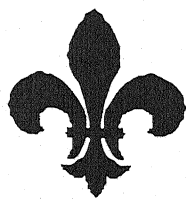
वैष्णवधर्म का क्रमिक विकास

"ऊँ नमो नारायणाय तथा ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय"

वैष्णव धर्म के अनुसार सृष्टि के तीन महत्व हैं– जड़ (प्रकृति) तथा नियन्ता (ईश्वर) इन्हीं तीनों के समन्वय से संसार में प्रपन्च की उत्पत्ति होती है। इसमें शक्ति ईश्वर (नियंत्रक) के हाथ होती है, जो भक्तों के समीप होता है, क्योंकि वह भक्तों के पीछे रहता है और प्रत्येक जीव में व्याप्त होता है, पर वह सामान्य पहुंच के बाहर होता है। उसको उसके भक्तों के पीछे रहता है और प्रत्येक जीव में व्याप्त होता है, पर वह सामान्य पहुंच के बाहर होता है। उसको उसके भक्त ही प्राप्त कर सकते हैं, जो निष्छल भाव से उसके प्रति शरणागत होते हैं। इसी से वेद में उसे दो बार नेति, नेति कहा गया है अर्थात् जीव की सीमा की ओर यह इंगित करता है कि वह न उस परम तत्व को ठीक से जान सकता है न उसकी व्याख्या ही कर सकता है।

शिव ने मार्कण्डेय पुराण में कहा है कि मानव के जीवन का लक्ष्य मोक्ष है। उन्होंने विष्णु को ही मोक्षदाता माना है। प्रत्येक जीवधारी को जो मोक्ष प्राप्ति के योग्य होता है उसे विष्णु ही मोक्ष प्रदान करते हैं। इसी से सर्वत्र विष्णु के गुणगान की चर्चा की बात की गई है– विष्णु सर्वत्र गीयते।

धर्मानुसार वैष्णव मोक्ष के तीन साधनों में विश्वास करते हैं जो क्रमिक है तथा जिनके द्वारा वैष्णवभक्त विष्णु के साथ एकाकार कर लेते हैं–

1. **सारूप्य–** वह स्वरूप धारण करना जो विष्णु का है।
2. **सालोक्य–** उसी लोक में रहना जहां विष्णु का निवास है, इसे बाद में विष्णु लोक नाम से जाना जाने लगा।
3. **सायुज्य–** अपना स्वरूप समाप्त कर विष्णु के स्वरूप में समाहित हो जाना।

यहीं अन्तिम स्थिति परम मोक्ष की है, जहॉ जीव या अंशी पूर्णरूप में मिल जाता है।

वैदिक युग प्रधानतया कर्मकाण्डों और यज्ञों का काल था। वैदिक ग्रन्थों में श्राद्ध को यज्ञ की अधिष्ठाती देवी कहा गया है। श्रद्धा और यज्ञ में कोई अन्तर नहीं है। बिना श्रद्धा के यज्ञ का कोई अर्थ नहीं होता। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इसी श्रद्धा से आगे चलकर क्रमशः, श्रद्धामूलक, भक्ति और श्रद्धा भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ तथा धीरे–धीरे प्रारम्भिक बहुदेववाद के पीछे एकेश्वरवाद में परिणित हो गया। इसके अन्तर्गत ही परमतत्व तथा परमात्मतत्व की भावना की गई है। वैदिक कालीन धार्मिक भावना के

विकास के क्रम में आगे चलकर इष्ट देवता के रूप में अनेक देवताओं के स्वरूपों की कल्पना की गई। उदाहरणार्थ कहीं यह विवरण प्राप्त होता है कि हे अग्निदेव! तुम्हीं वरूण हो, तुम्हीं मित्र (सूर्य) हो, तुम्हीं इन्द्र भी हो, इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ एक देव में ही अनेक देवों की भावना की गई है।

इस प्रकार यह भी ज्ञात होता है कि बाद में बहुदेववादी का विकास हुआ जिसकी अन्तिम परिणति एकेश्वर भावनादि के रूप में हुई। उपनिषद काल में विष्णु का स्वरूप स्पष्ट नहीं है किन्तु यह निश्चित नहीं है कि इस काल में भक्ति शब्द श्रद्धात्मक प्रेम के अर्थ में बहुधा प्रयुक्त हुआ है।

वैदिक देवताओं का महत्व उनके लिये दिये गये ऋचाओं एवं उनके कार्यों से आंका जाता है। इस दृष्टि से शिव और विष्णु दोनों की महत्ता ऋग्वेद के समय से ही रही है।

ऋग्वेद में इनकी प्रशंसा की गई है। पर इसमें वह शत्रुओं को दण्ड देने वाला या अनन्त ऐश्वर्य प्रदान करने वाला महत्वपूर्ण देवता नहीं बताया गया है। यहाँ वह मात्र आदित्य, समझे जाते हैं। वे दिन भर की अपनी यात्रा तीन पगों में पूरा करते हैं। जिससे आर्य लोग उनको महत्व देते हैं तथा उनका यशोगान करते हैं।

इसमें प्रथम दो पग पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष नापने वाला बताया गया है, जो मनुष्यों द्वारा देखा जाता है, किन्तु विष्णु कापग अलौकिक ओर आनन्दमयी माना गया है, जिसे कोई सांसारिक नेत्रों से नहीं देख सकता "परमे पदे मध्व उत्सः"। कहीं–कहीं विष्णु को यज्ञ के बीज देवता के रूप में स्वीकार किया है– "यज्ञोहं वै विष्णुः" एक स्थल पर वह इन्द्र के सहायक बताये गये हैं– "इन्द्रस्य पूज्य सखा"। वहीं तो उन्हें इन्द्र से भी बड़ा स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि स्वयं नारायण ने समस्त जीवों को धारण किया था। यहीं वेदों में हिरण्यगर्भ या हिरण्यपिण्ड है। इनके बारह रूपों का भी संकेत ऋग्वेद में मिलता है। विष्णु के इसी व्यापनशीलता को व्यक्त करने के लिये इनकी स्तुति ऋग्वेद के कई सूक्तों में की गयी है।

अकेले यही एक–एक ऋग्वैदिक देवता है, जो एक सामान्य स्थिति में यहाँ वर्णित होकर भी बाद में त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) में अपनी महत्वपूर्ण मर्यादा सदा बनाये रखा तथा महा विष्णु के रूप में पूज्य हुए। तब इसी में त्रिदेवों की स्थिति को मान्यता मिली। यहाँ यह विचारणीय है कि कौन–सा ऐसा देवतत्व इसमें जुट गया जो ऋग्वैदिक

काल में नहीं था। जिससे इसकी महत्ता सहसा इतनी ऊपर उभर गई। इसकी परिकल्पना डा0 दण्डेकर ने की है।

इसके व्यक्तित्व तथा मूल प्रवृत्ति में कोई ऐसा मौलिक गुण अवश्य था जिसे वैदिक ऋषियों ने इस भय से उजागर नहीं होने दिया इससे इसकी महानता बढ जायेगी। यही बाद में विकसित हुआ अथवा यह भी हो सकता है कि वैदिक ऋषियों का इसकी प्रकृति से मेल न बैठने से उन्होंने इसके विकासमान पक्ष को दबा दिया हो। इस विषय में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। इतना स्पष्ट है कि वैदिक देवताओं में इन्द्र की सर्वप्रधानता थी। यदि किसी भी देवता को वैदिक देवमण्डल में लेना होता था तो उसका सम्बन्ध इन्द्र के साथ जोड़कर ही ऐसा करते थे। पर ऐसा कोई सम्बन्ध इन्द्र और विष्णु के बीच नहीं दीखता। इस आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि वैदिक ऋषियों से अलग विचार करने वाले द्वारा विष्णु क़ी महत्ता स्थापित की गई होगी। उन्होंने पीछे चलकर दोनों देवों के उपासकों बीच समन्वय का आधार स्थापित किया होगा। यह भी सम्भव है कि विष्णु की महत्ता स्थापित की गई होगी। उन्होंने पीछे चलकर दोनों देवों के उपासकों के बीच समन्वय का आधार स्थापित किया होगा। यह भी सम्भव है कि विष्णु भारत के मूलवासियों के देखता रहे हों जिन्हें वैदिक आर्यों ने सहजतापूर्वक स्वीकार न किया हो। यह भी माना जा सकता है कि विष्णु सामान्य आर्यजनों के देवता थे, जिन्हें प्रारम्भ में रूचिवादी आर्यों ने महत्व नहीं दिया था। जो भी हो किन्तु इतना तो है कि प्रारम्भिक वैदिक युग में विष्णु को इन्द्र की अपेक्षा श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। परन्तु ऐसा कहने से पहले इस सत्य को स्वीकार किया जा सकता है। कि अग्नि और इन्द्र का वैदिक ऋषियों के लिये मानसिक और आध्यात्मिक अनुशासन से सम्बद्ध रहने के कारण, अनेक ऋचाओं में वर्णन किया गया है। यहां यह बताया गया है कि पहले सृष्टि में जल था, उस पर बहती हुई गर्भाण्ड रूपी वस्तु चमकती थी, जिसमें सभी देवता विद्यमान थे। यही वैदिक साहित्य का हिरण्यगर्भ या हिरण्यपिण्ड है। यह अजन्मा के नाभि पर ठहरी थी, जिसे नारायण कहा गया है। जो सृष्टि विषयक भावना के केन्द्र के लिये प्रयुक्त प्रतीत होते हैं।

उत्तरोत्तर के वैदिक साहित्य में विष्णु की प्रधानता स्थापित होने लगी थीं। यजुर्वेद में विष्णु को अविनाशक (नरधिशः) स्वामी मानवता का सजग संरक्षक, सौन्दर्य प्रधान, इच्छापूरक (वृषभः) सर्वशक्तिमान, अजेय, अघातक निषिक्तयः, महः, विस्तारक आदि

कहा गया है। साथ ही वह केवल क्षितिज में ही विद्यमान नहीं बताये गये हैं, बल्कि उच्च और विस्तृत स्वर्ग में भी स्थित कहे गये हैं। अथर्ववेद में इन्हें प्रमुख देव कहा गया है। "विष्णु मुखा देवाः" यही बात तैत्ररीय संहिता तथा वाजसनेयी संहिता से भी ज्ञात होती है। तैत्रीय संहिता में– यज्ञोपै विष्णु– कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के समय इनकी महत्ता और अधिक स्थापित हो गई। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार देवासुर संग्राम में विष्णु ने ही असुरों को राजी किया था, कि वे वामन के बराबर भूमि देवताओं को देखें। ऐसा मान लेने पर वह भूमि पर लेट गये और अपना शरीर तब तक फैलाते गये, जब तक सारी पृथ्वी उनके शरीर को ढक नहीं गयी। इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी देवताओं को दिलवाने का श्रेय विष्णु को ही जाता है। अतः इसे वृहत्शरीरी का विशेषण इन्हें दिया गया। अतः विष्णु को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है–

(तस्माद आहर विष्णुदेवानामं श्रेष्ठ) यहॉ वह इन्द्र के साथ संसार के शासक बताये गये हैं तथा सूर्य, उषा और अग्नि के जनक भी। उपनिषदों में भी विष्णु की महत्वपूर्ण स्थिति का वर्णन प्राप्त होता है। वहॉ विष्णु का परब्रह्म कहा गया है तथा उनके द्वारा परमपद की प्राप्ति की बात कही गई है। चूँकि अब प्राणी के लिये अत्यन्त उपयोगी इसलिये उपनिषदों में अन्न को ब्रह्म कहा गया है "अन्न वै ब्रह्म" इस समय ऋग्वैदिक सीमाओं से बाहर आकर विष्णु को ही एकमात्र सर्वप्रधान देवता स्वीकार किया गया है। त्रिदेव, ब्रह्मा, विष्णु और शिव में इनकी महत्ता विशेष रूप से बताई गई है। अन्य देवता पीछे छूट गये। ईशावास्योपनिषद में इन्हें इसी कारण "सपर्यगात्" कहा गया है जो विविध क्षेत्रों में अपने को फ़ैलाने की क्षमता रखते हैं। ये त्रिविध क्षेत्र पर (परमात्मारूप) अपर (अवतारी रूप) और विद्या तथा कर्म (कर्तारूप) यहॉ इनकी महानता या प्रधानता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि नारायणोपनिषद, दत्तात्रेयोपनिषद, रामतापनीय उपनिषद आदि चौदह उपनिषदों को वैष्णव उपनिषद कहा जाता है। इनमें विष्णु के दो रूपों की चर्चा की गई है। सगुण और निर्गुण अथवा साकार एवं निराकार। निर्गुण रूप में इन्हें शब्द, स्पर्श, आकार, रसरूप आदि से परे बताया गया। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं (कठोपनिषद 1/13/15) सगुण रूप में "सर्वकर्मा सर्वकामः .... (छन्दों 3/14/4) स़गुण अर्थात सब करने वाला तथा सभी इच्छाओं से युक्त कहा गया है। यही कारण है कि जब वह दूसरे को जानना चाहता है तथा वह इसके विषय में जानता है– तनुं स्वाम् (क0 1/2/23)

उपासना का क्रमिक इतिहास

वैष्णव सम्प्रदाय को मुख्यतः भागवत सम्प्रदाय के नाम से मुख्यतः जाना जाता था। उपनिषदों के समय से ही विष्णु को भगवान माना जाने लगा था। 1. ता वा एताः सर्वा ऋचः सर्वे वेदाः सर्वे घोषा एकैव व्याहतिः। इस समय यह भावना अपनी पराकाष्ठा पर थी जो भक्त मुझको प्रेम से भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ। 2. ये भजन्ति तु मां भक्त्याभयितेतेषु चाप्यहं। वह मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। 3. "न मे भक्तः प्रणश्यति" वह परमगति को प्राप्त करता है। 4. "यान्ति परां गतिम" इसी भक्ति की प्रधानता के कारण इस धर्म को भागवत धर्म कहा गया है।

विश्व में मुकुन्द को छोड़कर दूसरा कोई ऐसा नहीं है। जिसे भगवान माना जाये।

1. **"मुकुन्दात् को नाम लोके भगत्पदार्थ"**

इस प्रकार जो धर्म भगवान् से सम्बन्धित है वह भागवत् है। अतः भागवत् शब्द भगवान से लिया गया है। ऋग्वेदन क अनुसर विष्णु में ही सभी दूसरे देवताओं का नाम समाहित है। वहीं सृष्टि के रचयिता तथा पालक हैं।

"यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या।।"

ऐसे एक वही अकेला है, जिसकी नाभि से निकले निकले विचित्र कमलनाल पर उगे कमल पर सारा विश्व विद्यमान है। अतः विष्णु ही भगवान है और उनका धर्म भागवत कहा जाता है। एक मत यह भी है कि इस धर्म के देवता नारायण भागवत कहे जाते थे इससे यह धर्म भागवत कहलाया।

वैदिक काल के प्रारम्भ में परमात्मा के रूप में प्रयोग होने वाले विष्णु का सम्बन्ध यज्ञ से जोड़ा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ में "यज्ञौ वै विष्णु" कहा गया है। उन्हें ही नारायण और सृष्टि का मूलाधार बताया गया है। तैत्रीय आरण्यक के समय तक लगता है कि विष्णु और नारायण का एकीकरण नहीं हो सका था। सात्वत नामकरण का कारण यह है कि अंश के एक पुत्र का नाम सात्वत था। उसी के नाम पर उसके वंश का नाम सात्वत पड़ा। इस परिवार के लोग वासुदेव के अनुयायी थे तथा उनको परमेश्वर के रूप में मानते थे। वासुदेव को सात्वतर्षभ भी कहा गया हैव ओर सात्वत्तों के कारण भागवत् सम्प्रदाय के विकास होने से इसे यह नाम दिया गया। अष्टाध्यायी में "वासुदेव

अर्जनाम्यां'' के आधार पर वासुदेव की पूजा का चलन और इसकी प्रमाणिकता ज्ञात होती है।

विष्णु का दार्शनिक विवेचन और उसका क्रमिक विकास

उपनिषदों एवं वैदिक कालीन साहित्यों से यह स्पष्ट है कि कृष्ण–वासुदेव शब्दों का प्रयोग कहीं–कहीं साथ–साथ किया गया है।

कृष्ण शब्द कृष (सत्) तथा 'ण' आनन्द से मिलकर बना है, जिससे अभिप्राय है कि सच्चिदानन्द ! महाभारत में कृष्ण ने कहा है कि मैं काले लोहे का फॉल हूँ। यहीं कृष्ण वसुदेव के पुत्र होने के कारण वासुदेव कहे गये। पहले कृष्ण और वसुदेव अलग–अलग देवता थे। कालक्रमेण इसमें एकरूपता के समय तक विष्णु नारायण का समीकरण नहीं हुआ था। महाभारत में वासुदेव की पहचान नारायण से की गयी है। वहॉ वनपर्व में जर्नादन ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन ! तुम नर हो मैं नारायण हूँ। पहले नारायण शब्द का प्रयोग विष्णु के लिये होता था। नर का प्रयोग वैदिक देवताओं के लिये हुआ है। इन्हीं के समूह के आश्रय रूप देवता नारायण रहे होंगे। भगवान् मनु ने नर का अभिप्राय जल से लिया है। इसलिये जल में निवास करने वाला (नर–जल+अयन–आवास) प्रथम नारायण रहा होगा। विष्णु पुराण के अनुसार परमात्मा नर से उत्पन्न होने वाले और जल में निवास करने वाले भगवान् ही नारायण हैं।

ऋग्वेद में नारायण नामक एक ऋषि का भी उल्लेख है। सम्भवतः यही बाद में देवता नारायण रूप में विख्यात हुए होंगे। महाभारत में वर्णित है कि ब्रह्मा जल (नर) में सोये हुए विष्णु (नारायण) की नाभि से निकले हुए कमल पर विराजमान थे। इसी प्रकार की आकृतियां जो कला तमें मिलती है, उनका नाम शेशायी विष्णु दिया गया है।

शत्पथ ब्राह्मण के अनुसार नारायण से ही सृष्टि का उद्‌भव और इन्हीं से इसका लय माना जाने लगा था। तैत्ररीय आरण्यक पुराणों तथा लोक कथाओं में ऐसे ही नारायण के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

नारायण–वासुदेव का एकीकरण बाद में हुआ। पहले ये दोनों अलग–अलग देवता थे। तभी महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणी खण्ड में नारद द्वारा नारायण की उपासना करने का वर्णन है। नारायण ही नारद के पितर थे। पीछे नारद को वासुदेव नाम का एक आचार्य वासुदेव (वैष्णव धर्म) के साथ मिलकर वासुदेव नारायण के उपासक हो गये।

इससे स्पष्ट होता है कि पीछे वासुदेव नारायण के साथ मिलकर वासुदेव नारायण के नाम से विख्यात हुये। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि नारायण का अस्तित्व सृष्टि के साथ रहा है और वासुदेव का महाकाव्य काल में था जो इस समय नारायण के साथ जुड गया। इसका स्पष्ट ज्ञान महाभारत से होता है, जहाँ वनपर्व में मारकण्डे की कथा से ज्ञात होता है कि सृष्टि के प्रलय के समय जल के बीच एक वृक्ष पर बैठे बालक के पेट में जाकर मारकण्डे ऋषि ने सृष्टि का अवलोकन किया और उस बालक से उसका नाम पूंछा तो उसने अपने को नारायण बताया। अतः सृष्टि के आरम्भ में जब केवल जल ही जल था तब मात्र नारायण ही शेष थे।

महाकाव्य काल में जब देवकी के पति तथा कृष्ण के पिता वासुदेव की महत्ता कृष्ण के साथ बढ़ी होगी तब वसुदेव से सम्बन्धित कृष्णी परिवार के वासुदेव (कृष्ण) के साथी नारायण का एकीकरण होकर नारायण वासुदेव का चलन हुआ होगा। देवकी पुत्र कृष्ण को भागवत पुराण में "कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" कहा गया है। इसी कारण विष्णु के अवतारों में कृष्ण का नाम नहीं आया क्योंकि वह तो स्वयं भगवान विष्णु ही हैं जबकि उनके भाई बलराम को अवतारी बताया गया है। महाभारत में युधिष्ठिर द्वारा भी यही बात ज्ञात होती है–

विश्वात्मन विश्वसम्भव। विश्वकर्मन् नमस्तेस्तु

विष्णो विष्णो हो कृष्ण वैकुण्ठ पुरूषोत्तम।।

इस प्रकार नारायण और वासुदेव दोनों पर्यायवाची हैं। महाभारत में कृष्ण ने इसे अर्जुन से स्वीकार किया है कि "हे अर्जुन"! तुम नर हो मैं नारायण हूँ। हम दोनों इस पृथ्वी पर समय–समय पर अवतरित होते हैं। न तुम मुझसे अलग हो न मैं तुमसे। हमारे बीच कोई अन्तर नहीं है। स्मृतियाँ भी नारायण को जगतपारायणं (जगतपति) कहती हैं।

इसको एकांतिक धर्म भी कहते हैं। इस समय दो दार्शनिक सम्प्रदायों सांख्य और योग का प्रचार हो रहा था। इन्हें क्रमशः ज्ञान और कर्मयोग कहा जाता है। **"ज्ञान योगेन संख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"।**

कृष्ण ने अपने उपदेश के द्वारा दोनों के बीच समन्वय स्थापित कर एकमात्र भगवान पर भरोसा करने पर बल दिया। यही भक्तों में एकांतिक धर्म के नाम से जाना जाता है। इसमें मूलतः मानव को स्वतंत्र कर्ता नहीं माना जाता बल्कि वह ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही कर्म करता है, जिससे कर्ता का अहंकार मनुष्य में जागृत न हो–

"मतः पतरनान्यक्रिन्वित्।"

जो कुछ भी है सब वासुदेव का है "वासुदेवतः सर्वमिति"। चूंकि इसमें आत्म समर्पण और एकान्तनिष्ठा प्रमुख है। इसलिए इसे एकांतिक धर्म कहा गया।

अगले सम्प्रदाय में गोपाल कृष्ण का नाम कृष्ण कथाओं में आता है, इसका उद्भव प्रायः पश्चिम से कोई अमीर जाति मथुरा में आकर बस गई और उनका विस्तार धीरे–धीरे कठियाबाढ़ तक हो गया। इसका जीवन गो–पालन था और उनका आराध्य देव एक बालक था। यही गोपाल पूज्य बालक गोपाल कहलाया। ऋग्वेद में गोप शब्द आया है, उनके परमपद में उत्तम सींगों वाली गोपों का रहना भी बताया गया है।

गोपाल के विचारों का चार क्रम माना जा सकता है।

1. वैदिक देवता विष्णु 2. नारायण 3. वासुदेव 4. बालगोपाल।

यह अन्तिम कड़ी पुराणों के बाद जुड़ी होगी क्योंकि महाभारत में कहा गया है कि सभी अठारह पुराणों को सुनने का जो फल मिलता है वह केवल मनुष्य वैष्णव होकर ही प्राप्त कर सकता है। इनका एक नाम पुराणों गोविन्द भी है। यह शब्द ऋग्वेद में गोपालकों के अर्थ में आया है जो पीछे वासुदेव कृष्ण का पर्याय बन गया। इस प्रकार विश्णु जो रक्षक तथा देवासुर संग्राम में देवताओं के सहायक थे। इसी से इनके प्रति शुद्ध भक्ति भाव जागृत हुआ।

अधिकांश गुप्त शासक वैष्णव धर्मानुयायी के सहायक थे तथा अपने राज्य में राजधर्म का स्थान दे चुके थे; तत्कालीन साहित्य में विष्णु और उनके सम्प्रदाय को अधिक उजागर किया गया। मुख्य रूप से वैष्णव धर्म में विष्णु का अवतार (विभव) रूप भी जुड़ गया। गीता के अनुसार धर्म के ह्मास और अधर्म की वृद्धि पर विष्णु अपने अंश से अवतार रूप में प्रकट होंगे। यद्यपि अवतारों का ज्ञान ब्राह्मणों तथा महाकाव्यों के समय से ही हो चुका था। इस अवस्था में अब वैष्णव धर्म के स्वरूप में वृद्धि हुई और पीछे चलकर लोक देवताओं को तथा विशिष्ट पुरूषों को भी अवतार सीमा में समेटने के कारण इसकी संख्या क्रमशः बढ़ती गई। पहले केवल चार ही अवतार माने गये थे। वाराह, नृसिंह, वामन और वासुदेव कृष्ण। फिर दो और बढ़े परशुराम (भार्गव राम) और राम (दशरथी राम) तदनन्तर ये दस हुए।

वैष्णवधर्म की उपासना में दार्शनिक दृष्टि

वैष्णवधर्म का दार्शनिक महत्व

वैष्णव धर्म के साथ दर्शन की सम्बद्धता ने दर्शन को जीवन के लिए प्रवृत्त किया। धर्म का अविर्भाव ही व्यक्ति की लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति के लिये हुआ (यतः अभ्युदयनिः श्रेयसिद्धिः सः धर्म'') वैष्णव धर्म की उत्पत्ति मानवता को दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिये हुआ है, इसलिये व्यक्ति के परम लक्ष्य के रूप में मोक्ष को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, जो कहीं दुखनिवृत्तिमात्र है तो कहीं–कहीं दुखनिवृत्ति के साथ–साथ आनन्द प्राप्त की भी अवस्था है। वैष्णव धर्म के दर्शन का मुख्य लक्ष्य जीवन के दुःखों को दूर करने का उपाय खोजना है अतः ऋषियों, आचार्यों ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिगृह को मानवमात्र का आचरण घोषित किया। अतः धर्माचार्य प्राणिमात्र के सुख, एवं कल्याण की कामना करता है– सर्वे भवन्तु सुखिनः और वसुधैव कुटुम्कम् जैसे उद्घोषों में होती है।

वैष्णव धर्म के दार्शनिक परम्परा में आस्तिक और नास्तिक पदों को परिभाषित करने का एक आधार वेद प्राभाष्य की स्वीकृति एवं अस्वीकृति से है। ''वेदों में आस्था रखने वाला आस्तिक है। इस प्रकार वैष्णव धर्म में वह विचार धारा आस्तिक कहलाती है जो वेदों की प्रमाणिकता में विश्वास करती है। दूसरे शब्दों में वेद–पथगामी विचारधामा आस्तिक है और वेदविरोधी नास्तिक है।

इसमें दो प्रकार की विचारधाराओं के दर्शन होते हैं– ब्राह्मण परम्परा की विचार धारा और श्रमण परम्परा की विचारधारा। इनमें प्रथम वेदपोषक विचारधारा आस्तिक विचारधारा के रूप में मानी जाती है। आस्तिक विचारधारा में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (वेदान्त) की गणना होती है।

वैष्णव धर्म में अनादि काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की विचारधारा प्रवाहित होती रहती है। वैदिक युग से लेकर अब तक के दर्शन का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वैष्णवधर्म के उपासक सांसारिक झंझटों से बच कर सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रियस्, निःश्रेयस् और अभ्युदय, प्रिय और अप्रिय, चेतन और जड़, सुख और दुःख आदि तत्वों के रहस्य को समझने के लिए अपने शक्ति का प्रयोग करते रहे हैं। ''आत्मदीपो भव'' और ''आत्मानं विद्धि'' ये मन्त्र अनादि काल से दार्शनिकों को चिन्तन की प्रेरणा देते रहे हैं। ''आत्मा वा अरे दृष्टव्यः यह उपषिदिक मन्त्र दर्शन के चिन्तन की दशा का

निर्धारक रहा है। परिणामस्वरूप चिन्तक का झुकाव आद्यात्मवाद पर रहा है। वैष्णव धर्म की दार्शनिक प्रवृत्ति आध्यात्मिक है– इसका अर्थ है उपासना का मुख्य विषय ''आत्मचिन्त'' रहा है। आत्मा क्या है ? आत्मा के भावी दुःखों से निवृत्ति कैसे हो इत्यादि विषय वैष्णव धर्म का मुख्य दार्शनिक विषय है।

यद्यपि विविध सम्प्रदाय आत्मा के स्वरूप ज्ञान के विषय में पृथक–पृथक मत रखते हैं, तथापि वे आत्मचिन्तन को ही प्रमुख विषय मानते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से आध्यात्मवाद में दो शब्द प्राप्त होते हैं। आध्यात्म और वाद। आध्यात्म का अर्थ है ''आत्मा के विषय में ''अधि आत्मन या आत्मनि'' और वाद का अर्थ है विचार या ''सिद्धान्त''। इस प्रकार आध्यात्मवाद का अर्थ है आत्मा के विषय में चिन्तन या आत्मविषयक सिद्धान्त।

इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति का सकारात्मक प्रभाव भारतीय जन–जीवन और संस्कृति पर पड़ा है। इसी के प्रभाव में जन–जन आत्मा की अमरता तथा भौतिक पदार्थो। की नश्वरता, ब्रह्मसत्यत्व एवं जगन्मिश्यात्व की चर्चा करते हैं। वस्तुतः वैष्णव धर्म की प्रगाढ़ आध्यत्मिकता ने ही इसे काल के विध्वंसकारी प्रभावों और इतिहास की घटनाओं को सहन कर सकने की सामर्थ्य प्रदान किया, तथा हजारों वर्षों की निरन्तर दासता एवं इस पर किये गये नानाविध आक्रमणों की स्थिति में भी अक्षुण्ण बनाए रखा।

वैष्णव धर्म की उपासना की चर्चा मुख्यरूप से दुःखानुभूति या आध्यात्मिक असंतोष से हुई है। दार्शनिकों ने अपने तात्विक विवेचन में जीवन को दुःखमय एवं चराचर जगत्, विश्व की घटनायें तथा वस्तुओं को स्वभावतः दुखात्मक पाया। पुनर्जन्म, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से उत्पन्न दुःख जीवन के कटु सत्य हैं। विचारक इन दुःखों के कारण सदैव चिन्तित रहे हैं ओर उसके निवारणार्थ निरन्तर प्रयासरत् रहे हैं। नश्वरता सम्पूर्ण जगत् का लक्षण है। संसार की सभी वस्तुएं दुःख देनेवाली हैं। हम जिन्हें सुखात्मक समझते हैं, अन्ततः वे ही दुःखात्मक हैं। प्रिय के वियोग से दुःख है और अप्रिय से संयोग भी दुःख है। इस प्रकार नानाविध दुःखों से जीवन अन्धकारमय बना रहता है। सभी दार्शनिकों ने इस सत्य का अनुभव किया है। वैदिक विचारधारा की उत्पत्ति दुःखों के निवारणार्थ ही हुई।

वैष्णव धर्म की उपासना पुरूषार्थ साधन के लिए है। वे यह स्वीकार करते हैं कि धर्म और जीव में अविनाभाव सम्बन्ध है। इस कारण केवल ज्ञान प्राप्त कर ही लक्ष्य नहीं रखता अपितु मानव की धर्म भावना और कर्म प्रवृत्ति का भी समुवित विकास करना

चाहता है। फलस्वरूप वैष्णव धर्म में दर्शन, धर्म, एवं नैतिकता के समन्वित विकास का प्रयास दिखाई देता है। यही कारण है कि वेद, उपनिषद एवं गीता में ही नहीं अपितु सभी परवर्ती आस्तिक दर्शनों में चिन्तन के साथ धर्ममीमांसा और आचारमीमांसा भी प्राप्त होती है। वस्तुतः वैष्णव उपासकों का यह दृढ़ विश्वास है कि दर्शन की सहायता लिए बिना, उचित अनुचित शुभ–अशुभ, अच्छाब्बुरा, कर्तव्य–अकर्तव्य, श्रेय–अश्रेय जो नीति शास्त्र का प्रतिपाठ्य विषय है, का निर्णय नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धर्म को भी अपने मूलभूत प्रश्नों ईश्वर का स्वरूप क्या है ? क्या ईश्वर की सत्ता है ? क्या ईश्वर जीव से भिन्न है ? क्या आत्मा अमर है ? क्या ईश्वर और जीव में सम्बन्ध सम्भव है आदि प्रश्नों का उत्तर दार्शनिक दृष्टि से ही सम्भव है।

कर्मवाद का सिद्धान्त वैष्णव धर्म का आधारभूत सिद्धान्त है, इसे ईश्वरवाद एवं आध्यात्मवाद से भी अधिक महत्व प्राप्त है। दर्शन में कर्म के दो अर्थ किये जाते हैं, प्रथम अर्थ में यह कर्म सिद्धान्त है जो कर्म के नियम का बोध करता है। इसके अनुसार कर्मों के धर्म तथा अधर्म (पुण्य एवं पाप) सुरक्षित रहते हैं, जो समयानुसार कर्ता को अपना फल देते हैं। इस अर्थ में यह "कर्म–फल सम्बन्ध का सिद्धान्त है। इसके अनुसार किये हुए कर्म का फल नष्ट नहीं होता और अकृत कर्म को कभी फल भी नहीं प्राप्त होता। इसी से ज्ञात होता है कि शुभ कर्मों का फल शुभ एवं अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। सुख और दुःख क्रमशः शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल माने जाते हैं। इस प्रकार "कर्म सिद्धान्त" एक प्रकार से नैतिकता के क्षेत्र में कारण नियम है।

द्वितीय अर्थ में कर्म शब्द से उस शक्ति का बोध होता है, जिससे कर्म फल उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से कर्म के तीन भेद प्राप्त होते हैं–

1. **प्रारब्ध कर्म–** यह वह कर्मशक्ति है, जो अतीत में सम्पादित कर्मों से उत्पन्न होती है, और जिसका फल मिलना प्रारम्भ हो जाता है।

2. **संचित कर्म–** संचित कर्म वह कर्मशक्ति है, जो अतीत में किये हुए कर्मों से उत्पन्न होती है, किन्तु जिसका फल मिलना प्रारम्भ नहीं हुआ है।

3. **संचीयमान कर्म–** इन्हें क्रियमान कर्म भी कहते हैं। ये वे कर्म हैं, जिन्हें व्यक्ति वर्तमान समय में करता है। संचीमान कर्म ही भविष्य में प्रारब्ध एवं संचित कर्म बनाते हैं।

वैष्णव धर्म में कर्मवाद के सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म का सिद्धान्त जुड़ा है, पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास कर्मवाद के सिद्धान्त को प्रासांगिक बनाता है। पुनर्जन्म

में बिना विश्वास किये कर्मवाद के औचित्य को नहीं सिद्ध किया जा सकता। उल्लेखनीय है कि कर्मवाद के सिद्धान्त के अनुसार कृतहानि अकृतलाभ नहीं होता। अच्छे कर्म का परिणाम अच्छा होता है ओर बुरे कर्म का परिणाम बुरा होता है। इसके औचित्य को प्रतिपादित करने के लिये दार्शनिकों आचार्यों ने पुनर्जन्म की अवधारणा में विश्वास व्यक्त किया है, पुनर्जन्म का अर्थ है'' 'पुनः जन्म लेना ''अगला जन्म ग्रहण कर लेना। वैष्णव उपासकों ने यह कहकर कर्मवाद के औचित्य को प्रतिपादित किया कि एक सत्कर्मी का दुःख अतीत में किये गये उसके बुरे प्रारब्ध कर्म का परिणाम है। वर्तमान काल में संचीयमान उसके अच्छे कर्मों का शुभ परिणाम भी उसे प्राप्त होगा। हां यह उसे इसी जन्म में कालान्तर में भी प्राप्त हो सकता है, और अगले जन्म में भी। अगला जन्म लेने का अर्थ है, पुनर्जन्म ग्रहण करना। आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाले विचारक तो पुनर्जन्म में विश्वास करते ही हैं, अनात्मवादी विचारक भी पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करते हैं। इससे मनुष्य का यह दृढ़ विश्वास होता है कि संसार में नैतिकता का अभाव नहीं है।

कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने वैष्णव उपासकों को गहराई से प्रभावित किया इससे इस बात पर बल दिया कि हमारा जीवन अतीत जीवन के कर्मों का फल है, तथा भविष्यत् जीवन वर्तमान जीवन के कर्मों से नियन्त्रित होगा। इस प्रकार व्यक्ति का अतीत, वर्तमान, भविष्य का जीवन कर्मवाद के नियमों से नियंत्रित है, और इस नियम से कहीं भी कोई व्यतिक्रम नहीं है।

कर्मवादों के सिद्धान्त ने व्यक्ति को पुरूषार्थ या प्रारब्धवादी बनाया। प्रारब्ध किसी मनुष्य का अपना ही किया गया कर्म है जो व्यक्ति के भविष्य (भाग्य) का नियामक है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी कर्मवाद की तरह महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके अभाव में कर्मवाद को युक्तिसंगत नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार कर्मवाद और पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने संसार की नैतिक व्यवस्था को सिद्ध किया और व्यक्ति को उसका आद करने तथा तदनुरूप आचरण करने के लिए प्रेरित किया, क्योंकि समें उसका अपना हित निहित है।

वैष्णव उपासकों के अनुसार– मोक्ष ही वह परम अभीष्ट है जिसे व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है। इसीलिए कभी–कभी वैष्णव धर्म को मोक्ष शास्त्र भी कहा जाता है। यद्यपि मोक्ष क स्वरूप के विषय में विभिन्न आचार्यों के भिन्न–भिन्न विचार हैं, तथापि सभी दार्शनिक यह तो स्वीकार करते ही हैं कि मोक्ष वह अवस्था है जिसमें जीव के सभी

दुःखों (बन्धन) का अभाव हो जाता है। न्याय वैशेषिक दर्शन में यह दुःख के आत्यान्तिक अभाव की अवस्था है। सांख्य–योग दर्शन में भी यह तीनों प्रकार के दुःखों आध्यात्मिक आधिदैविक एवं आधिभौतिक के अभाव की अवस्था है। वेदान्त दर्शन यह स्वीकार किया है कि मोक्ष में दुःखों का विनाश होने के साथ निरतिशय आनन्द की प्राप्ति भी होती है। सभी भारतीय दर्शन मोक्ष प्राप्त करने के लिए योग एवं आत्म संयम की आवश्यकता पर बल देते हैं। प्रत्येक दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए चित्त का शुद्ध होना, उपासना के सिद्धान्त का पालन करना परमावश्यक है। आत्मसंयम से मन एवं अन्यान ज्ञानेन्द्रियों का निरोध नहीं होता, अपितु इनकी प्रवृत्तियों का दमन भी होता है, और वे विवेक के मार्ग पर अग्रसर भी होते हैं।

वस्तुतः वैष्णव धर्म के उपासकों का मुख्य विवेच्य–विषय ब्रह्म या आत्मा का स्वरूप है। आत्मा एवं ब्रह्मं उन दो स्तम्भों के समान है, जिन पर उपनिषदों की सम्पूर्ण विचारधारा आश्रित है "वृहन्तो हि अस्मिन् गुणा इति ब्रह्म" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्म शब्द से तात्पर्य उस परम सत्ता से है, जिसकी सत्ता एवं अनन्त शक्ति पर विश्व के सभी पदार्थों का अस्तित्व एवं संचालन निर्भर है। उपनिषदों में ब्रह्म एवं आत्मा की एकता का विधान है।

वैदिक सूक्त सत्ता के लिए जिस उच्चतम विचार तक पहुँचता थे उनके अनुसार एकमात्र सत्ता यथार्थ है जो नानाविध सत्ताओं में अपने को व्यक्त करती है।

"एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" यह उच्चतम विचार उपनिषदों में ब्रह्म या आत्मा के रूप में परिपक्वता प्राप्त कर लेता है। छान्दोग्योपनिषद के अनुसार ब्रह्म वह है जो जगत को जन्म देता है, उसे धारण करता है और उसे अपने मे लीन करता है। अतः ब्रह्म को सर्वकमी, सर्वकाम्, सर्वगन्ध , सर्वरस, सर्वव्यापी, अवाकी और शान्त कहा गया है।

उपनिषदों में ब्रह्म की एकमात्र सत्ता का विधान करते हुए जगत् की विविधता का निषेध किया गया है। कठोपनिषद का कथन है कि जो जगत मे विभेद देखता है वह मृत्यु से पुनः मृत्यु को प्राप्त होता है –

"मन सैवेदयाप्तव्ये नेह नानस्ति किञचन
मृत्योंः स मृत्यु गच्छति, य इहे ननिव पश्यति।

इसी प्रकार सर्व "खाल्वेदंब्रह्म" आदि श्रृतियां भी ब्रह्म की एकमात्र सत्ता को सिद्ध करती है।

उपसंहार
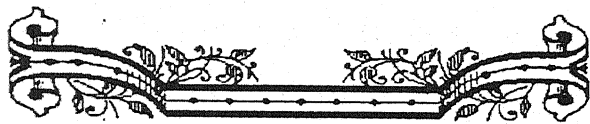
–:: उपसंहार ::–

श्रीमदभागवत पुराण एवं वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार विष्णु की एकमात्र परमात्मा है, उनसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिससे यह चराचर जगत् व्याप्त है, वह उन्हीं की महिमा है। यह जो कुछ मूर्त जगत दृष्टिगोचर होता है, ज्ञानस्वरूप इसे जगतपति देखते हैं। इस सम्पूर्ण ज्ञान स्वरूप जगत को अर्थस्वरूप देखने वाले बुद्धिहीन पुरूषों को मोहरूप महासागर में भटकना पड़ता है किन्तु जो शुद्धचित्त ज्ञानी पुरूष है। वे इस सम्पूर्ण जगत को परमात्मा का ज्ञानमय स्वरूप ही देखते हैं। जिसका ऐसा निश्चय है कि मैं तथा यह सम्पूर्ण जगत हरि ही है, उनसे भिन्न कोई भी कार्य कारण वर्ग नहीं है, उस पुरूष को फिर सांसारिक राग–द्वेषादि द्वन्द्व रोग नहीं होते–

अहं हरिः सर्वामेदं जनार्दनो।

नान्यत्रतः कारणकार्यजातम्।।

ईहऽमनो यस्य न तस्य भूयो।

भवोद्भवा द्वन्द्वगदा भविन्त।।

जो परमार्थतः (वास्तव में) अत्यन्त निर्मल स्वरूप, ज्ञान स्वरूप परमात्मा है वही अज्ञान दृष्टि से विभिन्न पदार्थों के रूप में प्रतीत हो रहा है।

ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः।

तमेवार्यस्वरूपेण भ्रान्तिदर्शनतः स्थितम्।।

वे विश्वमूर्ति भगवान ज्ञानस्वरूप हैं, पदार्थाकार नहीं है, अतएव इन पर्वत, समुद्र और पृथिवी आदि विभिन्न पदार्थों को ज्ञान का ही विलास जानना चाहिये–

ज्ञानस्वरूपो भगवान्यतोऽसा,

वशेषमूतिनं तु वस्तुभूतः।

ततो हि शैलाब्धिधरादिभेदा,

जानीहि विज्ञानविजृम्भितानि।।

क्या घट–पटादि कोई भी ऐसी वस्तु है जो आदि, मध्य और अन्त से रहित एवं सर्वदा में ही रहने वाली हो। पृथिवी पर जो वस्तु परिवर्तित होती रहती है, पूर्ववत् नहीं रहती, उसमें वास्तविकता कैसे हो सकती है ? मृत्रिका की घटरूप हो जाती है, फिर वही घट से कपाल, कपाल से चूर्णरज और रज से अणुरूप अणुरूप हो जाती है। फिर

अपने कर्मों के वशीभूत हो आत्मनिश्चय हो भेले हुए मनुष्य इसमें कौन सी सत्य वस्तु देखते हैं ? अतः विज्ञान के अतिरिक्त कभी, कहीं कोई भी पदार्थ समूह नहीं है। अपने–अपने कर्मों के कारण विभिन्न चित्तवृत्तियों से युक्त पुरूषों को एक विज्ञान ही विभिन्न रूप से प्रतीत हो रहा है। राग द्वेषादि मल से रहित, शोकशून्य, लोभादि सम्पूर्ण दोषों से वर्जित, सदा एकरस एवं असंग एकमात्र विशुद्धि विज्ञान ही वह सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर वासुदेव है। उससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। एक ज्ञान ही सत्य है और सब मिथ्या है। उसके अतिरिक्त यह जो व्यावरिक सत्य है वह त्रिभुवनात्मक है।

कर्म अविद्याजनित है और वह समस्त जीवों में विद्यमान है किन्तु आत्मा शुद्ध, निर्विकार, शान्त, निर्गुण और प्रकृत से अतीत है। सम्पूर्ण प्राणियों में विद्यमान उस एक आत्मा के वृद्धि क्षय नहीं होते। जो कालान्तर में भी परिणामादि के कारण होने वाली किसी अन्य संज्ञा को प्राप्त नहीं होती वहीं परमार्थ वस्तु है। ऐसी वस्तु (आत्मा के अतिरिक्त) और क्या है ?

यत्रु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै।

परिणामादिसम्भूतां तदस्तु .... तच्चकिम्।।

यदि मुझसे भिन्न कोई पदार्थ होता तो यह मैं, अमुक, अन्य आदि भी कहना उचित हो सकता था। किन्तु जब सम्पूर्ण शरीरों में एक ही पुरूष स्थित है तो "आप कौन हैं ? "मैं वह हूँ" इत्यादि वाक्य वन्चना मात्र है। तुम राजा हो, यह पालकी है, हम तुम्हारे साथ चलने वाले वाहक हैं और ये तुम्हारे परिजन हैं– इनमें से कोई भी बात परमार्थत सत्य नहीं है। व्यवहार में जो वस्तु राजा है, जो राजसेवकादि है और जिसे राजत्व कहते हैं वे परमार्थतः सत्य नहीं है, केवल कल्पनामय ही है।

वस्तु राजेति यल्लोके यच्च राजमहात्मकम्।

तथन्ये च नृपत्वं च तत्रसंकल्पनामयम्।।

अविनाशी परमार्थतत्व की उपलब्धि तो ज्ञानियों को ही होती है।

"अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैम्भुपगम्यतै।"

यदि संक्षेप में विचार किया जाये तो वह सर्वव्यापी, सर्वत्र समभाव से स्थित, शुद्ध, निर्गुण, प्रकृत से अतीत, जन्म और बुद्धि आदि से रहित, सर्वगत एवं अविनाशी आत्मा एक है। वह परम् ज्ञानमय है। उस ईश्वर का वास्तविक नाम एवं जाति आदि से संयोग न तो है, न हुआ है, और न कभी होगा ही। उसका अपने और दूसरों के देहों के साथ

एक ही संयोग है। इस प्रकार का जो विशेष ज्ञान है वही परमार्थ है। द्वैतवादी तो अपरमार्थदर्शी होते हैं। इस प्रकार यह सारा जगत् वासुदेव संज्ञक परमात्मा का एक अभिन्न स्वरूप ही है।

एवमेकमिदं विद्धि न भेदि सकलं जगत्।

वासुदेवाभिधेयस्य स्वरूपं परमात्मनः।।

जिस प्रकार एक ही आकाश श्वेत नील आदि भेदमय होकर विभिन्न प्रकार का दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार जिनकी दृष्टि भ्रमगत है उनको आत्मा एक होकर भी पृथक–पृथक दृष्टिगोचर होता है।

सितनीलादिभेदेन यथैकं दृष्यते नभः।

भ्रानतदृष्टिभिरात्मापि तथैकः सन्पृथक्पृथक्।।

आरम्भ में जब मैत्रेय ने जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के सम्बन्ध में एवं इनके उपादान कारण के विषय में अपने गुरू पाराशर से जिज्ञासा की तब समाधान रूप में पाराशर ने कहा कि यह जगत विष्णु से उत्पन्न हुआ, उन्हीं में स्थित हैं, वे इसकी स्थिति और लय के कर्ता हैं, तथा ये जगत भी वे हीं हैं।

विष्णोः सकाशादुद्भतं सगत्तत्रैव च स्थितम्।

स्थिति संयमकर्ता सौ जगतोऽस्य जगच्च सः।।

वह एक ही भगवान जनार्दन जगत की सृष्टि, स्थिति औ संहार क लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन संज्ञाओं को धारण करते हैं। वहीं (ब्रह्मा) सृष्टा होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं, पालक (विष्णु) अपना ही पालन करते हैं और अन्त में स्वयं संहारक (शिव) होकर स्वयं होकर स्वयं ही उपसंदृत– लीन होते हैं।

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।

स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः।।

उपर्युक्त विवरणों से यह सिद्ध होता है कि विष्णु के अतिरिक्त कहीं अन्य कोई भी सत्ता नहीं है। वहीं सृष्टा हैं और वहीं सृज्यमान अथवा सृष्टतत्व है। वहीं विश्वम्भर हैं और वहीं विश्व है। वहीं यज्ञानुष्ठाता है वहीं यज्ञ है, वही इस अनुभयमान अनन्त विश्व के अभिनेता हैं और वहीं सर्वतः दृश्यमान इस विश्व रूप से अभिनयरूप भी हैं। अर्थात कारण एवं कार्य उभयरूप से उस विष्णु की ही सत्ता से सारा विश्व सर्वतोभावेन व्याप्त है। इस पौराणिक प्रसंग से पूर्व अद्वैत भाव की सिद्धि हो जाती है।

अद्वैत सिद्धान्त की मान्यता के साथ–साथ द्वैत सिद्धान्त के भी विवरण बहुधा उपलब्ध होते हैं। स्थान–स्थान पर विष्णु की आराधना की उपयोगिता प्रतिपादित की गई है। आराधना–उपासना, पूजन और भजन इनमें से प्रत्येक परस्पर में एक–दूसरे का पर्यायवाचक है। यहाँ आराधक के लिए आराध्य, उपासक के लिये उपास्य, पूजक के लिए पूज्य और भक्त के लिए भगवान के रूप में एकमात्र विष्णु की ही अधिमान्यता है। किसी के द्वारा अभुक्तपूर्ण अलौकिक एवं अक्षय पद की प्राप्ति होती है।

प्राचीनबर्हि नामक प्रजाहित चिन्तक राजा ने अपने पुत्र प्रचेताओं से कहा कि भगवान विष्णु के आराधना करने से ही मनुष्य को निःसन्देह इष्ट वस्तु होती है और किसी अन्य उपाय से नहीं।

आराध्य वरदं विष्णुमिष्ट प्राप्तिम् संशयम्।
समेति नान्यथ मर्त्यः ....।।

वैष्णव सिद्धान्त के प्रतिपादन में महर्षि और्व ने महात्मा सगर से कहा कि भगवान विष्णु की आराधना करने से मनुष्य भू–मण्डल सम्बन्धी समस्त मनोरथ, स्वर्ग, स्वर्गलोक निवासिनों के भी वन्दनीय ब्रह्मपद और परम निर्वाण पद भी प्राप्त कर लेता है।

भौमं मनोरथं स्वर्ग स्वार्गिवन्दयं च यत्पदम्।
प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चौत्तमम्।।

इन विवृत्तियों से यह तो सिद्ध हो जाता है कि भगवान की पूजा व आराधना सम्पूर्ण मानव समाज के लिए कर्तव्य है। क्योंकि अशेष आस्तिक भारतीयों को यह तो मान्य है कि मनुष्य मात्र का भगवान की आराधना या पूजा में संलग्न होना प्रथम कर्तव्य है। यद्यपि इस विषय में आचार्यों के मत विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं, कि वह आराधना भगवन की किस विशिष्ट रूप में की जाये ? शिव के रूप में या विष्णु के रूप में ? राम के रूप में या कृष्ण के रूप में ? अथवा किसी अन्य विशिष्ट रूप में ? क्योंकि वेद में इसका स्पष्टीकरण है कि भगवान समस्त प्राणियों में स्थित एक ही है तथा शुद्ध और निर्गुण है।

श्रीमद्‌भागवत पुराण में भी इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी रूप में भगवान अपने इष्टदेव की आराधनाएँ की जायें, किन्तु सभी परम सत्य को ही अर्पित हो जाती है। अर्थात् उन पूजाओं को साक्षात् भगवान् ग्रहण कर लेते हैं। क्योंकि वे कर्णहीन होकर भी सुनते हैं, नेत्रहीन होकर भी देखते हैं,

एक होकर भी अनेक रूपों में प्रकट होते हैं, हस्तपादादि से रहित होकर भी ग्रहणकर्ता एवं तीव्रगतिशाली है, तथा सबके अवेद्य होकर भी सर्वज्ञाता है–

श्रृणोत्यकर्णः परिपश्यसि त्वमचक्षरेको बहुरूपरूपः।

अपादहस्तो जवनो ग्रहीता त्वं वेत्सि सर्वं न च सर्ववेद्यः।।

यह पौराणिक सिद्धान्त वेद एवं श्रीमद्भागवत से भी समर्पित है।

यह मान लेने पर कि किसी भी रूप में की गई भक्ति परमात्मा को समर्पित हो जाती है– चाहे जिस रूप में चुन लिया जाये किन्तु वह एक रस परम तत्व का ही रूप है। इसके पश्चात अब शेष ज्ञातव्य विषय रह जाता है कि आराधना या पूजा की पद्धति क्या हो ? हम प्रायः अपने पूर्वजों की अनुसृत पद्धति से भगवान की पूजा करते हैं। अपनी परम्परागत पद्धति से पूजा कर चुकने के अनन्तर और कर्मों से अपने को मुक्त समझ लेते हैं।

सर्वप्रथम हमें भगवान के स्वभाव और गुण धर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेना प्रयोजनीय प्रतीत होता है, क्योंकि जिसके विषय में हमें ज्ञान नहीं उसकी उपासना करना किस प्रकार संभव है। यद्यपि भगवान् के स्वरूप का सच्चा ज्ञान तो उपासना का अन्तिम परिणाम है और वह तो वाणी और मन से अगोचर है "अवांगामनसगोचर" फिर भी उपासना को आरम्भ करने के लिए कुछ परिणाम का ज्ञान तो अपेक्षित अवश्य है और सौभाग्यवश यह ज्ञान हम अनुभवी महापुरूषों एवं ऋषि–महर्षियों के अनुभूति वचनों से गुम्फित शास्त्रों से प्राप्त कर सकते हैं। इस दिशा में अपनी कतिपय अंशों में परस्पर विरोधी शास्त्रों के सिद्धान्तों पर तर्क–वितर्क अथवा वाद–विवाद करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि चरम सत्य–परम तत्व की मान्यता में अशेष शास्त्र एकमत है। जिस नाम में आपकी रुचि हो, आस्था हो, उसी नाम से उप आध्यात्मिक चिन्मय को सम्बोधित कर सकते हैं। उपनिषद के "सत्यंज्ञानमनन्तम्" भागवत् के "अद्वयज्ञानतत्व" बौद्धों के धर्मकाय वा निर्वाण इसाईयों के – गॉड और मुस्लिमों को "अल्लाह" प्रभूति सम्पूर्ण धार्मवलम्बी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में आध्यात्मिक नित्य तत्व की ही स्वीकृति है। भौतिक तत्वों की नहीं।

विष्णु के स्वरूप विवेचन में हमें भजन सेवा और उपासना–शब्दों का अर्थ विवेचन करना प्रयोजनीय है "भज् सेवायाम्" धातु से भजन और "सेव सेवायाम्" धातु से सेवा शब्द व्युत्पन्न होते हैं। इन दोनों का शब्दार्थ एक ही है। "उप पूर्वक आस उपसेवने"

धातु से उपासना शब्द की सिद्धि होती है। जिसका अर्थ होता है समीप में बैठना। एतदर्थयुक्त उपासना के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि चिन्मय भगवान् की उपासना चिन्मय रूप से ही हो सकती है। आध्यात्मिक सत्ता की उपासना भौतिक उपकरणों से होना सम्भव नहीं है और साधारणतः प्रचलित श्लोक "देवो भूत्वा यजेद्देवम्" की यहां चरितार्थता भी हो जाती है, अर्थात् भगवत् रूप से ही कोई भगवान् की उपासना कर सकता है। सारांश यह है कि केवल आत्मा ही निकट में रह सकता है, अर्थात् आत्मा ही आत्मा की उपासना कर सक़ता है।

हम उस परमधाम विष्णु के चिन्मय स्वरूप, चिन्मय धाम, उनकी चिन्मयी गड़। आदि के विषय में धारावाहिक रूप से बातें तो बहुधा करते हैं, किन्तु यह सोचने की चेष्टा कभी नहीं करते कि इन चिन्मय शब्दों का यथार्थ अभिप्राय क्या है ? इस अभिप्राय है चित्+मय= चिन्मय–चित् का अर्थ है चेतना वा आत्मा और मय का अर्थ है निमित्त अर्थात् चित्त आत्मा के रचित "आत्मरचित" अर्थात् भौतिक तत्वों से सर्वथा भिन्न हैं।

यदि हम उपासना करना चाहते हैं अर्थात उनके समीप में बैठना चाहते हैं, तो हमें चित्त एवं चिन्मय तत्वों के स्वरूप को अनुभूत करने की चेष्टा करनी होगी। यह पूर्ण रूप से सत्य है कि हमारी आत्मा यदि अपने आप में शुद्ध है तो ये दृश्यमान पदार्थ (वस्तुएँ) जड़मात्र है। अतएव ये हमें आत्मिक सत्ता की अनुभूति नहीं करा सकते हैं।

जो कुछ भी हो परन्तु उस आध्यात्मिक परमतत्व की सत्ता तो है ही जिस पर अन्तःकरण– मन में अर्धभौतिक स्वभाव का आवरण पड़ा हुआ है। हमें इसका अनुभव होता है और हमारे हृदयों मं वह आध्यात्मिक तत्व, जिसे हम आत्मा कहते हैं, चरम ज्ञान का ही प्रकाश है। यह सत्य है कि हममें से अधिकांश लोग उस आत्म प्रकाश को केवल गोचरीभूत करते हैं, अनुभूत नहीं कर सकते क्योंकि उसकी अनुभूति शुद्ध अन्तकरण से ही हो सकती है। यह अपने आप को चिन्तन और अनुभवन के व्यापार के द्वारा ही प्रकाशित करता है।

वह आत्मज्ञान अपने ही बोध से जो हमें अनुभूत होता है, किसी भी जड़ तत्वों से सर्वथा भिन्न है। यथार्थतः यह अन्तरात्मा भागवत तत्व का ही प्रतीक हो सकता है। यदि यह जीव आत्मा की संज्ञा से विशेषित होता है तो वह आत्मा परमात्मा की संज्ञा से, यदि वह चित्धन है, तो यह चित्कण। अपनी विभूतियों के वर्णनक्रम में भगवान् का कथन है कि मैं ही अशेष प्राणियों के हृदयों में छिपा हुआ आत्मा हूँ। यथार्थतः वह चर और अचर

समस्त प्राणियों के भीतर तथा सम्पूर्ण पदार्थों के परे हैं। यह साक्षात भगवान कृष्ण का प्रतिपादन है–

"विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"

यह समझना भी अयथार्थ ही होगा कि परमात्मा के भी ही विद्यमान रहता है, बाहर नहीं, जिस प्रकार वह भीतर है, ठीक उसी प्रकार वह बाहर भी है। वस्तुतः उसकी सत्ता से बाह्य और आभ्यन्तर नामक कोई अन्तर ही नहीं है और अन्ततोगत्वा यह दृष्टिगत होता है कि सम्पूर्ण परिदृश्यमान तत्व वासुदेव ही तो हैं। तथापि हम अपने ह्रदय के गम्भीरता गर्त में डूबने पर उसे अवश्य प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि वह उस स्थान पर है। जिसके साथ हमारा सीधा सम्पर्क है। अपनी दुर्बलता के कारण जो अपने ह्रदय में उसकी अनुभूति नहीं कर सकता, वह अन्यत्र कहीं भी उसे दृष्टिगोचर नहीं कर सकता। जिसने उसे चिन्मय धाम में एक बार साक्षात्कार कर लिया है वह उसे समस्त वस्तुओं और समस्त जीवों में प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट देख सकता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्याति।।

हम संसारी प्राणी हैं अतएव हमें उसे खोजना अथवा उसकी उपासना करना इस संसार में ही, जहां वह उपलब्ध हो सकता हो, उचित होगा। इस संसार में भी, नामतः समस्त प्राणियों के ह्रदयों में। जब हम उस तत्व को समझ लेंगे, तथा समस्त प्राणियों में उसे प्यार करना व उसकी सेवा करना सीख लेंगे, तब हमें अपने स्वरूप की उपासना करने का अधिकार दे देगा। संसार के बड़े–बड़े उपनिषदों के अध्ययन मात्र से अथवा विग्रह की ब्राह्य पूजामात्र से उस नित्य सत्य का अनायास साक्षात्कार होना सम्भव नहीं है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सत्नमात्मानमीश्वरम्।
हित्वाचार्य भजते मौढयाद भस्मन्येव जुहोति सः।।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा केवल ब्राह्य पूजनों से प्रसन्न नहीं होता है, जब तक वह (पूजन) समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम से ओत–प्रोत नहीं है।

इस प्रकार जब हम समस्त प्राणियों के प्रति अभेद दृष्टि हो जाते हैं, तब हमारा ह्रदय पवित्र और स्वच्छ हो जाता है तथा हमारी दृष्टि निर्मल हो जाती है। अपनी दृष्टि

से हम उस चरम सत्य को देख लेते हैं और शुद्ध हृदय से उसकी ब्राह्य आराधना भी करते हैं, और तब भगवान की प्रतिज्ञा हमारे ऊपर संघटित होती है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्तकुरू।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि में।।

श्रीमद्भागवत पुराण का उद्घोष है। विष्णु सबके आत्मरूप में सकल भूतों में विद्यमान हैं, अतः उन्हें वासुदेव कहा जाता है।

सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि।

भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः।।

जो–जो भूताधिपति पहले हुए हैं, और जो आगे होंगे वे सभी सर्वभूत भगवान विष्णु के अंश हैं। विष्णु के प्रधान चार अंश हैं। एक अंश से वे अव्यक्त रूप ब्रह्मा होते हैं, दूसरे अंश से मरीचि आदि प्रजापति होते हैं, तीसरा अंश काल है, और चौथा सम्पूर्ण प्राणी। इस प्रकार चार तरह से वे सृष्टि में स्थित रहते हैं। शक्ति के तथा सृष्टि के इन चारों आदि कारणों के प्रतीक भगवान् विष्णु चार भुजा वाले हैं। मणि–माणिक्य विभूषित, हाथ में शंख, चक्र, कमल तथा गदाधारी भगवान् विष्णु हैं।

इस प्रकार सर्वशक्तिमान मंगलमय, शरणागतत्राता, भक्तों के रक्षक हैं। हमें जगत् में शब्दब्रह्म की सत्ता की स्वीकार करते हुए उस कौस्तुममणि श्री हरि चिन्तन करते रहना चाहिये, यही मूल सिद्धान्त वैष्णव सिद्धान्त का है। यदि जगत में शब्द ब्रह्म न रहा तो संसार अंधकारमय हो सकता ह। भगवान विष्णु ने शंख द्वारा स्पर्श कर शब्द ब्रह्म की महत्ता प्रतिष्ठित की हैं।

इस प्रकार सर्वशक्तिमान मंगलमय, शरणागतत्राता, भक्तों के रक्षक हैं। हमें जगत में शब्दब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए उस कौस्तुममणि श्री हरि का चिन्तन करते रहना चाहिये, यही मूल सिद्धान्त वैष्णव सिद्धान्तों का है। यदि जगत में शब्द ब्रह्म न रहा तो सारा संसार अंधकारमय हो सकता है। भगवान विष्णु ने शंख द्वारा स्पर्श कर शब्द ब्रह्म की महत्ता प्रतिष्ठित की है।

महाकवि दण्डी ने कहा है–

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाव्यहं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
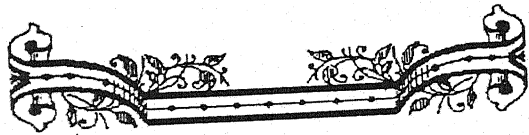
-:: सहायक ग्रन्थों की सूची ::-

१. श्रीमद्भागवत् महापुराण – गीताप्रेस गोरखपुर

२. विष्णुपुराणम् – गीताप्रेस संस्करण

३. भागवत्पुराणम् – श्रीश्रीधरीकोपेतम्

४. ऋग्वेद – सायणभाष्योपेतः (चौखम्भा प्रकाशन)

५. अथर्ववेद – सायणभाष्योपेतः (चौखम्भा प्रकाशन)

६. इशावास्योवपनिषद – शांकर भाष्य

७. ऐतरेय ब्राह्मण – पूना प्रकाशित

८. पातन्जल योगदर्शनम् – गीता प्रेस प्रकाशित

९. पद्मपुराण – श्रीधरी टीका

१०. महाभारत – गीता प्रेस

११. भारतीय दर्शन – डा० उमेश मिश्र

१२. वैष्णव धर्म – परशुराम चतुर्वेदी

१३. हिन्दू संस्कार – डा० राजबली पाण्डेय (चौखम्भा प्रकाशन)

१४. कल्याण साधनांग – गीता प्रेस

१५. विष्णुपुराण का भारत – चौखम्भा प्रकाशन

१६. मत्स्यपुराणम् – बम्बई प्रकाशन

१७. विष्णु पुराण का इतिहास – पूना प्रकाशित

१८. भारतीय दर्शन – डा० उमेश मिश्र

१९. भक्ति का विकास – डा० मुशीराम शर्मा (चौखम्भा प्रकाशन)

२०. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति – डा० जगदीश चन्द्र जैन (चौखम्भा प्रकाशन)

२१. वैदिक इन्द्रक्स – मैकडानल और कीथ (चौखम्भा प्रकाशन)

२२. श्रीमद्भागवतपुराण – हिन्दी टीका (चौखम्भा प्रकाशन)

२३. विष्णुपुराणम् – श्रीधरीटीका, वैठकेटरपरप्रेस संस्करणम्

२४. कशिकावृत्ति – श्री वामन् जयदित्य द्वारा रचित

२५. निरूक्त – यास्क

२६. छान्दोग्योपनिषद – शाडरमाष्योपेता

२७. नीतिशतकम् – भतृहरि

२८. वृहदारण्यकोपनिषद – शाडकरभाष्येपेता

२९. मनुस्मृतिः – कुल्लूकमहटीकासंहिता

३०. यजुव्रेदसंहिता – सातवलेकर द्वारा सम्पादित

३१. वायुपुराण – पूना प्रकाशित

३२. वेदान्त दर्शन – शाड़माष्यसहित

३३. वाल्मीकिरामायण – चौखम्भा प्रकाशन

३४. सांख्कारिका – ईश्वरकृष्णाविरचित

३५. सामवेद – सायणभाष्योपेतः

३६. अष्टादश पुरादर्पण – ज्वाला प्रसाद मिश्र

३७. साधनाड़ – गीता प्रेस

३८. चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा – डा० सर्वानन्द पाठक (चौखम्भा प्रकाशन)

३९. प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति –

४०. भक्ति का विकास – डा० मुंशीराम शर्मा

४१. भारतीय दर्शन – डा० उमेश मिश्र

४२. वैष्णव धर्म – परशुराम चतुर्वेदी

४३. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास – डा० राजवली पाण्डेय

४४. हिन्दु संस्कार – डा० राजवली पाण्डेय

४५. हिन्दु राजतंत्र – काशी प्रसाद (चौखम्भा प्रकाशन)

४६. प्राकृत साहित्य का इतिहास – डा० जगदीश चन्द्र जैन

47. Vaisnavism saivism – Bhandarkar R.G.

48. History at Dharma Sastra – Kane P.V.

49. Cultural History fromvaya purana – Patil D.K.R.

50. English Edition of visnu Purana Calcetta – Wilson H.N.

51. Religions at India – Wool Rev. J.